हिन्दी समिति प्रभाग-ग्रन्थमाला—२७

भारत का भाषा-सर्वेक्षण

[खण्ड १, भाग १]

लेखक
सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन
अनुवादक
डॉ० उदयनारायण तिवारी एम०ए०,डी०लिट्



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक
विश्वनाथ शर्मा
निदेशक
उ० प्र० हिन्दी संस्थान

प्रथम संस्करण : १९५९
द्वितीय संस्करण . १९६३
तृतीय संस्करण . १९७९

मूल्य बीस रुपये

मुद्रक
कैन्स एण्ड कण्टेनर्स प्रा० लि० (मुद्रण विभाग), लखनऊ

प्रकाशकीय

सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सनकृत 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' के प्रथम खण्ड के प्रथम भाग के हिन्दी रूपान्तर का यह तीसरा सस्करण पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमे अतीव सुख और सतोष का अनुभव हो रहा है।

ग्रियर्सनकृत मूल अग्रेजी ग्रन्थ का प्रकाशन १९२७ मे हुआ था। तब से यद्यपि भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध मे अनेक नवीन खोजे हुई हैं, तथापि ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण की उपादेयता आज भी अक्षुण्ण है और उसका पूर्ववत् महत्त्व बना हुआ है।

प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० उदयनारायण तिवारी द्वारा सम्पन्न किया गया है अत इसकी प्रामाणिकता असदिग्ध ही मानी जायगी।

आशा है, पूर्ववर्ती दोनो सस्करणो की ही भाँति इस तृतीय संस्करण का भी यथेष्ट समादर होगा और इसमे समाविष्ट जानकारी से हिन्दी-प्रेमी, शोधार्थी तथा अन्य जिज्ञासु पाठक अधिकाधिक लाभान्वित होगे।

विश्वनाथ शर्मा
निदेशक
उ० प्र० हिन्दी सस्थान

भारत के भाषा-सर्वेक्षण के अन्य खण्डों की सूची

खण्ड	भाग	
१	१	भूमिका
१	२	भारतीय भाषाओं की तुलनात्मक शब्द-सूची
,,	३	भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक कोष
२		मानख्मेर एव ताई परिवार
३	१	तिब्बत एव उत्तरी असम की तिब्वती-वर्मी भाषाएँ
,,	२	बोडो, नागा, एव कचिन समूह (तिब्वती-वर्मी-भाषाओं का)
,,	३	तिब्वती-वर्मी भाषाओं का कुकिचिन् एव वर्मी समूह
४		मुण्डा एव द्रविड़ भाषाएँ
५		भारोपीय भाषाएँ, पूर्वी समूह
,,	१	बँगला एव असमियाँ
,,	२	विहारी एव उडिया
६		भारोपीय भाषाएँ, मध्यसमूह (पूर्वी हिन्दी)
७		भारोपीय भाषाएँ, दक्षिणी समूह (मराठी)
८		भारोपीय भाषाएँ, उत्तर-पश्चिमी समूह
	१	सिन्धी एव लहँदा
	२	दर्दीय, पिशाच, भाषाएँ (कश्मीरी भी)
९		भारोपीय भाषाएँ (मध्य समूह)
	१	पश्चिमी हिन्दी एव पजाबी
	२	राजस्थानी एव गुजराती
	३	भीली भाषाएँ, खान्देशी इत्यादि
	४	पहाडी भाषाएँ
१०		ईरानी परिवार
११		'जिप्सी' भाषाएँ

प्राक्कथन

इस खण्ड मे मेरा उद्देश्य भारत के भाषा-सर्वेक्षण के परिणामो को, सक्षेप मे, इस रूप मे प्रस्तुत करना है ताकि ये भाषा-शास्त्र के विद्यार्थियो एव साधारण पाठको के लिए, समानरूप से, सरलतयाँ सदर्भ का काम दे सके।

इसका विवरणात्मक भाग दो हिस्सो मे विभक्त है। पहले का शीर्षक मैंने भूमिका रखा है और इसमे उन सभी पूर्व प्रयत्नो का विवरण प्रस्तुत किया है जो भारत की भाषा के अध्ययन के सम्बन्ध मे किये गये थे। इसके साथ ही वर्तमान सर्वेक्षण के लिए मैंने जिस प्रणाली का अनुगमन किया है उसका भी यहाँ उल्लेख है। इस खण्ड के कुछ विवरण अन्य खण्डो मे भी यत्र-तत्र उपलब्ध होंगे किन्तु यहाँ इन सबको एकत्र करके एक साथ रखा गया है।

दूसरे भाग मे सर्वेक्षण के परिणामो तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओ पर दृष्टिपात करने का प्रयत्न किया गया है। इसका मुख्य आधार सन् १९२१ की भारतीय जन-गणना की रिपोर्ट मे मेरे द्वारा लिखित 'भारतीय भाषाएँ' अध्याय है। इस समय आधुनिकतम सामग्री समाविष्ट करके इसे पूर्ण बनाया गया है। जनगणनावाले अध्याय को तो वास्तव मे इस खण्ड का प्रथम मसौदा मानना चाहिए। वह आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व लिखा गया था और उसमे नवीन सामग्री जोडकर उसे सुधारने की काफी जरूरत थी।

इन दो खण्डो के अतिरिक्त इस सर्वेक्षण मे दो अन्य संग्रह भी है जिनमे समस्त सर्वेक्षण के लिए वृहत्योग एव लघुयोग (Addenda Majora and minora) तथा शोधनीय सामग्री (Corrigenda) है। वृहत्योग के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण सामग्री जोडी गयी है। यह विशेष रूप से उन भाषाओ के विवरण रूप मे है जो सर्वेक्षण के विविध खण्डो के प्रेस मे चले जाने के बाद प्राप्त हुई है। केवल इस प्रकार से ही मैं सर्वेक्षण के पुराने खण्डो को पूर्ण बनाने मे समर्थ हो सका हूँ। लघु शोधनीय-योग (The Addenda et Corrigenda Mieora) के अन्तर्गत विशेष विवरण के साथ-साथ प्रेस तथा इसी प्रकार की अन्य अशुद्धियो को शुद्ध किया गया है। इनके पृष्ठ अलग-अलग छापे गये हैं ताकि इन्हे काटकर सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डों मे यथास्थान जोड़ा जा सके।

अन्त मे तीन परिशिष्ट भी जोड़े गये है। इनमे, प्रथम परिशिष्ट मे भारत की सभी भाषाओ की वर्गीकृत सूची है। इसके साथ ही सर्वेक्षण के लिए प्राप्त आँकड़ो की सन् १९२१ की जनगणना के आँकड़ो से तुलना की गयी है। दूसरे परिशिष्ट मे उन सभी भारतीय भाषाओ की सूची प्रस्तुत की गयी है जिनके ग्रामोफोन रेकार्ड इस देश मे तथा पेरिस मे उपलब्ध है। तीसरे परिशिष्ट मे उन सभी भारतीय भाषाओ के नाम है जिन्हे मैं एकत्र कर सका हूँ। मैं आशा करता हूँ कि जो लोग भारत की किसी अपरिचित भाषा का नाम जानना चाहेगे उनके लिए यह परिशिष्ट, संदर्भ रूप मे, लाभदायक सिद्ध होगा। इस परिशिष्ट मे वस्तुतः सर्वेक्षण के दूसरे खण्ड से लेकर नवें खण्ड तक के विषय समाविष्ट हैं।

इस खण्ड का एक दूसरा भाग प्रेस मे है। इसमे ३६८ भाषाओ एवं बोलियो के १६७ चुने हुए शब्दो की सूचियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि भाषा-शास्त्र के विद्यार्थियो के लिए यह अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

लदन के प्राच्य विद्या विभाग (School of Oriental Studies) के विद्वान् प्रो० टर्नर इसका तीसरा भाग भी तैयार करने मे सलग्न हैं। यह भारतीय आर्य-भाषाओ का तुलनात्मक कोष होगा जिसका भाषा-शास्त्री लोग विशेष-रूप से उपयोग कर सकेंगे। यह भविष्य मे प्रकाशित होगा और तब इस सर्वेक्षण का कार्य पूर्ण एव समाप्त होगा।

सर्वेक्षण का यह कार्य लगभग तीस वर्षो तक चलता रहा और अब कृतज्ञता की अनुभूति से मैं इस कार्य को समाप्त कर रहा हूँ। इस प्राक्कथन के बाद मेरी लेखनी विश्राम ले रही है। बिना किसी नम्रता-प्रदर्शन के मुझे यह स्वीकार करने मे संकोच नही है कि इस सर्वेक्षण की त्रुटियाँ अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा मुझे अधिक अवगत हैं। दूसरी ओर इस गर्वोक्ति के लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ कि इस सर्वेक्षण के रूप मे भारत मे जो कार्य हुआ वह ससार के किसी अन्य देश मे नही हुआ, तथ्य की बात यही है। अब इस प्राक्कथन के साथ मैं इस कार्य से विदाई लेता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि भारतीय विद्वान् इस सर्वेक्षण के गुण-दोषो पर विचार करेंगे, मेरी त्रुटियो के साथ सहानुभूति प्रकट करेंगे एवं इसकी विशेषताओ को अपनी दृष्टि मे रखेंगे।

जार्ज ए० ग्रियर्सन

अनुवादक के दो शब्द
(प्रथम संस्करण से)

आज से लगभग तीन वर्ष पूर्व, यू० पी० सरकार की हिन्दी-समिति की ओर से ग्रियर्सनकृत "भाषा-सर्वेक्षण" के प्रथम खण्ड के प्रथम भाग के अनुवाद का भार मुझे सौंपा गया था। इस कार्य को सम्पन्न करते हुए आज मैं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। भारतीय सरकार ने ग्रियर्सन के इस ग्रथ का प्रकाशन, सन् १९२७ ई० मे किया था। तब से भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध मे अनेक नयी खोजें हुई हैं किन्तु उनका ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत किये परिणामो पर बहुत कम प्रभाव पडा है। सच बात तो यह है कि भाषाशास्त्र के छात्रो एव विद्वानो के लिए ग्रियर्सन की इस कृति का आज भी उतना ही महत्त्व है जितना आज से तीस वर्ष पूर्व था। विशेषज्ञो के अतिरिक्त, सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप मे, सामान्य पाठको के लिए भी, यह कृति कम उपयोगी नही है क्योकि इसके परिशिष्ट मे भारत की समस्त भाषाओ एव बोलियो का सक्षिप्त परिचय है।

जिस समय भाषा-सर्वेक्षण का कार्य चल रहा था तथा इस खण्ड का प्रकाशन हुआ था उस समय पश्चिमी पजाब से पूर्वी बगाल तक भारत एक देश था, किन्तु बाद मे देश के विभाजन के फलस्वरूप पश्चिमी पजाब, सिन्ध तथा पूर्वी बगाल के राज्य पाकिस्तान के अधिकार मे चले गये। चूंकि भाषा की दृष्टि से भारत तथा पाकिस्तान मे कोई पार्थक्य नहीं है अतएव इस अनूदित ग्रथ मे उन भाषाओ एव बोलियो को छोडना उचित नही समझा गया जो आज पाकिस्तान मे प्रचलित हैं।

यहाँ दो शब्द अनुवाद के सम्बन्ध मे भी आवश्यक हैं। ग्रियर्सन की अग्रेजी की शैली पुरानी है। वे बडे लम्बे-लम्बे वाक्यो के प्रयोग के अभ्यस्त हैं। विषय की दुरूहता के कारण, विविध स्थानो पर, उनकी यह शैली और भी जटिल एव कठिन हो गयी है। ऐसे स्थलो पर मैंने लम्बे वाक्यो को तोडकर मूल-भाव को ही सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। बहुत सम्भव है कि इस प्रयत्न मे, कई स्थानो पर मुझसे त्रुटि हो गयी हो। विद्वान् पाठको से मेरा नम्र निवेदन है कि इस सम्बन्ध मे वे अपने सुझाव भेजने का कष्ट करें जिससे अगले सस्करण मे आवश्यक सशोधन किया जा सके।

अन्त मे मैं उत्तर प्रदेशीय सरकार की हिन्दी-समिति के अध्यक्ष डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी तथा उसके सदस्य प० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी के प्रति आभार प्रदर्शित

करना अपना कर्तव्य मानता हूँ जिनकी प्रेरणाओ एव प्रेमपूर्ण तकाजो के कारण ही मैं यह कार्य सम्पन्न कर सका हूँ। पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने मे मुझे अपने छात्र श्री अमर वहादुर सिह एम० ए०, श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय एम० ए० से विशेष सहायता मिली है। इनको मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ।

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है, ग्रियर्सनकृत 'भाषा-सर्वेक्षण' ग्यारह खण्डो तथा चौवीस भागो मे प्रकाशित हुआ है। इसके पृष्ठो की सख्या कई सहस्र है। भाषा एव बोलियो की सीमा को प्रदर्शित करने वाले इसमे अनेक मानचित्र भी हैं। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि भाषा-सम्बन्धी यह समस्त सामग्री हिन्दी मे उपलब्ध की जाय। इसके लिए योजना वनाकर कार्य करने की आवश्यकता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी-प्रेमियो एव विद्वानो का ध्यान इस ओर जायेगा और वे इसके लिए प्रयत्न भी करेंगे।

अलोपीवाग, प्रयाग

उदयनारायण तिवारी

अनुलिपि की प्रणाली

ग्रियर्सनकृत मूल 'भाषा-सर्वेक्षण' अंग्रेजी मे है अतएव इसमे भारतीय भाषाओ एव बोलियो के नमूने नागरी तथा विभिन्न प्रादेशिक लिपियो के अतिरिक्त रोमन मे भी प्रस्तुत किये गये हैं। इसके लिए लेखक को अनुलिपि की एक विशेष प्रणाली अपनानी पडी है। चूंकि नागरी ध्वन्यात्मक लिपि है अतएव भाषा-सम्बन्धी नमूनो को इसमे लिखने मे कोई कठिनाई नही हुई है। फिर भी कुछ बातो की ओर ध्यान देना आवश्यक है। बात यह है कि उडिया तथा नेपाली को छोडकर, प्राय' सभी भारतीय आर्य भाषाओ के व्यञ्जन से अन्त होने वाले शब्दो से अन्तिम स्वर का लोप हो गया है किन्तु लिखने की प्रणाली अभी पुरानी ही है। उदाहरणस्वरूप हिन्दी के 'चावल', 'दाल' शब्दो मे 'ल' स्वरहीन हैं किन्तु ये लिखे स्वरयुक्त ही जाते हैं। इसी प्रकार हिन्दी ह्रस्व 'ए' तथा 'ओ' के लिखने के लिए तथा स्वराघात प्रदर्शित करने के लिए भी कोई चिह्न नही हैं। इधर भाषा-विज्ञान की पुस्तको मे, हिन्दी मे इनके लिए नवीन चिह्नो का प्रयोग किया गया है। सुविधा की दृष्टि से इस पुस्तक मे भी यही चिह्न अपनाये गये हैं।

विषय-सूची

भूमिका

भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध मे पहले की खोजें १

अलबरुनी १, अमीर-खुसरो १, अबुल-फज़ल ३, टेरी ४, फ्रेयर ५, पेट्रो डेला वैले ५, हेनेरिक-राथ ६, ओगिल्वी का एशिया ६, अद्रियस-मूलर ८, चेम्बरलेन का सीलोज ९, फिट्ज का स्प्राखमेस्टर १०, लाक्रोज ११, बायर १३, सेन्टपीटर्सबर्ग अकादमी १३, मेसर्स शिमिट् १४, शुल्ट्ज १६, बेलिगत्ती १८, अमाडुटियस १८, एबेल का सिम्फोना १९, पालिनस बर्थोलोमियो १९

अध्ययन का परिणाम २०

सर विलियम जोन्स २१, बॉप २२, कैरे तथा आधुनिक भाषाएँ २३, कैरे का भाषा-सर्वेक्षण २५, बुकनन, लीडेन तथा एन० ब्राउन २६, बी० एच० हाग्सन २७, हटर २८, मैक्समूलर-मुडा भाषाएँ २९, काल्डवेल एवं द्रविड भाषाएँ २९, लोगन-हिन्द-चीनी भाषाएँ २९, फारबेस तथा कुन २९, डब्ल्यू० शिमिट—आस्ट्रिक एव आस्ट्रो एशियाटिक ३०, भारतीय-आर्य भाषाएँ ३०, आर० लीच ३०, सर एरस्किन पेरी ३१, स्टेवेन्सन ३२, जे० बीम्स ३२, सर जार्ज कैम्बेल ३३, रूसियो द्वारा अनुसन्धान कार्य ३४, कस्ट ३४, सन् १८८६ की वियेना कांग्रेस ३४

भारत का भाषा-सर्वेक्षण ३५

सर्वेक्षण का आधार ३५

भाषाओं की प्रारम्भिक सूची ३७

सूचियो का सकलन ३७

भाषा का स्थानीय नामकरण ३८

नमूनो का सग्रह ३९

नमूनो का सम्पादन ४१

तथ्यो का सग्रह है, सिद्धान्तो का नही ४३

भाषा और बोली ४५

सर्वेक्षण का सामान्य परिणाम

अध्याय १

पूर्वकथन

सर्वेक्षण का आधार, १८९१ की जनगणना ४९

सर्वेक्षण के आंकड़े ५०

भाषाओ एव बोलियो की सख्या ५१

तिब्बती वर्मी-भाषाएँ ५३
भारत-यूरोपीय वोलियाँ ५३
वशानुक्रम से वोलने वालो की सख्या ५४
भाषा विज्ञान तथा नृ-विज्ञान ५५
कवीली वोलियाँ ५७
जिप्सी भाषाएँ ५८
स्थानान्तरण का वोली पर प्रभाव ५८
भाषा-सीमाए ५९
वे क्षेत्र जहाँ आगे के वक्तव्य लागू होते हैं ६०

अध्याय २

आस्ट्रिक परिवार ६२—७५
आस्ट्रोनेशियन सलोन ६३
आस्ट्रो-एशियाटिक ६४
खासी ६४
मुण्डा भाषाएँ ६७
वर्तमान क्षेत्र से वाहर मुण्डा भाषाओ के अवशेष ६८
मुण्डा-नामकरण ७०
मुण्डा भाषाओ के सामान्य लक्षण ७१
मुण्डा भाषाओ मे योगात्मकता ७२
मुण्डा भाषाओ के नाम ७४

अध्याय ३

करेन तथा मन ७६—७८
करेन परिवार ७६
मन परिवार ७७

अध्याय ४

तिव्वती चीनी परिवार ७९—९६
तिव्वती चीनी भाषाओ का वर्गीकरण ७९
वर्गीकरण सम्वन्वी सिद्धान्त ८०, मूल-स्थान ८१, दो उप-परिवार ८२, तिव्वती वर्मी—दो मुख्य शाखाएँ ८३, तिव्वती-हिमालय शाखा ८३, असम-वर्मी शाखा ८३, स्यामी-चीनी ८५, हिन्द-चीनी भाषाओ के इतिहास का साराश ८७, तिव्वती-चीनी भाषाओ की सामान्य विशेषताएँ ८८, अयोगात्मक भाषाएँ ८८, योगात्मक भाषाएँ ८९, विभक्ति प्रधान भाषाएँ ८९, भावात्मक तथा मूर्त विचारो की अभिव्यक्ति ८९, सुर ९२, कण्ठद्वारीय अवरोव तथा अवरुद्ध व्यजन ९४, पदक्रम ९५।

अध्याय ५

स्यामी चीनी उपपरिवार ९७—१०१
ताई वर्ग ९८
लाओ ९९, लू तथा खुन ९९, शान ९९, आहोम ९९, खाम्टी १०१, एतोन शान १०१।

अध्याय ६

तिब्वती-वर्मी उपपरिवार १०२—१५९
तिब्वती-वर्मी उपपरिवार की शाखाएँ १०२
तीनो शाखाओ का पारस्परिक सम्वन्ध १०३
तिब्वती-हिमालय शाखा १०४

तिब्बती वर्ग १०५, ल्होके, डा-जोग का, शरपा एव कागते, लादखी, बाल्ती १०६ पुरिक १०७
हिमालयवर्ती बोलियाँ १०७
असर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएँ १०९
गुरुग, मुर्मि, सुनूवार, मँगरी, नेवारी, रोन्ग या लेप्चा १०९
सर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएँ १११
पूर्वी सर्वनामीय समूह ११२
पश्चिमी सर्वनामीय समूह ११४
उत्तरी असमिया शाखा ११५, अक ११६, डफ्ला, अबोर-मिरि ११७, मिश्मी ११७, चुलिकता, दिगारु, मीजू ११८
उत्तरी असम शाखा के सम्बन्ध मे सामान्य विचार ११८
असम-बर्मी शाखा ११९
बोडो समूह १२०, कोच भाषा १२१, कचारी बड या बोड़ो १२२, लालुग, दीमा-सा १२२, होजै १२४, चुटिया १२४, गारो, राभा १२५, टिपुरा, मोरान् १२६, नागा समह १२६
नागा-बोडो उप समूह १२८
एम्पेओ १२८, कबुइ, खोइराओ १२९
पश्चिमी उपसमूह १२९
अन्गामी १२९, केझामा, सेमा, रेन्गमा, १३०
मध्यनागा उपसमूह १३१
आओ, ल्होता, तेन्गस, थुकुमि, यचुमि १३२
पूर्वी नागा भाषाओ की विशेषता १२४
अनुग्वान्कु, चिन्ग्मेग्नु, चाग १३४, बनपरा तथा मुतोनिआ, नमूसन्गिया, मोसान्ग, शान्गे १३५
नागा-कुकि उपसमूह १३५
मिकिर १३६, सोप्वोमा, मराम्, मियाग् खाग्, क्वोइरेंग् १३७, तांगखुल, कडान्ग, खन्गोइ, मरिन्ग् १३८
कचिन समूह १३९
कुकि-चिन उपसमूह १४१
मेइथेइ १४२
चिन्-भाषाएँ १४३
प्राचीन कुकि उपसमूह १४४
हांग खोल, हल्लाम, लोग्रोग १४५, मनीपुरी भाषाएँ, ह्मार, चव् १४५
उत्तरी चिन् उपसमूह १४६
थाडो, सोक्ते, सियिन, राल्ते, पैंते १४७
मध्य चिन् उपसमूह १४७
शुन्कल, लै, लखेर, लुशेइ, १४८ बनूजोगी; पाखू १४९
दक्षिणी चिन् उपसमूह १४९
ख्यग १५०, खमि १५०
चिन्मे आदि लोगो की भाषाएँ १५१
कुकिचिन् भाषाओ की सामान्य विशेषताएँ १५१
सक् (लुइ) समूह १५२
अन्द्रो तथा सेंगमै, चैरेल, कडु, गनन्, सक् १५३, डेगनेत् १५४

वर्मी समूह १५४
त्सिज, लशि, मरु १५५, मैगुय, फुन्, म्रू, वर्मी १५६, अराकानी, तौन्यां, दनु, इन्थ, तवोयन, चौथ, यन्वे १५७
लोलो मोसो समूह १५८
लोलो, अ-हि, अ-क, अ-की, लिसु, लिस् अव, मो-सो, ल्हु, क्वि १५९

अध्याय ७

द्रविड परिवार १६०-१८३

द्रविड जाति १६०
अन्य भाषाओ से सम्बन्ध १६१
स्थान १६२
द्रविड भाषाओ का पारस्परिक सम्बन्ध १६३
द्रविड भाषाओ की सामान्य विशेषताएँ १६५
तमिल १६६
लिपि, साहित्य १६८
मलयाळम १६९
कन्नड़ १७०
लिपि १७१
कन्नड साहित्य १७१, बोलियाँ १७२, कोडगु, वेल्लर, तोडा, कोट १७३, मध्यवर्ती समूह १७४, गोन्डी १७४, ओझी १७५, कोलामी १७६, वासिम की बोली १७६, नैकी, कन्धी १७७, कुरुख, वेर्ग-ओराओ १७८, होरो-लिआ झगर, मल्हर, माल्तो १७९,
आन्ध्रभाषा, तेलुगु १७९
साहित्य १८०, कोमटाड्, माले-गारी, गोलरी, वेरडी १८१, वडारी, कानार्थी, दामरी, लवाडी तथा मरिआ, ब्राहुई १८२

अध्याय ८

भारोपीय परिवार

आर्यशाखा १८४-१९७

मूलस्थान १८४
कतम (केण्टुम्) तथा शतम् (सतेम) भाषा-भाषी १८५
आर्य शब्द का अर्थ १८६
आर्यों का सचरण १८७
मडा समह १८८
मडा लोगो के उद्गम के सम्बन्ध मे अन्य सिद्धान्त १९०
एशियाई उद्गम सम्बन्धी सिद्धान्त १९१
साइबेरीय उद्गम सम्बन्धी सिद्धान्त १९२
मडा प्रदेश से आर्यों का प्रसार १९३
भारतीय आर्य तथा ईरानी १९४
दर्दीय १९५, गल्च. १९६,

अध्याय ९

ईरानी शाखा १९८-२०९

ईरानी भाषा की सीमाएँ १९८
पर्सिक और मिडियायी भाषाएँ १९८
पर्सिक पुरानी फारसी १९९
मध्य फारसी २००
मिडीय भाषा २०१
अफगानी बलूची उपशाखा २०१

वश्लोची २०२, ओरमुड़ी २०४, पश्तो २०५
गल्च उपशाखा,
वखी, शिगनी, इश्काश्मी, मुजानी २०८

अध्याय १०

दर्दीद अथवा पिशाच शाखा २१०-२२२
निष्क्रमण मार्ग २१०
नामकरण २११
दर्दिस्तान २१२
काफिर वर्ग २१४
पशई, कलाशा, वशगली २१४, वाई, वर्मि-वेगि, अशकुन्द २१५, कलाशा, गवर-वति, दीरी, पशई २१७, तिराही २१७
खोवार २१८
दर्दवर्ग २१८
शिणा २१८
कश्मीरी
बोलियाँ २२०
कोहिस्तानी, मैयाँ गार्वी, लोर्वाली २२२

अध्याय ११

भारतीय आर्यशाखा—भूमिका २२३-३६
क्रमागत-निष्क्रमण २२३
प्राचीनतम लेख, २२४
प्राचीन बोलियो के साक्ष्य २२४
पूर्वापर देशान्तर गमन का सिद्धान्त २२५
मध्यदेश २२९
भीतरी तथा बाहरी उपशाखाएँ २२९
दोनों के ध्वनि तत्वों की तुलना २३०
संज्ञा के रूप २३१
क्रिया के रूप २३१
भीतरी उपशाखा की भाषाओ की भौगोलिक स्थिति २३३
आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ का अन्तिम वर्गीकरण २३४

अध्याय १२

भार० आर्यभाषाओ का विकास २३७-६१
आधुनिक भाषाओ का विकास २३७
प्रथम प्राकृत २३७
द्वितीय प्राकृत २३८
तृतीय प्राकृत २३८
प्रत्येक अवस्था के मध्य की विभाजक सीमारेखा २३८
तीनो प्राकृतो की विशेषताएँ २३९
द्वितीय प्राकृत को विभाषाएँ २४०
पालि २४०
प्राकृतो का सर्वोत्कृष्ट रूप २४०
साहित्यिक प्राकृते २४०
पश्चिमी तथा पूर्वी प्राकृते २४१
अपभ्रंश २४२
साहित्यिक अपभ्रंश २४३
अपभ्रंश तथा तृतीय प्राकृत का काल-निर्णय २४५
अपभ्रंश की विभाषाएँ २४५
लौकिक संस्कृत २४९
तत्सम तथा तद्भव २५०

देश्य २५०
आधुनिक भाषाओ मे तत्सम तथा तद्भव शब्द २५१
आधुनिक भाषाओ पर लौकिक सस्कृत का प्रभाव २५२
द्रविड़ भाषाओ का प्रभाव २५५
मुण्डा भाषाओ का प्रभाव २५७
भारत-चीनी भाषाओ का प्रभाव २५९
अभारतीय भाषाओं का प्रभाव २६०

अध्याय १३

भारतीय आर्य-भाषाएँ—बाहरी उपशाखा २६२-३०८
पश्चिमोत्तर समुदाय २६२
लहँदा २६७
लहँदा की विभाषाएँ २६७
मुल्तानी हिन्द्की २६८, बहावलपुरी २६८, सिराइकी हिन्दकी २६८, थली २६९, सेत्रानी और जाफिरी २६९, हिन्द्को २६९, पोठवारी २६९, चिभाली, पुछी २७०
लहँदा तथा पजावी की तुलना २७०
साहित्य तथा लिपि २७०
सिन्धी २७१
विभाषाएँ २७१
विचोली, सिराइकी, लासी, लाडी, थरेली, कच्छी २७२
साहित्य तथा लिपि २७३
सिन्धी का इतिहास २७३
भूतकालिक कृदन्त का ल् प्रत्यय २७४
कच्छी, गुजराती २७७
दक्षिणी भाषाएँ—मराठी २७७
मराठी मे बलात्मक स्वराघात २७८
मराठी शब्द-समूह २७९
मराठी साहित्य २८०
मराठी की बोलियाँ २८०
परिनिष्ठित कोकणी २८०, बांकोटी, सगमेश्वरी, परभी, कुणबी, कोळी २८१, बरारी बोली, नागपुरी २८२, हलबी २८३, कोकणी, सिहली २८४, माहल २८५
पूर्वी समुदाय २८५
उड़िया २८६
भाषा का नामकरण २८७
भाषागत सीमाएँ २८७
बोलियाँ २८७
भत्री २८७
लिपि २८८
बगला से सम्बन्ध २८८
अन्य भाषाओ का प्रभाव २९०
उड़िया साहित्य २९०
बिहारी २९०
भाषागत सीमाएँ २९१
बोलियाँ २९२
मैथिली, मगही, भोजपुरी २९३, नागपुरिया, मधेसी, सरवरिया, थरुई, पूर्वी २९४
तीनो बोलियो मे पारस्परिक सम्बन्ध २९४
जातीय अन्तर २९६

लिपि २९७
बगला २९८
बोलियाँ २९९
पश्चिमी बगला, टूटी-फूटी बोलियाँ, पूर्वी बगला ३००, राज बगशी, हैजोन्ग, चाक्मा ३०२
बगला उच्चारण ३०२
साहित्य ३०४
लिपि ३०५
असमिया ३०५
मयान्ग, झरवा ३०५
असमिया तथा बगला की तुलना ३०६
साहित्य ३०७
लिपि ३०८

अध्याय १४

भारतीय आर्य-भाषाएँ मध्य उपशाखा ३०९-३१५
पूर्वी हिन्दी ३०९
विभाषाएँ ३१०
अवधी तथा बघेली ३१०
छत्तीसगढी ३१०
प्रमुख क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य स्थानो की भाषा ३११
देशान्तर-स्थित अवधी भाषा ३११
भाषागत सीमाएँ ३११
बाहरी तथा भीतरी उपशाखा की भाषाओ मे पूर्वी हिन्दी का स्थान ३१२
अवधी साहित्य ३१२
मलिकमुहम्मद ३१२, तुलसीदास ३१३
बघेली साहित्य ३१५

अध्याय १५

भारतीय आर्य-भाषाएँ. भीतरी उपशाखा ३१६-३६२
केन्द्रीय समुदाय ३१६
पश्चिमी हिन्दी ३१७
ब्रजभाखा ३१८, कनौजी ३१९, बुन्देली बान्गरू ३२०, हिन्दुस्तानी ३२०, स्थानीय बोलियो के रूप मे ३२१, साहित्यिक तथा अन्तरप्रान्तीय भाषा के रूप मे ३२१
उर्दू ३२२
रेख्ता तथा रेख्ती ३२४, दखिनी ३२४
हिन्दी ३२५
हिन्दोस्तानी, उर्दू और हिन्दी ३२७
साहित्य ३२८
पजाबी ३२९
प्राचीन पजाब ३३०, बोलियाँ ३३१, डोगरी ३३२, टक्करी लिपि ३३२, साहित्य, गुरुग्रन्थ साहब ३३२, बृहत्तर पजाबी, सामान्य विशेषताएँ ३३३
राजस्थानी तथा गुजराती ३३३,
राजस्थानी ३३४, विभाषाएँ, मारवाडी ३३६, थळी, मेवाडी, बीकानेरी, बागडी ३१७, मध्यपूर्वी, जैपुरी, अहीरवाटी, हाडौती, पूर्वोत्तरी, मेवाती, अहीरवाटी, मालवी ३३७, नीमाडी, लभानी, ककेरी ३३८, बहुरुपिआ ३३८
गूजरी ३३८
राजस्थानी साहित्य ३३९
भाषागत विशेषताएँ ३४०

लिपि ३४४
राजस्थानी भारत के अन्य भागों में ३४४
गुजराती ३४४
क्षेत्र ३४४
भाषा का इतिहास ३४७, साहित्य ३४८, लिपि ३४९
भीली तथा खान्देशी ३४९
सियाल्-गिरी, बाओरी ३५१
पहाड़ी भाषाएँ ३५१
सपादलक्ष ३५२
गुर्जर ३५३
पूर्वी पहाड़ी या नैपाली ३५५
विभाषाएँ, लिपि ३५६
मध्यवर्ती पहाड़ी ३५६
कुमायुनी,
गढ़वाली ३५७
पश्चिमी पहाड़ी, बोलियाँ ३५७, जौनसारी, सिरमौरी, बघाटी, ३५८ क्योंठाली, सतलजवर्ग, कुलुई, मण्डीवर्ग, सुकेती चमेआली, गादी ३५९, पग्वाली भद्रवाही, भलेसी तथा पाडरी, लिपि ३६०
हिमालय की भाषाएँ तथा राजस्थानी ३६०

अध्याय १६

अवर्गीकृत भाषाएँ ३६३–३७८
शुद्ध जिप्सी बोलियाँ ३६४
पिंडारी, भाम्टी ३६५, बेलदारी, ओडकी, लाडी ३६६, मछरिया ३६७
गुप्त जिप्सी बोलियाँ ३६७
चुहड़ो की बोली ३६९, साँसी ३७० कोल्हाटी, गारोड़ी, ३७१ म्यानूवाले कजरी नटी, ३७२, डोम ३७३, मलार, कसाई, सिकलगारी, ३७४ गुल्गुलिया ३७५
बुरुशास्की ३७५
अन्दमानीय ३७७

अध्याय १७

उपसंहार ३७९
आधुनिक भारतीय भाषाएँ ३७९
सर्वेक्षण की त्रुटियाँ ३८०
ध्वनि सम्बन्धी अभाव ३८१
ग्रामोफोन रिकार्ड ३८३
व्यक्ति-वाचक नामों का अक्षर-विन्यास ३८५
स्थानवाचक नाम ३८५
निष्कर्षो की यथार्थता ३८६
उपसंहार ३८८
कृतज्ञता-प्रकाश ३८९

(नोट—सूची तथा परिशिष्ट इस खण्ड के दूसरे भाग में प्रकाशित होंगे)

चित्रों, मानचित्रों आदि की सूची

चित्र	पृष्ठ
१. तिब्बती लिपि	१४
२ मचूलिपि	१५
३ सर्वेक्षण का सीमासम्बन्धी मानचित्र	४९
४. आस्ट्रिक परिवार की भाषाएँ	६३
५ सर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएँ	६८
६ स्यामी चीनी भाषाएँ	९७
७ तिब्बती बर्मी भाषाएँ	१०२
८ तिब्बती बर्मी भाषाओ का सबध-वृक्ष	१०४
९ द्रविड भाषाएँ	१६१
१० द्रविड़ भाषाओ का सम्बन्ध-वृक्ष	१६३
११ पूर्वी यूरोप एव पश्चिमी एशिया	१८८
१२. भारतीय आर्यभाषा, पूर्वी ईरानी भाषा	१९६
१३ दर्दीय भाषाएँ	२०६
१४ भारतीय आर्यभाषाएँ	२३४
१५. कृदन्त 'ल' प्रत्ययान्त भाषाओ का क्षेत्र	२७६
१६. मराठी में बलात्मक स्वराघात	२७८
१७. मध्य पहाडी, पश्चिमी पहाडी और लहँदा आदि भाषाएँ	३६१

भूमिका

भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध मे पहले की खोजें

अलबरूनी

आदि काल से ही भारतवर्ष की भाषाएँ उनके बोलनेवालो के लिए अनुराग की वस्तु रही है, किन्तु विदेशियो के लिए उनका गम्भीर अध्ययन तीन सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। यहाँ तक कि सुप्रसिद्ध विद्वान् अलबरूनी ने अपने तत्कालीन भारत (लगभग १०३० ईसवी) सम्बन्धी विवरण मे केवल संस्कृत तथा उसकी कठिनाइयो का उल्लेख किया है। उस समय तक संस्कृत मृत भाषा हो चुकी थी। सजीव भाषाओं के सम्बन्ध मे लिखते हुए उसने केवल इतना ही कहा है[1] "इसके अतिरिक्त भाषा का एक उपेक्षित एव बोलचाल का रूप उपलब्ध हे जिसका जन-साधारण मे प्रचलन है, दूसरा श्रेष्ठ तथा संस्कृत रूप है जिसका प्रयोग उच्च तथा सुशिक्षित वर्ग के लोग करते है। इस दूसरी भाषा का ही अधिक अध्ययन-अध्यापन होता है।"

अमीर खुसरो

अमीर खुसरो परम्परागत तुर्क थे लेकिन वे भारत मे पैदा हुए थे। उनका समय सन् १३१७ ईसवी के आसपास है। इस सम्बन्ध मे उन्होंने अधिक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।[2] वे लिखते है—"चूकि मैं भारत मे पैदा हुआ हूँ अत मैं यहाँ की भाषा के सम्बन्ध मे कुछ कहना चाहता हूँ। इस समय, यहाँ प्रत्येक प्रदेश मे, ऐसी विचित्र एव स्वतत्र भाषाएँ प्रचलित है जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध नही है। ये है —हिंदी (सिन्धी), लाहौरी (पजाबी), कश्मीरी—डूगरो (जम्मू के डोगरो) की

१. सचाऊ कृत अनुवाद १, १८
२. इलियट 'भारत का इतिहास' ३, ५६२

भाषा, धूर समुन्दर (मैसूर की कन्नड भाषा), तिलंग (तेलुगु), गुजरात, मलावार (कारो-मण्डल समुद्र तट की तमिल), गौड (उत्तरी बंगला), बंगाल अवध (पूर्वी-हिन्दी), दिल्ली तथा उसके आस-पास की भाषा (पश्चिमी हिन्दी)। ये सभी हिन्दी की भाषाएँ हैं जो प्राचीन काल से ही जीवन के सामान्य कार्यों के लिए, हर प्रकार मे, व्यवहृत होती आ रही हैं।"

एक अन्य स्थान पर हिन्दी की चर्चा करते हुए अमीर खुसरो लिखते हैं'— "यह हिन्द की भाषा है।" ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ हिन्दी मे, वास्तव मे, खुसरो का सस्कृत से तात्पर्य है, न कि उस भाषा से जिसे आज हम इस नाम से अभिहित करते है। आगे इसी सम्बन्ध मे वे लिखते हैं—

"यदि तथ्य को ध्यान मे रखकर गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी, पारसी (फारसी) से निम्न कोटि की नही है। यह अरबी की अपेक्षा, जिसका सभी भाषाओं मे प्रमुख स्थान है, निम्नकोटि की है। भाषा के रूप मे अरबी का एक पृथक् स्थान है और कोई भी अन्य भाषा इसके साथ सम्मिलित नही की जा सकती। शब्द-भडार की दृष्टि से पारसी अपूर्ण भाषा है और बिना अरबी की छौंक (बघार) के यह रुचिकर प्रतीत नही हो सकती। चूंकि अरबी विशुद्ध तथा पारसी मिश्रित भाषा है अत यह कहा जा सकता है कि एक आत्मा है तो दूसरा शरीर। अरबी मे कुछ भी सम्मिलित नही किया जा सकता किन्तु फारसी मे सब प्रकार का सम्मिश्रण सभव है। यमन के बेश-कीमती पत्थर (कार्नीलियन) को दारी के मोती के समकक्ष रखना उचित नही है।

"हिन्द की भाषा अरबी के समान है क्योकि इसमे भी किसी प्रकार का मिश्रण नही किया जा सकता। यदि अरबी मे व्याकरण तथा वाक्य-विन्यास है तो हिन्दी मे भी उसमे एक अक्षर कम नही है। यदि यह प्रश्न करे कि हिन्दी मे भी क्या अलकार-शास्त्र तथा विचार-प्रकाशन के अन्य विज्ञान हैं तो इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध मे भी वह किसी तरह न्यून नही है। जिस किसी व्यक्ति ने इन तीनो भाषाओ को अधिकृत कर लिया है वह यह कह सकता है कि मैं इस सम्बन्ध मे कुछ भी गलत तथा अतिशयोक्तिपूर्ण बात नही कर रहा हूँ।"

१. इलियट, वही पृष्ठ ५५६

यहाँ अलबरूनी ने जो कुछ कहा है उससे हमे कही अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है। उसने ऐसा लिखा है मानो बोलचाल की भाषा के रूप मे सम्पूर्ण भारत मे एक ही भाषा प्रचलित थी, यद्यपि नि सन्देह उसकी जानकारी अच्छी थी। दूसरी बात यह है कि उसने दो बोलियो के साथ सात भारतीय आर्य भाषाओ एव तीन प्रमुख द्रविड भाषाओ की पूरी सूची प्रस्तुत की है।

अबुल फजल

यद्यपि अबुल फजल विदेशी नही था, फिर भी इसी विषय के सम्बन्ध मे उसने "आइने अकबरी"[1] मे जो कुछ लिखा है उसे मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। भारत मे पैदा होने के बावजूद उसने इस विषय मे हिन्दू दृष्टिकोण से विचार नही किया है—

"हिन्दुस्तान के विस्तृत भू-भाग मे अनेक बोलियाँ बोली जाती है। इनमे पर्याप्त अन्तर है तथा ये परस्पर बोधगम्य भी नही है। भाषा के वे रूप जो बोधगम्यता की दृष्टि मे एक दूसरे से पृथक् हैं, इस प्रकार हैं—दिल्ली की बोली (पश्चिमी हिन्दी), बगाल (बँगला), मुल्तान (लहँदा), मारवाड (पश्चिमी राजस्थानी), गुजरात (गुजराती), तेलगाना (तेलुगु), मरहट्टा (मराठी), कर्नाटिक (कन्नड), सिन्द (सिन्धी), शाल का अफगान (पश्तो), बलूचिस्तान (बलूची) तथा कश्मीर (कश्मीरी)।"

यद्यपि इसमे कतिपय प्रमुख नामो यथा तमिल का उल्लेख नही किया गया है, फिर भी इस स्थान पर एक प्रकार से पूरी सूची उपलब्ध है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि यह केवल सूची मात्र ही है और इसमे कुछ अधिक बातो का जिक्र नही है। मुझे यहाँ की भाषाओ के सम्बन्ध मे किसी भी प्राच्य लेखक द्वारा लिखित, समस्त अथवा पृथक् रूप से, कोई भी अन्य विवरण उपलब्ध नही हुआ।[2]

१. जारेट कृत अनुवाद, ३, पृ० ११९

२. भारतीय भाषाओ के सम्बन्ध में यूरोपीय विवरणों की ओर ध्यान देने से पूर्व, अफगानो में प्रचलित एक अन्य और सबसे पहले के भाषा सर्वेक्षण के सम्बन्ध मे एक मनोरंजक गल्प उद्धृत किया जाता है। अफगानो की पश्तो भाषा कर्ण-कटु कही गयी है। ऐसा कहा जाता है कि राजा सोलोमन ने एक बार अपने वजीर आसफ को संसार भर मे बोली जानेवाली भाषाओ के नमूने इकट्ठा करने को भेजा।

टेरी

जहाँ तक मुझे जानकारी है आधुनिक भारतीय भाषाओ के विषय मे जो सबसे प्रारम्भिक विवरण यूरोप मे मिलता है वह एडवर्ड टेरी द्वारा लिखित पूर्वी द्वीप-समह की यात्रा (वाएज टु द ईस्ट इडीज) नामक पुस्तक मे उपलब्ध है। यह पुस्तक सन् १६५५ ईसवी मे प्रकाशित हुई थी। इसमे यह बतलाया गया है' कि 'हिन्दुस्तान देश की ग्राम्य (बोलचाल की) भाषा का फारसी तथा अरबी से अधिक साम्य है किन्तु उच्चारण मे यह अधिक सरल तथा प्रिय प्रतीत होती है। यह एक ऐसी भाषा है जिसमे प्रवाह है तथा थोडे शब्दो मे इसमे अनेक बातो को प्रकट करने की शक्ति है। हमारी ही तरह बायी से दाहिनी ओर लिखते तथा पढते हैं। उन दिनो के कतिपय अग्रेज व्यापारी निश्चित रूप से प्रवाह के साथ हिन्दोस्तानी बोल सकते

वजीर अपना कार्य पूरा करके लौटा। भरे दरबार मे प्रत्येक भाषा के वाक्यो का अनुवाचन करते हुए वह पश्तो पर पहुँचा। वह थोडी देर के लिए रुका और एक बर्तन मे ककड रखके उसको हिलाया और फिर बोला कि इससे जो ध्वनि निकलती है वह अफगानी (पश्तो) के अतिनिकट की है। यह स्पष्ट है कि सर्वबुद्धि सम्पन्न सोलोमन भी भविष्य मे डैनियल जान्स द्वारा आविष्कृत अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद की प्रणाली का अनुमान न कर सका।

१ आगिल्बी के 'एशिया' से उद्धृत, नीचे देखो। जो कुछ यहाँ कहा गया है वह सर्वेक्षण के अन्य खण्डो और मेरी अन्य कृतियो मे भी मिलेगा। विभिन्न वाक्यो को यहाँ एक सामान्य विचार के रूप मे रखा गया है।

२ कई पीढियो पूर्व से हिन्दुस्तानी की इसी रूप मे बहुत प्रशसा है, किन्तु वास्तव मे यह इस प्रशसा की पात्र नहीं। इस सम्बन्ध मे कलकत्ता हाई-कोर्ट के प्रथम अग्रेज जज की एक कहानी प्रसिद्ध है। मृत्यु दण्ड देते समय उसने अग्रेजी मे उसके अपराध की गुरुता के विषय मे, अपराधी के पिता के दु ख के सम्बन्ध मे तथा यदि वह अपने किये पर पश्चात्ताप नही करता तो दूसरे ससार मे उसकी क्या गति होगी, इस सम्बन्ध मे कहा। किन्तु इसका हिन्दी मे केवल छ शब्दो मे ही अनुवाद इस प्रकार हुआ 'जाओ', बदजात, फाँसी का हुक्म हुआ।' इसे सुनकर इस अग्रेज जज ने इस भारतीय भाषा की विचित्र सक्षिप्तता की बडी प्रशंसा की।

थे।[1] मुगल दरबार मे जिस समय सर टामस रो ने टाम कोरियट को उपस्थित किया था, उस समय कोरियट ने शाहशाह को फारसी मे सम्बोधित किया था।

फ्रेयर

इसी प्रकार फ्रेयर[2] (सन् १६७३ ई०) अपने पूर्वी भारत तथा फारस के नये विवरण (न्यू एकाउण्ट आव ईस्ट इण्डिया एण्ड पर्शिया) मे लिखते है—"यहाँ अदालत की भाषा फारसी है किन्तु सामान्य भाषा इन्दोस्तान (हिन्दुस्तानी) है। (इसे लिखने के लिए कोई विशेष लिपि नही है किन्तु लिखित भाषा 'बनिया' कहलाती है) यह भारत की अन्य बोलियों की भाँति फारसी तथा स्लाव का सम्मिश्रण है।"

पिट्रो डिला वैले

टेरी तथा फ्रेयर से पूर्व, उत्तर-भारत की प्रमुख लिपि, नागरी के भी उल्लेख मिलते हैं। प्रसिद्ध यात्री पिट्रो डिला वैले[3] (सन् १६२३ ई०) ने इसे "एक प्राचीन लिपि" की सज्ञा दी है जो विद्वानो को ज्ञात थी और जिसका प्रयोग ब्राह्मण लोग किया करते थे। अन्य ग्राम्य लिपियो से इसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए वे इसे 'नागरी' कहा करते थे।

१ "हाब्सन-जाब्सन"–देखो हिन्दुस्तानी—यहां टाम-कोरियट के सम्बन्ध मे निम्नलिखित कहानी दी गयी है। यह कहानी 'टेरी' के विवरण से ली गयी है। घटना की तिथि १६१६ ई० है—"इसके पश्चात् उन्होने (श्री टाम कोरियट ने) इन्दोस्तान अथवा गँवारी भाषा मे पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली। श्री राजदूत महोदय (श्री कोरियट) के निवासगृह मे एक ऐसी स्वतंत्र भाषिणी महिला थी, जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक डाँट डपट और हो हल्ला किया करती थी। एक दिन उन्होने (श्री राजदूत महोदय ने) उसे उसी की भाषा मे डाँटा और आठ बजते-बजते उसकी ऐसी गति बना दी कि वह एक शब्द भी न बोल सकी।"

२. इसके लिए भी "हाब्सन-जाब्सन"—५०, सी०।

३. विअगि, ३, ५७, यह उद्धरण डलगैडो कृत 'ग्लासेरिओ लुसो एशियाटिको' से लिया गया है, यहाँ देखो 'देवनागरिको'।

हेनरिक राथ

फिर, फादर (वडे पादरी) हेनरिक राथ जो आगरा के 'जेसुइट कालेज' के सन् १६५३ से लेकर १६६८ तक सदस्य भी रह चुके थे, सन् १६६४ ई० मे, रोम मे, अथनाशियस किर्चर से मिले थे। उन्होने वहाँ उसी लिपि के अनेक नमने किर्चर को दिये थे, जो वाद मे, सन् १६६७ ईसवी मे, उनके "चाइना इलस्ट्राटा" मे प्रकाशित हुए थे। इनमे मे एक लैटिन मे लिखित ईश्वर की प्रार्थना का नागरी लिप्यन्तर था। हम आगे देखेंगे कि अनेक वर्षो तक लोग इसे वास्तविक सस्कृत का नमूना समझते रहे।

ओगिल्वी का 'एशिया'

अव हम ओगिल्वी के 'एशिया' पर दृष्टिपात करते है। इसका पूरा शीर्षक 'एशिया' प्रथम भाग है और इसके साथ यह विवरण दिया हुआ है—

"इसमे फारस तथा उसके कई प्रदेशो का यथातथ्य वर्णन है, इसमे महान् मुगल के विस्तृत साम्राज्य, भारत के अन्य कई भागो, राज्यो, क्षेत्रो एव उनके नगरो, कसवो तथा महत्त्वपूर्ण स्थानो के नाम एव वर्णन भी है। इसमे यहाँ के निवासियो की विभिन्न रीतियो, आचरणो, धर्मो एव भाषाओ का भी वर्णन है, इसमे देश की सरकारो, व्यापार के तरीको एव प्रत्येक देश के पौवो और पशुओ के सम्वन्ध मे भी लिखा गया है। इसकी सामग्री प्रामाणिक लेखको की कृतियो से सकलित एवं अनदित की गयी है तथा वाद के नवीन विचारो एव अनुभवो को भी इसमे सम्मिलित कर लिया गया है, इसमे उपयुक्त टिप्पणियाँ, विशिष्ट मानचित्र तथा स्थापत्य सम्वन्धी चित्र भी दिये गये हैं, इसके प्रणेता महामहिम सम्राट के विश्ववृत्तात-लेखक, भौगोलिक मुद्रक एव ज्ञानाचार्य श्री जान ओगिल्वी है। यह पुस्तक लदन के ह्वाइट फ्रायर मे, लेखक के घर पर ही सन् १६७३ ई० मे प्रकाशित हुई थी।"

इसके लेखक अकल ओगल्वी ये जिनका उल्लेख ड्राइडन की कृति 'मैकफ्लैकनो' तथा पोप कृत 'डसियड' मे उपलब्ध है। ओगल्वी, वहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। ये कवि, वर्जिल एव होमर की कृतियो के अनुवादक, नाटककार तथा भूगोलवेत्ता थे। आपने अपनी इस वृहदाकार कृति को विभिन्न रोचक सामग्रियो से विभूषित किया है। आप ताडपत्र पर लोहे की शलाका से खुरचकर लिखने की दक्षिण-भारतीय प्रणाली से परिचित थे (पृष्ठ १२९-१३४)। आधुनिक उडिया तथा

अन्य दक्षिण भारतीय लिपियो के वृत्ताकार अक्षरो की आकृति का मूल उद्गम वस्तुत यही प्रणाली है। वे आगे लिखते है—

"जहाँ तक भारत के लोगो की भाषा का सम्बन्ध है, यह केवल सामान्य रूप से, मूरो तथा मुसलमानो की भाषा से भिन्न है, लेकिन उनमे भी स्वत विभिन्न बोलियाँ हैं। उनकी सभी भाषाओ मे ऐसी कोई भी भाषा नही है जो मलय (जिसका आगे विस्तृत वर्णन किया जायगा) से अधिक प्रचलित हो। अत इस स्थान पर उनके कुछ प्रमुख शब्दो का अँग्रेजी मे अनुवाद करना अनुचित न होगा।

डेले वैले के अनुसार भारत के सभी प्रदेशो मे एक ही भाषा है, यद्यपि उनके अक्षर विचित्र है। विभिन्न प्रदेशो के लोग एक दूसरे की भाषा समझ तो लेते है, फिर भी लिपियाँ भिन्न हैं।

शिक्षित वर्ग अथवा ब्राह्मणो की भाषा एवं अक्षरो को किर्चर ने 'नागर' कहा है। नागर अक्षर पवित्र माने जाते है और उनका उपयोग ब्राह्मण परिवार एव जाति के लोग उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार यूरोप के शिक्षित वर्ग के लोग लैटिन का प्रयोग करते हैं।

उनके अक्षर स्पष्ट तथा बडे होते हैं और अधिक स्थान घेरते है। वे सूरत के वनिये व्यापारियो द्वारा व्यवहृत अक्षरो से भिन्न हैं।"

तत्पश्चात् वे ऊपर के समान ही टेरी का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते है,

"भारत तथा मुगल राजाओ के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले देशो मे भारतीय भाषा की अपेक्षा फारसी अधिक प्रचलित है, क्योकि सामान्यत दरवार के अमीर-उमरा लोग इसका उपयोग करते हैं और यह सभी सार्वजनिक कार्यो एव लिखावट मे प्रयुक्त होती है। चूंकि मुगल राजकुमारो द्वारा, सर्वप्रथम फारसी तातार तथा समरकन्द से लायी गयी है अतएव इस सम्बन्ध मे किसी को आश्चर्य नही करना चाहिए।

एक अन्य लेखक, पेरूशी के अनुसार, असभ्य मुसलमान तुर्की भाषा का व्यवहार करते हैं लेकिन वे इसे उतने प्रवाह के साथ नही वोल पाते जितने जन्मजात तुर्क। पढे-लिखे लोग तथा मुसलमान धर्मगरु अरबी का प्रयोग करते हैं जिसमे अलकुरान तथा अन्य पुस्तको की रचना हुई है।

लेकिन किसी भी भाषा का उतना व्यापक विस्तार तथा उपयोग नही है जितना मलय का। मलय भाषा का उद्‌गम-स्थान मलक्का नगर है। सुडा के समीप स्थित सभी द्वीपो एव देशो मे यह बोली जाती है। व्यापारी लोग इस भाषा का प्रमुख रूप से उपयोग करते है।

लिनशाट का कहना है कि विभिन्न राष्ट्रो के लोगो ने जो नगर-निर्माण कला मे दक्ष थे तथा जो मलक्का मे वस गये थे, इस मलय भाषा को सभी भारतीय भाषाओ से अद्वितीय वनाया। इस भाषा मे सभी अन्य पड़ोसी देशो की भाषाओ की अपेक्षा अधिक मधुर शब्द तथा विचार-प्रकाशन की स्वस्थ पद्धति है जो इसे सम्पूर्ण भारत की भाषाओ मे अधिक अच्छी, उपयोगी, हृदयग्राही तथा सुगमता से सीखने योग्य वनाती है। पडोसी देशो से यहाँ व्यापार के लिए आनेवाला प्रत्येक व्यापारी भी इस भाषा को अवश्य सीख लेता है।"

मलय के भारत की राष्ट्रभाषा होने की असाधारण चर्चा, ओगिल्वी तथा उसके वाद भी वहुत समय तक, व्यापक रूप से प्रचलित रही। स्पष्ट रूप से इस भ्रम का कारण यह था कि डचपूर्वी द्वीप समूह को भारत मान लिया गया था। विलकिन्स ने चेम्वरलेन की "सीलोज" नामक पुस्तक के आमुख मे इस वात का स्पष्टीकरण किया है कि उन्हें वगला भाषा मे ईश्वर की प्रार्थना (लार्ड्स प्रेयर) का पाठ उपलव्ध न हो सका क्योकि यह भाषा लुप्तप्राय हो रही थी और उसका स्थान मलय भाषा ग्रहण कर रही थी। यही कारण है कि उन्होंने बँगला के स्थान पर भ्रष्ट वंगलाक्षरो मे मलय पाठ दिया है। यही मलय-वँगला नमूना सन् १७४८ मे लिखित फिट्ज "स्प्राखमेस्टर" मे उपलव्ध है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय मलय भाषा के सम्वन्ध मे लोगो की कैसी विचारधारा थी।

अन्द्रियस मूलर

हेनरिकस वान रीड टाट ड्राकेन्स्टीन कृत "भारत के मलावार के उद्यान" (होर-शस इडिकस मालावारिकस, १६७८)तथा शतरज विषय पर टामस हाइड की कृति "वादशाह के खेल का इतिहास" (१६९४) पर दृष्टिपात करने के पश्चात्, जिनमे नागरी वर्णमाला के नमूने दिये गये हैं, हम अब अन्द्रियस मूलर की "ईश-प्रार्थना" (लार्ड्स प्रेयर) सवधी पाठ के सग्रह पर आते हैं। यह टामस लुड्केने के छद्म नाम

रो लिखा गया है तथा वर्लिन मे सन् १६८० मे प्रकाशित हुआ था।[1] इसका पूरा शीर्षक इस प्रकार है—

प्रार्थनाओ की प्रार्थना एव प्रार्थनाओ मे श्रेष्ठतम पवित्र प्रार्थना, शत प्रतिशत प्रामाणिक, इसका पाठ पूर्व पाठो से अधिक शुद्ध है तथा इसे पहले के सग्रहो से न लेकर उन विश्वस्त लेखको की कृतियो से सग्रह किया गया है जो भाषा के सम्वन्ध मे वास्तव मे अधिकारी है। इसके सम्पादक वारनिमस हैगियस है तथा इसका पुन सम्पादन टामस लुड्केने ने किया है। रुगियन प्रेस से सन् १६८० मे इसका प्रकाशन हुआ है।

इसमे वारनिमस हैगियस जिसका एक नकाशिए के रूप मे जिक्र किया गया है स्वत मूलर का दूसरा नाम है। इस सग्रह मे राथ कृत 'पैटरनोस्टर' को मूल सस्कृत रूप मे पुनर्मुद्रित किया गया था और इसे मूल लैटिन का लिप्यन्तर नही वतलाया गया था।

कैपुचिन फ्रासिसकस एम० तुरोनेसिस के लेक्सिकन लिगुआ हिन्दोस्तानिका (१७०४), जान केटलर के हिन्दुस्तानी भाषा के व्याकरण एव शव्दकोष (ग्रामर एण्ड वाकेवुलरी आफ लिंगुआ हिन्दोस्तानिका) (लगभग १७१५), जिगेनवाल्ग एव वेस्ची के तमिल व्याकरणो (क्रमश १७१६ तथा १७२८) मे भारतीय भाषाओ के छिटपुट विवरणो पर विस्तृत रूप से प्रकाश न डालते हुए अव हम अपनी रायल सोसाइटी के एक सदस्य जान चेम्वरलेन की "सिलोज" पुस्तक मे (एमस्टर्डम १७१५) 'ईश-प्रार्थना" (लाड्र्स प्रेयर) के रूपान्तर सम्वन्धी सकलन की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण वात का उल्लेख कर रहे है।

चेम्बरलेन का सीलोज

इसकी भूमिका काप्टिक भाषा के विद्वान् डैविड विल्किन्स ने लिखी है, जिन्होने स्वत इस कार्य मे सक्रिय रूप से योग दिया है। हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए यहा

१. उन दिनों 'लाड्र्स प्रेयर' के इस प्रकार के सकलन बहुधा हुआ करते थे। फ्रिट्ज ने अपने स्प्राखमेस्टर मे सन् १७४८ के पूर्व कम से कम पचपन ऐसे संकलनो का उल्लेख किया है। वास्तव में ये तुलनात्मक भाषाशास्त्र के अध्ययन के प्रथम सोपान थे।

इतना ही कहना पर्याप्त है कि पुस्तक मे जहाँ एक ओर मलय भाषा के भारत मे प्रचलित होने की गलती का समर्थन किया गया है वहाँ उसमे राथ के "पैटरनोस्तर' का उद्धरण भी प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसकी भाषा को सस्कृत नहीं कहा गया है और इस प्रकार इस सम्बन्ध मे मूलर ने जो गलती की थी वह नहीं होने पायी है।

फ्रिट्ज का स्प्राखमेस्टर

यहाँ पर हम काल-क्रम के हिसाब से किये गये उस अन्तिम प्रयत्न पर विचार करेगे जिसमे केवल "ईश-प्रार्थना" (लार्ड्स प्रेयर) के रूपान्तरो को सकलित कर भाषा की तुलना की गयी थी। यह जान फ्रेडरिक फ्रिट्ज का 'स्प्राखमेस्टर' है जो सन् १७४८ मे लाइपजिग मे प्रकाशित हुआ था और जिसकी भूमिका प्रसिद्ध भारतीय धर्म-प्रचारक शुल्जे ने लिखी थी। इसके मुख-पृष्ठ पर इस प्रकार का उल्लेख है—यह पूर्वी तथा पश्चिमी भाषा का शिक्षक है। इसमे उच्चारण सहित एक सौ वर्ण (अक्षर) दिये गये है। इस प्रकार यह यूरोप, एशिया, अफ्रीका एव अमेरिका के लोगो के लिए लाभदायक है। इसमे विभिन्न भाषाओ तथा विभिन्न देशो मे प्रचलित अको का चार्ट भी दिया गया है जिसकी सहायता से इन सबको केवल एक बार देखकर ही समझा जा सकता है। विशेष रूप से इसमे ईश-प्रार्थना (Lords-Prayer) के रूप २००भाषाओ एव बोलियो मे एव इन भाषाओ के अक्षरो मे भौगोलिक क्रम से सजाकर रखे हुए है। इन्हें परम विश्वस्त विद्वानो से सगृहीत किया गया है और इनके ताम्रपत्र भी बनाये गये है। यह लाइपजिग से क्रिश्चियन फ्रेडरिक ग्रेसनर द्वारा सन् १७४८ मे प्रकाशित किया जा रहा है।'

१ Oriental and occidental language teacher which contains not only 100 alphabets with their pronunciation, being thus useful among most European, Asiatic, African and American peoples and nations Also some polyglotic tables of different languages and numbers to be understood at a glance, particularly also the Lord's prayer in 200 languages and dialects with their respective script and reading arranged according to a geographical order, collected from the most trustworthy authorities and

फ्रिट्ज की पुस्तक अपने पूर्ववर्ती चेम्वरलेन की पुस्तक से काफी अच्छी है। इसमे विभिन्न वर्ण-मालाओ के साथ १७२ पृष्ठ है जिनमे भारत की भी अनेक वर्ण-मालाएँ शामिल हैं· ५६ पृष्ठो की तालिका मे प्रथम १० अको को दिखाया गया है और १२८ पृष्ठो मे "ईश—प्रार्थना" (लार्ड्स प्रेयर) के रूपान्तरो से सबधित अनेक पट्टिकाएँ है। भारतीय वर्णमालाओ मे, इसमे 'बँगला', 'तमिल', 'वर्मी', 'ग्रथ', 'तेलुगू', 'सिहली' तथा नागरी लिपियो की व्याख्या की गयी है। भारतीय भाषा सम्बन्धी रूपान्तरो मे लैटिन (नागराक्षरो मे), सस्कृत, हिन्दुस्तानी, गुजराती, मराठी, कोकणी, सिहली, मलय (वगलाक्षरो मे), तमिल, तेलुगु, कन्नड तथा वर्मी है। इन विभिन्न रूपान्तरो मे से कुछ को विभिन्न नामो के अन्तर्गत रखा गया है। परिशिष्ट के रूप मे लेखक ने "पिता", 'स्वर्ग', 'पृथ्वी' तथा 'रोटी' शव्दो की इन भाषाओ मे तुलनात्मक तालिकाएं प्रस्तुत की हैं। अपने समय मे 'स्प्राखमेस्टर' एक अत्यधिक प्रशसनीय कृति थी जो वास्तव मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखी गयी थी।

लाक्रोज

मातुरिन वेस्सिए लाक्रोज सन् १६६१ ईसवी मे नान्टे मे पैदा हुए थे और सन् १६९७ मे वर्लिन के एलेक्टर के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हुए थे। उनकी मृत्यु उसी नगर मे सन् १७३९ मे हुई थी। इस प्रसिद्ध विद्वान का कार्यक्षेत्र वहुमुखी था। वे प्राच्य विद्या के ज्ञाता थे और यूरोप के अनेक विद्वानो से उनका वहुत पत्र-व्यवहार भी चलता रहता था। ये पत्र लाइपजिग मे, सन् १७४२–४६ मे लैटिन भाषा के तीन भागो मे प्रकाशित हुए थे। ये वाजार मे आज भी मिलते है। सन् १७१४ ई० मे विल्किन्स ने चेम्वरलेन के "सीलोज" को तैयार करने मे सहायता प्रदान करने के लिए इनके पास पत्र लिखा। इस प्रार्थना ने लाक्रोज को चेम्वरलेन से लम्वे पत्र-व्यवहार करने की प्रेरणा प्रदान की।[1] इन पत्रो मे भाषा के अध्ययन सम्वन्धी सामान्य प्रश्नो तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की अनुपयोगिता के निराकरण विषयक वातो का

provided with important copper plate about them, Liepsig, to be had of Christian friedrich Gessnern 1748.

१. देखो, थिसारेस एपिस्टोलिकस ला क्रोजियानस्, ३, ७८ तथा उसके आगे।

उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् उन्होंने इन पत्रो मे सक्षिप्त रूप मे उन विभिन्न भाषाओ के आपसी सबधो का जिक्र किया है जिनकी उन्हे जानकारी थी। भारत की भाषाओ के बारे मे आप लिखते हैं "मुझे इस देश की वर्ण-मालाओ के बारे मे बहुत ही कम कहना है। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि ये सस्कृत से निकली हैं[1] जो फारस अथवा असीरिया की प्राचीन सेमेटिक वर्णमालाओ का मूल रूप है और जिसका उपयोग ब्राह्मण किया करते हैं। इन ब्राह्मणो से अन्य भारतीय जातियो ने उनके अन्ध विश्वासो को ग्रहण किया और साका[2] भी उन्ही लोगो मे से थे जिन्होंने पूर्व की जनता को अपने मिथ्या धर्मो के बन्धन मे आबद्ध किया और स्वय भी उन्ही अन्ध-विश्वासो मे पले। इस प्रकार ब्राह्मणो, माळाबार की जनता, सिंहली, स्यामी तथा जावा यहाँ तक कि बाली[3] की भाषा की भी जो लाओस, पेगू, कम्बोडिया तथा स्याम[4]

१. इसमे कोई सन्देह नहीं कि सस्कृत के लिए हंस्कृत शब्द किर्चर के चाइना इलस्ट्राटा से लिया गया है। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। वहाँ पर इस शब्द की अखरौटी भी इसी रूप मे है। लाक्रोज ने प्राचीनतम भारतीय लिपि की उत्पत्ति असीरिया की लिपि से बतायी है। (असीरिया की कीलक-मुख लिपि उन दिनो अज्ञात थी, अतएव उसकी ओर क्रोज का इशारा नहीं है, अपितु फोने-शिया लिपि की ओर है)। वास्तव मे जिस बात को आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन ने आज मूर्त रूप दिया है, उसे उसने अपनी दिव्य दृष्टि से उस युग मे ही देख लिया था। आगे चल कर वह लिखता है कि भारत के लोगों ने लिपि के सम्बन्ध मे वही काम किया है जो ग्रीक लोगों ने किया था। फोनेशिया की लिपि दायें से बायें लिखी जाती थी। किन्तु भारतीय लोगो ने उसे बदलकर बायें से दाहिने कर दिया है। जब हम इस बात का स्मरण करते हैं कि उस युग मे लाक्रोज के सामने न तो अशोक के शिलालेख ही थे और न विचार करने के लिए मुबाइट प्रस्तर ही था, तब भी अनुमान से नहीं अपितु तर्क के द्वारा वह इस परिणाम पर पहुँच गया तब हम इस महान् फ़्रेन्च विद्वान के वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा भविष्य द्रष्टा होने की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

२. शाक्य अर्थात् बुद्ध।

३. स्याम के लोग "पाली" का उच्चारण इस रूप मे करते हैं।

४. ये वाक्य उद्धरण नहीं हैं, अपितु लाक्रोज के कथन के संक्षिप्त रूप हैं।

की पवित्र बोली है, वर्णमालाओ का क्रम समान ही है। दक्षिण भारत की भाषाओ के बारे मे लाक्रोज को जानकारी प्राप्त कराने वाले मुख्य व्यक्ति ट्रानक्वेवार स्थित डेनिश धर्म सघ के ज़ीगेनबैल्ग को लिखे गये पत्रो का जिक्र करते हुए अब हम लाक्रोज के उस विस्तृत पत्र-व्यवहार का उल्लेख करेगे जो उन्होने थियोफिलस सीजफ्रेड वायर के साथ किया था।

वायर

वायर उस समय लाइपजिग मे निवास कर रहे थे किन्तु बाद मे वे पेट्रोग्राड चले गये। उनके प्रारम्भिक पत्रो मे भारतीय लोगो के सम्बन्ध की कुछ ही बातें है क्योकि उनमे मुख्यत ताग्, मगोलियन तथा चीनी भाषा का उल्लेख है। इसमे मार्च सन् १७१७ मे एक मनोरजक अनुच्छेद (पैराग्राफ) आया है जिसमे वायर ने लाक्रोज के उस सिद्धान्त की आलोचना की है जो ब्राह्मण वर्णमाला के उद्गम के सम्बन्ध मे है।[1] इस प्रारम्भिक पत्र-व्यवहार मे जिस एकमात्र भाषा का जिक्र किया गया है वह बगला है।[2] सभवत यूरोप मे प्रकाशित पत्र मे बगला वर्णमाला का यह प्रथम उल्लेख है।

सेन्टपीट्र्सवर्ग अकादमी

पीटर महान् ने फ्रान्सीसी अकादमी के आधार पर सेन्टपीट्सवर्ग मे शाही विज्ञान अकादमी का शिलान्यास किया और सन् १७२५ ई० मे साम्राज्ञी कैथेराइन ने उनका औपचारिक रूप से उद्घाटन किया। इस समारोह मे सम्मिलित होने के लिए यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान् जिनमे वायर भी थे, आमन्त्रित किये गये थे। पीटर द्वितीय ने इसकी स्थायी आधार पर स्थापना की। सन् १७२८ ई० मे, सन् १७२६ ई० से सम्बन्धित इसकी कार्यवाहियो का विवरण दो भागो मे प्रकाशित हुआ जिसका प्राप्त होना अब मुश्किल है। सन् १७४१ मे अकादमी मे आग लग जाने के कारण करीब करीब सभी पुस्तकें नष्ट हो गयी।

१. द्र् एपिग्राफिका लाक्रोज १, १६
२. एपिग्राफिका लाक्रोज १, २३; ३, २८

मेसर्सशिमिट्

सन् १७२७ मे, डैनियल मेसर्सशिमिट् जिन्हे महान् पीटर ने साइवेरिया की खोज करने का कार्य भार सौंपा था, अपने साथ अन्य अमूल्य वस्तुओ के अतिरिक्त एक शिलालेख तथा चीनी मे मुद्रित एक पुस्तक लेकर पेट्रोग्राड वापस आये। ये चीजे वायर को दे दी गयीं और उन्होंने इनका वर्णन अपनी विवरण-पुस्तक के तीसरे तथा चौथे भाग मे किया है। शिलालेख मे दो छोटी पक्तियाँ हैं, जिनमे मे प्रत्येक दो तिव्वती-लिपियो मे है। वे यहाँ उद्धृत की जा रही हैं—

चित्र १

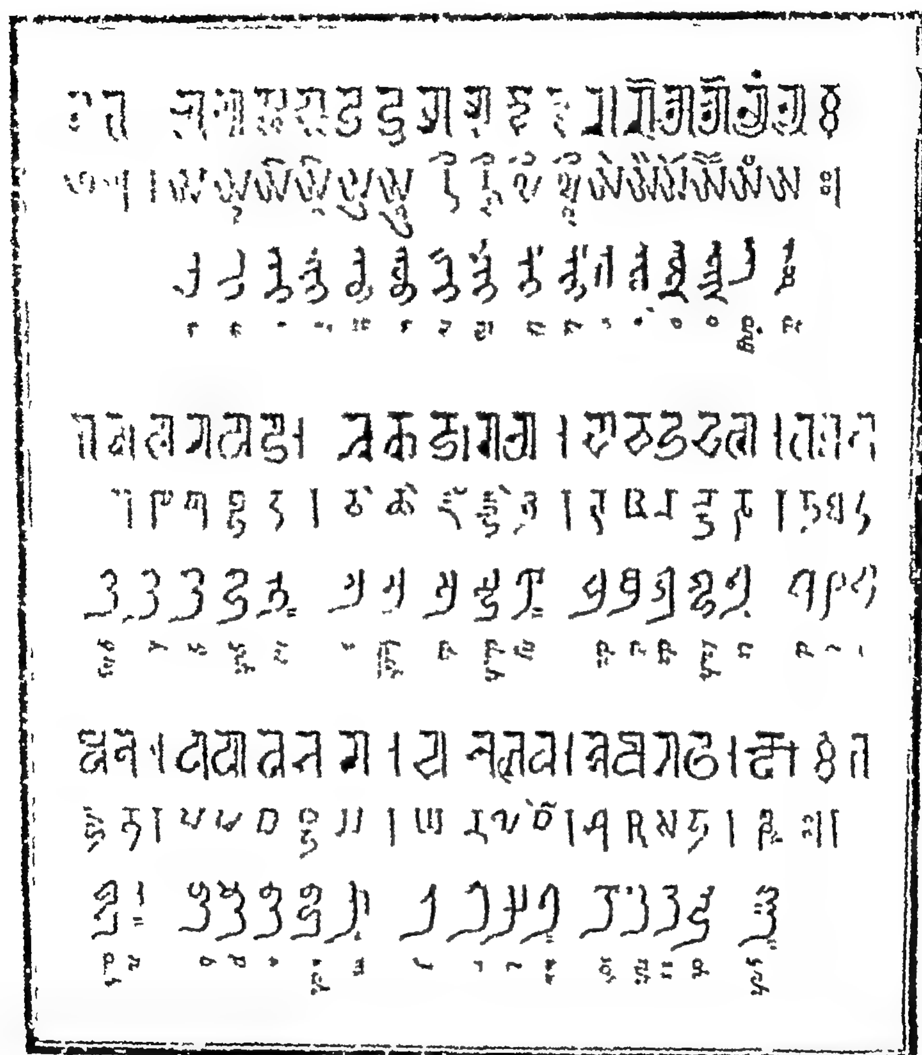
तिव्वती लिपि

वायर ने अपनी पुस्तक की सहायता से, जिसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा तथा अपने मचू भाषा के ज्ञान के आधार पर इसे इस प्रकार पढा—"ओग मनि पद्मे चुम् ची"।[1] किन्तु वे इसका अर्थ स्पष्ट न कर सके। उन्होने कहा है कि मेसर्स शिमिट् ने मुझसे कहा है कि यह तुगत्स (तिव्वती) लोगो मे प्रचलित आम प्रार्थनाओं मे से एक है जिसका अर्थ यह है कि "ईश्वर हम पर दया करे।" प्रसिद्ध बौद्ध मत्र "ओम् मणि पद्मे हुम" का ऊपर का अनुवाद यद्यपि अशुद्ध है तथापि इससे यूरोप मे भारतीय-भाषाओ के अध्ययन के प्रथम प्रयास का सूत्रपात होता है। इसके बाद कई वर्षों तक, यूरोपीय विद्वान् चीनी तथा तिव्वती के माध्यम से उत्तर भारत की भाषाओ के अध्ययन मे सलग्न रहे।

मेसर्सशिमिट् ने दूसरी जिस महत्त्वपूर्ण वस्तु की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है वह आठ पृष्ठो की पुस्तिका है जो चीन मे मुद्रित हुई थी। इसे इन अन्वेषको के रोज़ेटा पत्थर के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। इसमे समानान्तर रेखाओ

१. इसका उच्चारण संघर्षी च की तरह होता है।

मे तिब्बती लान्तशा लिपि दी गयी है। इसके साथ ही साधारण तिब्बती एव मचू लिपि का एक रूप भी अनुलिपि रूप मे दिया गया है।[1] वायर ने मंचू-लिपि को



चित्र २—मंचू लिपि, वायर, १७२८

१. एक पृष्ठ मे वहाँ दो पंक्तियाँ थीं। किन्तु चूंकि तीन पंक्तियो मे साधारणतया सभी वर्ण आ जाते हैं, अतएव मैंने वायर का अनुगमन करते हुए इसका डेढ़ पृष्ठो का चित्र दिया है।

मंगोलियन लिपि कहा है। इसके पहले के पृष्ठ मे इसके ड़ेढ़ पृष्ठो का चित्र दिया जा रहा है—वायर का प्रथम कार्य, यथासम्भव तिब्बती लिपि को सामने लाना था। यह सरल भी था क्योकि वे इस भाषा से आंगिक रूप मे परिचित भी थे और उनके पास अनेक तिब्बती छात्र एवं पुस्तकें थी। तत्पश्चात् इस तथा अन्य नमूनो की सहायता से आप मचू लिपि के रूप सामने लाये और अन्ततोगत्वा इन दोनो की सहायता से आप लान्तशा लिपि के उद्धार मे सफल हुए। वास्तव मे लान्तशा अलकृत नागरी लिपि ही थी। पिछली पट्टिका मे 'ओम् मणि पद्मे हु' की अनुलिपि उन्होंने जिस रूप मे निर्धारित की है, वह भी मैंने दे दी है। यह ध्यान देने योग्य है कि यह प्रतिलिपि निर्दोष नही है किन्तु प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण यह प्रशसनीय अवश्य है।[१]

शुल्ट्ज

इस प्रकार लान्तगा वर्णमाला का कार्य समाप्त करने के पश्चात् वायर ने उसकी एक प्रतिलिपि ट्रानक्वेबार स्थित धर्मप्रचारक शुल्ट्ज को भेजी और उसे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि उन अक्षरो को उत्तरी भारत के ब्राह्मण पढ सकते है।[२] शुल्ट्ज ने जो नमूने प्रस्तुत किये हैं उनसे यह प्रकट होता है कि स्वत उसे उस समय तक सस्कृत अथवा किसी भी अन्य भारतीय आर्य भाषा का अधिक ज्ञान न था। उसने 'वनारस' के लिए "काशा" अथवा "भनारेसे" और नागरी अक्षर के लिए "आषरा." "नाघरी." लिखा है। उसने तीन वर्णमालाओ यथा 'नागरी', 'वलवन्दु', तथा 'अकार नागरी' का उल्लेख तथा उनका नमूना पेश किया है। शुल्ट्ज की भाँति ही, जो इन्हें नही पढ सका था, ये अत मे वायर के पास भेजी गयी। 'वलवन्दु' से उसका तात्पर्य मराठी मे था किन्तु ये तीनो लिपियाँ विभिन्न व्यक्तियो द्वारा लिखित "नागरी" ही थी।

१. प्रो० ज़चारिए ने इस सम्बन्ध मे हमारा ध्यान इससे पूर्व के एक और विवरण की ओर आकर्षित किया ०। यह किर्चर कृत चाइना इलस्ट्रेटा (१६६७) के पृष्ठ ७ पर दिया गया है। किर्चर ने इसकी अनुलिपि "ओ मनिपे मि हूँ" के रूप मे की है और उसने इसका अर्थ............... दिया है।

२. 'ब्राम्हनेस एक्सट्रेनेओस् एट् पेरेग्रिनोस्'।

शुल्ट्ज ने इनके उच्चारण-स्थानों का भी उल्लेख किया है। यह नीचे दिया जा रहा है[1]—

इ, का उच्चारण जीभ को तनिक दाहिनी ओर करके किया जाता है।

ई, का उच्चारण जीभ को तनिक बायी ओर करके होता है।

उ, के उच्चारण मे जीभ को मुँह से सीधे आगे बढाना पडता है।

ऊ, के उच्चारण मे उ की अपेक्षा दुगुनी शक्ति लगती है।

ड, के उच्चारण मे जीभ ऊपरी तालु का स्पर्श करती है और ध्वनि-स्फोट के समय 'ह' सुनाई पडता है।

स्पष्ट रूप से मूर्द्धन्य वर्णों के उच्चारण मे जितनी कठिनाई हमे है उतनी ही हमारे पूर्वजो को भी थी और अनेक नौसिखुओ के लिए "अर्द्धचेतनावस्था की भाषा" से अब भी परेशानी होती होगी।

वायर ने यह बताया है कि किस प्रकार बार्डन नामक एक काल्मक राजदूत ने, जो उस समय पेट्रोग्राड मे निवास करता था, उन्हे इस उच्चारण को सीखने मे सहायता दी। उसने अत मे मराठी, गुजराती तथा और भाषाओ के बारे मे भारत से प्राप्त जानकारी का उल्लेख भी किया है। मेरी समझ मे अन्तिम नाम से उसका तात्पर्य उर्दू से है, जिसे अग्रेजी ने बाद को 'मूर' से सम्बोधित किया था। इस बीच वह लाक्रोज से तेजी के साथ पत्र-व्यवहार कर रहा था जिसमे न केवल चीनी पुस्तको का ही जिक्र किया गया है वरन् उसमे हमे आधुनिक अर्थ मे वास्तविक तुलनात्मक भाषाशास्त्र के प्रारम्भिक प्रयत्नो का भी वर्णन मिलता है। उसमे ८ विभिन्न भाषाओ मे प्रथम ४ अको की तुलना की गयी है।[2] बाद के १० वर्षों तक दोनो मित्र कभी-कभी भारतीय भाषाओ की भी चर्चा कर लिया करते थे और अत तक लाक्रोज ने भारतीय वर्णमाला के सेमेटिक उद्‌गम के अपने सिद्धान्त की सत्यता का प्रतिपादन किया है।

इन दिनो—वस्तुत १६ वी शताब्दी से ही—दक्षिण भारत डेनिश तथा जेसुइट धर्म-प्रचारको का कार्यक्षेत्र था। शुल्ट्ज का एक से अधिक बार जिक्र

१. कमेन्टरी एकेडेमिए साइन्टियरम् इम्पीरियलिस् पेट्रोपोलिटेनिए ४, (१७२९), २९३ तथा उसके आगे।

२. एपिग्राफिका लाक्रोज १, ५८।

किया जा चुका है और यदि मैं बेस्ची, गोआ के अंग्रेज टामस स्टेवाओ (स्टेफेन्स) अथवा (ट्रानक्वेबार के डैनिश धर्मसघ के) फैब्रिसियस तथा जीगेनबैल्ग के केवल नामो का उल्लेख करने के अतिरिक्त अधिक नही कहता तो इसका कारण यह है कि माधारण रुप से भारतीय भाषाओ के अव्ययन के इतिहास से उनका प्रत्यक्ष मम्बन्ध नही है। इन्होने व्याकरण तथा शब्दकोश लिखे है अथवा वाइविल का एक से अधिक भारत की दक्षिण की भाषाओ मे अनुवाद किया है किन्तु इन लोगो का सम्बन्ध सम्यक् रूप मे भारतीय भाषाओ के अध्ययन से नही रहा है।[1]

वेलिगत्ती

उत्तर भारत मे रोमन कैथलिक धर्मप्रचारको की कार्यप्रणाली कुछ दूसरे ही ढग की रही है। केपुचिन के धर्म-प्रचारक कमिआनो वेलिगत्ती ने नागरी लिपि के मम्बन्ध मे एक पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक "अल्फावेटम ब्रह्मणिकम सेव् यूनिर्वर्मिटाइटिस् काशी" (रोम, १७७१) है। यदि इस पुस्तक की जोहन्म क्रिम्टोफोरस अमाडुटियम ने भूमिका न लिखी होती तो यहाँ इमका उल्लेख भी न किया जाता।

अमाडुटियस

उक्त भूमिका मे भारतीय भाषाओ मे मम्बन्धित तत्कालीन ज्ञान का अविवारी विद्वानो के उल्लेख के साथ पूरा साराश प्रस्तुत किया गया है। इसमे मस्कृत भाषा को (सममक्रीत लिखा है) विद्वानो की भाषा कहा गया है और तत्पश्चात् "ब्रवावोली" अथवा वेकावोली (भाषा वोली) अथवा सामान्य भाषा का, जो काशी विश्वविद्यालय या बनारस मे पायी जाती है, उल्लेख किया गया है। इसमे यह भी लिखा गया है कि विभिन्न क्षेत्रो तथा विभिन्न भाषाओ की अपनी लिपियाँ है। इसने इन भाषाओ की इस प्रकार गणना की है।—१ वगलेनिसिम (वगाली),

१ इसी कारण यूरोपीय भाषा मे अनुदित संस्कृत की प्रथम पुस्तक का मैं यहाँ उल्लेख नहीं करता। इसके लेखक मिशनरी अब्राहम रोगर (१६५१) थे और इस पुस्तक का नाम था 'ओपेन डोर टू हिदेन्डम्'। यह भर्तृहरि के द्वितीय एवं तृतीय शतकों का डच मे अनुवाद था।

२ तौरुतियाना (मैथिली), ३ नेपालेनसिस (नेपाली), ४. मराठिका (मराठी), ५ पेगुआना (बर्मी अथवा मोन), ६. सिंगलिया (सिंहली), ७ तेलुगिका (तेलुगु) तथा ८ तमुलिका (तमिल)। यह ग्रन्थ और भी कामो के लिए महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसमे 'नागरी' तथा 'कैथी' लिपियो को चल टाइप के रूप मे रखा गया है। कदाचित् यूरोप मे इनके उपयोग के लिए ऐसा किया गया है।

एवेल का सिम्फोना

भारतीय भाषा-शास्त्र सम्वन्धी अध्ययन के प्रथम चरण की समाप्ति के लिए दो अन्य परवर्ती ग्रन्थो का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इनमे से प्रथम ग्रन्थ इवारुस एवेल (१७८२) का 'सिम्फोना' है। यह तमिल, तेलुगु, सस्कृत, मराठी वल्वद (मराठी ही), कन्नड, हिन्दोस्तानी, कोकणी, गुजराती तथा पेगुअन (वर्मी) का तुलनात्मक शव्द-समूह है। इसमे मानव शरीर के विभिन्न भागो, स्वर्ग, सूर्य, कतिपय जीवो, मकान, जल, वृक्ष, व्यक्तिवाचक सर्वनामो तथा अको आदि से सम्बन्ध रखने वाले ५३ शव्दो का इन भाषाओ मे तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पालिनस ए० एस० वर्थोलोमियो

द्वितीय पुस्तक अज्ञात लेखक द्वारा लिखित "अल्फावेटा इन्डिका" है और इसकी भूमिका पालिनस ए० एस० वर्थोलोमियो (रोम १७९१) ने लिखी है।[1] यह चार भारतीय वर्णमालाओ का सकलन है जिनके वर्ण सचल टाइपो द्वारा बैठाये गये है। अत मे एडेलुग कृत "मिथरी डेट्स" (१८०६ तथा परवर्ती वर्षों मे) १८ वी शताब्दी के भाषा सम्बन्धी अध्ययन का साराश है। यह वस्तुत प्राचीन तथा नवीन भाषा सम्बन्धी अध्ययन की कडी है।

१. इसके पूर्व वर्ष में पौलिनियस ए० एस० बर्थोलोमियो ने संस्कृत के एक व्याकरण का प्रकाशन किया था, जिसका पूरा विवरण इसके मुख पृष्ठ पर लैटिन मे दिया गया था।

अध्ययन का परिणाम

भारतीय भाषाओ के संबध मे की गयी इस प्रारम्भिक खोज से प्रकट होता है कि १७ वी तथा १८ वी शताब्दियो मे काफी परिश्रम के साथ प्राप्त सामग्रियो का सकलन किया गया लेकिन मुश्किल से इनका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सका। वास्तव मे इस प्रकार के अध्ययन किये जाने की उस समय आशा भी नही की जा सकती थी। इसके लिए तब आवश्यक सामग्रियो का भी जो यत्र-तत्र बिखरी हुई थी, अभाव-सा था, जिस कारण अध्ययन सभव न था। इतना होने के बावजूद यह काल ज्ञान के क्षेत्र मे इस पुराने विश्वास से काफी आगे बढ़ गया था कि सभी भाषाएँ हेब्रू से निकली हैं। १७ वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे भारत मे पवित्र साहित्यिक भाषा सस्कृत का पता चला और इससे अनमान के रूप मे ऐसा विश्वास प्रकट किया गया कि सस्कृत के अतिरिक्त एक और भी सामान्य बोली जानेवाली भाषा है जिसका सम्पूर्ण महाद्वीप की सामान्य जनता व्यवहार करती है। इस विश्वास से भी आगे बढकर लोगो ने यह बडी भूल की कि उक्त बोली जानेवाली भाषा 'मलय' है, जो एक प्रकार से राष्ट्रभाषा है और जिसके आगे ग्रामीणो द्वारा व्यवहार मे लायी जाने वाली भाषा का लोप होता जा रहा है। इस गलतफहमी तथा इससे उत्पन्न परिणामो को खत्म करने मे अनेक वर्ष लगे।

एक से अधिक बोल-चाल की भाषाओ का मौजूद रहना एक दूसरा अनुसधान था। इसका सर्वप्रथम सबध लिपियो के सकलन से था। सकलन केवल उत्सुकता वश किया गया था और जिन भाषाओ के लिए व्यवहार होता था उनका उल्लेख तक नही किया गया था। लेकिन विभिन्न लिपियो के ज्ञान से विभिन्न बोलियो के वर्तमान रहने का सदेह हुआ जिससे ईस प्रार्थना (लार्डस प्रेयर) के विभिन्न अनुवाद संकलित किये जा सके। पहले के अनुवादो मे अत्यधिक अशुद्धियाँ थी किन्तु जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया तैसे तैसे अनुवाद भी पूर्ण शुद्ध होते गये। इनके संकलनो के साथ-साथ इनमे भाषाओ की भी तुलना की गयी और इस प्रकार तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के अध्ययन का प्रथम चरण भी आरम्भ हुआ। इसी मौके पर लाक्रोज तथा बायर को प्रसिद्धि मिली। उन्होंने अको तथा इसी प्रकार के शब्दो की तुलना पर आधारित भाषाओ का प्रारम्भिक वर्गीकरण करना आरम्भ किया और तिब्बत तथा भारत की वर्णमालाओ के पारस्परिक सम्बन्धो को खोज निकालने मे सफलता प्राप्त की। यह एक ऐसा तथ्य था जो परवर्ती दिनो मे अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने दक्षिण भारत के प्रसिद्ध धर्म-

प्रचारको से पत्र-व्यवहार किया और उनकी सहायता से अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री ढूंढ निकाली। वास्तव मे उन्ही के अनुसधानो पर उस समय की बाद की खोजें आधारित हैं। और उन्ही की प्रणाली का अनुसरण कर इवारुस एबेल तथा एडेलुग ने वैज्ञानिक खोज करने मे महत्वपूर्ण प्रगति की जो उन्ही के नामो से सम्बन्धित है। ये वातें वेलिगत्ती की "अल्फाबेटम वह्मणिकम्" पुस्तक की अमाडुटियस द्वारा लिखित भूमिका से स्पष्ट हैं।

उक्त काल के अत मे हम यह देखते हैं कि यूरोपवासियो को प्रमुख भारतीय भाषाओ के नामो तथा सामान्य स्वरूपो का स्पष्ट ज्ञान हो गया था और वहाँ के विद्वानो ने एक भाषा की दूसरे से तुलना भी प्रारम्भ कर दी थी। इस प्रकार इस प्राचीन अध्ययन के वाद नवीन अध्ययन का सूत्रपात हुआ। वर्गीकरण के लिए सामग्रियो का सग्रह किया गया तथा उन्हे क्रमिक रूप भी दिया गया लेकिन भाषाओ के सामान्य वर्गीकरण का कोई प्रयत्न नही किया गया।

सन् १७८६ ई० मे सर विलियम जोन्स द्वारा सस्कृत के गम्भीर अध्ययन तथा उसके परिणामस्वरूप भाषाओ के एक भा-यूरोपीय परिवार के अस्तित्व की स्वीकृति से आधुनिक भाषा-शास्त्र के अध्ययन का सूत्रपात हुआ। वगाल की एशियाटिक सोसाइटी के तृतीय वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा था[1]—"हमे यह ज्ञात है कि मुसलमानो को हिन्दुस्तान अथवा भारत का सीमित ज्ञान था। उन्होंने यहाँ के निवासियो को एक भाषा अथवा एक जीवित बोली बोलते हुए सुना था। इस बोली की रचना-शैली विचित्र थी और इसका विशुद्ध रूप आगरे मे तथा काव्यमय रूप मथुरा मे प्रचलित था, जिसे सामान्य रूप से व्रज कहा जाता था। ६ शब्दो मे से इस भाग के ५ शब्द सस्कृत से आये हैं। सस्कृत मे धार्मिक तथा विज्ञान सम्वन्धी पुस्तको की रचना हुई है। इसके व्याकरण का क्रम भी पूर्ण है और, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है, यह किसी साधारण भाषा से सस्कार करके गढी गयी है। लेकिन हिन्दुस्तानी का आधार विशेषतया इसके क्रिया के रूप इन दोनो (सस्कृत तथा व्रज) से उतने ी भिन्न हैं जितने अरवी फारसी से अथवा जर्मन ग्रीक से। अव विजय का सामान्य प्रभाव यह है कि विजित लोगों की वोल-चाल की भाषा अपरिवर्तित रह गयी है

१. एशियाटिक रिसर्चेज १, ४२२।

अथवा मूल रूप से बहुत कम परिवर्तित हुई है। किन्तु इसमे बहुत से विदेशी शब्द आ गये हैं जैसा कि प्रत्येक देश मे होता है। विजेता लोग, जहाँ तक मुझे याद है, प्राय अपनी बोली को विशुद्ध नही रख पाये। जैसे कि तुर्क ग्रीस मे एव सैक्सन लोग ब्रिटेन मे अपनी बोलियो को शुद्ध नही रख पाये। इस समानता से हमे यह विश्वास करना पडता है कि विशुद्ध हिन्दी, चाहे उसका उद्‌गम तातारीय अथवा चाल्डियन भाषा ही क्यो न हो, उत्तरी भारत मे अपने आदि रूप मे ही प्रचलित थी, जिसमे दूसरे राज्यो के विजेताओ ने बहुत प्राचीन काल मे सस्कृत के शब्द मिश्रित कर दिये थे। क्योकि इसमे कोई भी सन्देह नही है कि वेद की भाषा इस देश के अधिकाश भागो मे प्रचलित थी और तब तक प्रचलित थी जब तक कि ब्रह्म धर्म का देश मे प्रचार था।

"सस्कृत भाषा का प्राचीन इतिहास चाहे जो भी हो, इसकी रूपरेखा विचित्र है। यह यूनानी से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा इन दोनो से ही अधिक शिष्ट है। फिर भी जहाँ तक धातुओ और व्याकरण का सम्बन्ध है, सस्कृत का लैटिन तथा ग्रीक से अत्यधिक साम्य है। यह साम्य आकस्मिक नही है, यह वास्तव मे इतना अधिक है कि कोई भी भाषा-शास्त्री इनका परीक्षण करते समय इस बात मे अविश्वास नही प्रकट कर सकता कि ये उस मूल स्रोत से ही उद्‌भूत हुई हैं जिसका आज अस्तित्व नही मिलता। इसी प्रकार अत्यधिक पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे भी इस कल्पना मे कोई कठिनाई नही है कि गॉथिक और केल्टिक विभिन्न शैलियो को अपनाती हुई भी सस्कृत से प्रसूत हुई हैं। यदि हम यहाँ फारस की प्राचीनता के सम्बन्ध मे विचार करें तो स्पष्ट रूप से फारसी भी इसी वश के अन्तर्गत है।"

बॉप

ऊपर केवल भारत की आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार नही किया गया है अपितु सस्कृत और यूरोपीय भाषाओ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे भी विचार किया गया है। जहाँ तक भारतीय भाषाओ का सम्बन्ध है, विलियम जोन्स की कल्पना मुख्य रूप से अशुद्ध है। सस्कृत एव यूरोप की अन्य भाषाओ के सम्बन्ध के विषय मे उन्होने जो कल्पना की थी उसका वैज्ञानिक अध्ययन फ्रैंज बॉप ने अपने "यूबेर दास काजूगेशन्स सिस्टम दर सस्कृत प्राचे ." शीर्षक लेख मे किया जो सन् १८१६ मे प्रकाशित हुआ था। इसके बाद ही उनका

प्रसिद्ध तुलनात्मक व्याकरण सन् १८३३ मे तथा उसके वाद के वर्षों मे प्रकाशित हुआ जिसका अग्रेजी मे अनुवाद सन् १८६५ मे श्री ई० वी० ईस्टविक ने किया। इस जगह भारोपीय भाषा-शास्त्र के सामान्य इतिहास पर विचार करना मेरा उद्देश्य नही है किन्तु यहाँ पर वॉप के पश्चात् इस शाखा के आज तक के अध्ययन करनेवाले विद्वानो का नामोल्लेख अनुचित न होगा—ये है, ग्रिम, पाट, श्लाइखर, व्हिटने, ब्रगमान, डेलब्रुक, मेइए तथा जेसपर्सन।

जहाँ तक भारत की आधुनिक भाषाओ के सम्वन्ध मे अनुसन्धान की वात है हम यह ऊपर देख चुके हैं कि इस समस्या को भी सर विलियम जोन्स ने अपने हाथ मे लिया था किन्तु आधुनिक आर्य भाषाओ के सम्वन्ध मे वाद मे जो अनुसन्धान हुए उनसे यह वात स्पष्ट हो गयी कि इस सम्वन्ध मे जोन्स की कल्पना निराधार थी। उन दिनो द्रविड़ भाषाओ की एक विशिष्ट वर्ग की भाषा के रूप मे जानकारी नही थी किन्तु हिन्दी भाषा के सम्वन्ध मे भूल से जो वाते श्री जोन्स ने कही हैं, यदि वही वाते वे द्रविड भाषा के सम्वन्ध मे भी कहते तो आजकल इनकी उत्पत्ति के सम्वन्ध मे लोगो की जो वास्तविक धारणा है उससे बहुत दूर न होते।

कैरे तथा आधुनिक भाषाएँ

जो हो, जोन्स द्वारा उठाये गये प्रश्नो के हल खोजनेवाले सर्वप्रथम श्रीरामपुर के मिशनरी (पादरी) लोग थे। विलियम कैरे नवम्बर सन् १७९३ मे भारत आया और नूतन बाइविल (न्यू टेस्टामेंट) का वगला अनुवाद सन् १८०१ मे प्रकाशित हुआ। वाद के वर्षों मे अन्य भारतीय भाषाओ मे उसके अनुवाद प्रकाशित हुए किन्तु सन् १८१६ मे कैरे ने अपनी गलती महसूस की और उसने सूचनार्थ निम्नलिखित पत्र अपने घर भेजा—

"भाषाओ के सम्वन्ध मे खोज करते हुए हमे यह पता चला कि जहाँ तक सस्कृत से उद्भूत भाषाओ की सख्या का प्रश्न है, हमारा ज्ञान इस सम्बन्ध मे ठीक नही है, परन्तु स्थिति यह है कि इस दृष्टि से भारत की करीव करीव खोज नही हुई है। हम लोगो को यह ठीक तरह से पता था कि सस्कृत से ८ अथवा ९ भाषाएँ निकली है। लेकिन हम लोगो का ऐसा अनुमान था कि सस्कृत भाषा से ही तमिल, कन्नड, तेलुगु, गुजराती, उडिया, वगला, मराठी, पजावी तथा हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति हुई है जिनमे से सभी सस्कृत की शाखाएँ है और सभी शेष भाषाएँ

हिन्दी के विविध स्वरूप हैं। वास्तव मे इनमे से कतिपय तो साधारण विचार-प्रकाशन के माध्यम से ऊँची नही हैं ।

"यद्यपि इसी ऊपर के विचार को लेकर हम अपने कार्य की पूर्ति मे अग्रसर हुए थे किन्तु अन्ततोगत्वा हमे ये विचार छोडने पडे। इसका पहिला कारण यह है कि कोई कोई भाषा अन्य भाषाओ की अपेक्षा प्रत्ययो आदि के सम्बन्ध में हिन्दी से इतनी भिन्न थी कि उसे हिन्दी का रूप अथवा बोली कहना उचित न था। एक बात और है, इनमे से कतिपय भाषाओ के सज्ञा तथा क्रिया सम्बन्धी प्रत्यय केवल हिन्दी से भिन्न ही नही मिले अपितु वे हिन्दी की भाँति ही पूर्ण भी थे। तब हमे ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें जिस रूप मे हिन्दी की बोली कहा जाता है उसी रूप मे मराठी अथवा बगला की बोली भी कहा जा सकता है। वास्तव मे हमे यह पता चला है कि यहाँ बीस से अधिक ऐसी भाषाएँ हैं जिनके शब्द-समूह समान हैं और सस्कृत से उनका सम्बन्ध भी एक रूप मे ही है किन्तु उनके प्रत्यय विभिन्न हैं। अतएव उन्हें स्वतन्त्र भाषाएं माना जा सकता है। इन भाषाओ मे हम जयपुरी, ब्रज, उदयपुरी, बीकानेरी, मुलतानी, मारवाड़ी, मागधी, सिन्धी, मैथिली, डच, कच्छी, हाडवती, कौशली, आदि की गणना कर सकते हैं। इन भाषाओ का यूरोप के लोगो को नाम भी ज्ञात नही है किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के लोग इन्हे स्वतत्र भाषाएं मानते आ रहे है।

"ये भाषाएँ प्रत्ययो और कतिपय शब्दो के सम्बन्ध में परस्पर इतनी भिन्न है कि इन्हे बोलियाँ नही कहा जा सकता और भारत मे कोई एक ऐसी सामान्य भाषा भी नही है जिनकी ये बोलियाँ हो सके। संस्कृत, जिससे ये सभी भाषाएँ प्रसूत हुई हैं, देश मे कही भी बोल-चाल की भाषा नही है। हा, यह बात दूसरी है कि समस्त भारत के पडित इसे बोलते है। ससार की भाषाओ मे इसका व्याकरण सबसे अधिक समृद्ध एव जटिल है किन्तु यह बात इससे प्रसूत विभिन्न भाषाओ के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती। इन भाषाओ को हिन्दी बोली कहना एक दम अनुपयुक्त है जब कि इनमे से कुछ प्रत्ययो के सम्बन्ध मे बगला के तथा अन्य मराठी के अधिक निकट है। आधुनिक खोजो से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हिन्दी किसी प्रदेश-विशेष की भाषा नही है। यह मुसलमानो की दरबारी भाषा होने के कारण उन सभी शहरो एव नगरो मे प्रचलित है जहाँ पर उनका शासन है और इसे देश के प्रत्येक भाग मे अग्रेजो से मिलने जुलनेवाले मुसलमान बोलते हैं। इस प्रकार यह एक ऐसी भाषा है कि औरो की अपेक्षा इसे अधिकांश यूरोप के लोग पहले से सीखते

हैं और अनेक यूरोप के निवासियों का ज्ञान इसकी परिधि के बाहर नही जा पाता। इसी परिस्थिति के कारण लोग यह समझते है कि हिन्दुस्तान के अधिकाश भागो की यही भाषा है किन्तु वास्तविक बात तो यह है कि जहाँ शहरो मे हिन्दी बोली जाती है वहाँ से २० मील की दूरी की साधारण जनता भी उसे नही समझ पाती। यहाँ के लोग अपनी भाषाएँ बोलते है। उदाहरण के लिए बगाल मे लोग बगला बोलते हैं और इसी प्रकार अन्य प्रदेशो के लोग वहाँ की भाषाएँ बोलते है। यही कारण है कि जब कम्पनी सरकार के विनियम (कानून) हिन्दुस्तानी मे प्रकाशित होते हैं तो विभिन्न प्रदेशो के न्याय-विभाग के लोग यह आपत्ति उपस्थित करते है कि उनके प्रदेशो की जनता उन्हे नही समझ पाती। यदि इस विचारधारा का अनुगमन किया गया होता तो यह बात सहज ही विदित हो गयी होती कि यहा विभिन्न प्रदेशो की विभिन्न भाषाएँ है, जिनके अधिकाश शब्द समान है किन्तु जिनके व्याकरण के रूप तथा प्रत्यय आदि इतने विभिन्न है कि बोलने समय उसे पड़ोस के लोग नही समझ पाते।"

कैरे का भाषा सर्वेक्षण

रिपोर्ट मे (जिस पर डब्लू० कैले, जे० मार्शमैन तथा डब्लू० वार्ड के हस्ताक्षर हुए है) ऊपर कही गयी बातो के सम्बन्ध मे विस्तृत प्रमाण दिये गये हैं। ३३ भारतीय भाषाओ के ३४ नमूने दिये गये है। प्रत्येक नमूने मे सहायक क्रियाओ के वर्तमान तथा भूतकाल के स्वरूप एव 'ईश-प्रार्थना' (लार्ड्स-प्रेयर) के अनुवाद है। प्रत्येक नमूने पर पृथक् रूप से शब्दश विचार किया गया है। ऐसा करने मे यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि यह बोली के नमूने नही है वरन् ये स्वतत्र भाषा के उदाहरण है। पूरा विवरण इतना लम्बा है कि उसका यहाँ उद्धरण प्रस्तुत नही किया जा सकता लेकिन यह पढने मे अत्यधिक रोचक है क्योकि इसमे भारत की भाषाओ के क्रमबद्ध सर्वेक्षण का प्रथम प्रयत्न किया गया है। इस सिलसिले मे यह स्मरण रखना ठीक होगा कि इसकी तिथि सन् १८१६ है और इसके निर्माता कैरे, मार्शमैन तथा वार्ड है। जिन, भाषाओ के बारे मे विचार किया गया है वे इस प्रकार है—सस्कृत, बगला, हिन्दी, कश्मीरी, डोगरा, (डोगरी), वुच (लहंदा), सिन्धी (दक्षिणी सिन्ध), कच्छ, गुजराती, कोकणी, पजाबी, अथवा सिक्ख, बीकानेरी, मारवाडी, जयपुरी उदयपुरी, हाडौती, मालवी, ब्रज, बन्देलखण्डी महाराष्ट्री, मागधी (दक्षिण बिहार की भाषा), उत्तर कोसल (अवधी) मथिली।

नेपाली, आसामी, उड़ीसा अथवा उत्कल, तेलुगु, कन्नड, पश्तो अथवा अफगान, वलूची, खासी, वर्मी ।

यह सूची दो बातो मे महत्वपूर्ण है। प्रथम इससे पता चलता है कि तब तक द्रविड़ भाषाएँ—तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि एक पृथक् परिवार के रूप मे नही स्वीकृत हुई थी। यह कार्य आगे चलकर हागसन द्वारा सम्पन्न हुआ। यहाँ वे सस्कृत के उतनी ही निकट मानी गयी जितनी वगला अथवा हिन्दी। दूसरी वात यह है कि भाषा तथा वोली मे कोई अन्तर नही रखा गया है। एक ओर यहाँ वर्मी वगला और पश्तो जैसी समृद्ध भाषाओ की चर्चा की गयी है, दूसरी ओर इनके साथ ही साथ जयपुरी तथा हाडौती का उल्लेख किया गया है जो मुश्किल से दो विभिन्न वोलियाँ हैं। इन दोनो मे उतना भी अन्तर नही है जितना सोमरसेट तथा डेवन शायर की वोलियो मे। इसका कारण यह है कि कम से कम उत्तरी भारत मे अग्रेजी के "लैंग्वेज" (भाषा) शब्द के लिए और "डाइलेक्ट" (वोली) के लिए पृथक् आशय प्रकट करनेवाले कोई ठीक शब्द नही मिलते। सामान्य भारतीय लोग केवल 'वोली' से ही परिचित है। जो भारतीय यूरोपीय ढग से शिक्षित नही हैं, उनके पास सजातीय वोलियो को किसी सामान्य भाषा शीर्षक के अन्तर्गत रखने के लिए कोई एक शब्द नही है। जिस प्रकार हम सोमरसेट शायर और यार्कशायर की वोलियो की चर्चा करते हैं उस प्रकार की अनेक वोलियो के नाम तो भारतीय लोगो की जवान पर हैं किन्तु जैसे इन वोलियो का 'अग्रेजी' भाषा मे अन्तर्भाव हो जाता है, उस प्रकार का कोई एक शब्द यहाँ नही है।

कैरे के प्रतिवेदन के पश्चात् भारत की आर्य भाषाओं के सामान्य सम्वन्धो के वारे मे पुन जाँच करने का काम काफी समय तक स्थगित कर दिया गया। उसके वाद की स्थापित कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी केवल सस्कृत तथा फारसी भाषाओ के अध्ययन मे अत्यधिक व्यस्त रही और आधुनिक भाषाओ के अध्ययन का उसने अधिक कष्ट नही किया। यह सत्य है कि अधिक प्रमुख भाषाओ के प्रारम्भिक व्याकरण काफी सख्या मे तैयार किये गये हैं किन्तु सगठित रूप से इस प्रकार के अध्ययन का कोई प्रयत्न नही हुआ।

वुकनन, लीडेन तथा एन० ब्राउन

दूसरी ओर अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानो का ध्यान आर्येतर भाषाओ की ओर आकर्षित हुआ। इस सम्वन्ध मे हिन्द-चीनी वोलियो की ओर लोगो का ध्यान

सर्वप्रथम गया। सन् १७९८ मे डाक्टर फ्रासिस बुकनन ने "एशियाटिक रिसर्चेज" (भाग ५) मे वर्मा मे बोली जानेवाली कतिपय भाषाओ के तुलनात्मक शब्द-सग्रह को प्रकाशित कराया और तीन वर्ष पश्चात् डी० जे० लीडेन उसके दसवे भाग मे, हिन्द-चीनी भाषा तथा साहित्य के बारे मे लिखा। फिर सन् १८३७ मे बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल के छठें भाग मे नाथन ब्राउन ने हिन्द चीनी भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसी सम्बन्ध मे उसने अन्य लेख भी लिखे जो अमेरिका की 'ओरिएण्टल सोसाइटी' (प्राच्य सभा) की पत्रिका मे प्रकाशित हुए।

बी एच० हागसन

सन् १८२८ के एशियाटिक रिसर्चेज भाग १६ मे हम लोग एक ऐसे व्यक्ति के नाम से अवगत होते हैं जो शेष सभी लोगो से वढ चढ कर है। उक्त व्यक्ति का नाम ब्रियाँन हाटन हागसन है, जिसने नेपाल तथा भोट (तिब्वत) के बौद्धो की भाषा, साहित्य तथा धर्म के वारे मे एक लेख लिखा है। इसके पश्चात् उसने नेपाल के प्राणिविज्ञान तथा नृविज्ञान के सबन्ध मे अनेक लेख लिखे हैं लेकिन १९ वर्ष पश्चात् सन् १८४७ के एशियाटिक सोसाइटी, वगाल के जर्नल, खण्ड १६ मे उसने हिमालयवर्ती बोलियो के 'तुलनात्मक शब्द-समूह' शीर्षक लेख से अपना भाषाशास्त्रीय अध्ययन आरम्भ किया। तत्पश्चात् उसने अनेक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित कराये जिनमे भारत तथा पडोसी देशो की करीव करीव प्रत्येक आर्येतर भाषा के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की तथा सही सामग्री उपस्थित की गयी है। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उसके विचारणीय विषय का कोरा सूचीपत्र तक देना सभव नही है। इतना कह देना पर्याप्त है कि उसने भारत तथा पडोसी देश मे बोली जानेवाली करीब करीव सभी हिन्द-चीनी भाषाओ तथा मुडा एव द्रविड बोलियो के स्वरूप का तुलनात्मक शब्दसमूह प्रस्तुत किया है। इनकी उसने मध्य एशिया की अनेक भाषाओ से तुलना की है। ऐसा करने का उसका प्रमुख उद्देश्य सम्पूर्ण भाषाओ के एक सयुक्त उद्गम की खोज करना था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वह प्रथम अग्रेज था जिसने मध्य तथा दक्षिण भारतीय भाषाओ के लिए "द्रविड" शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन उसने इसके अन्तर्गत न केवल खास 'द्रविड' भाषाओ वरन् मुडा को भी शामिल किया है जो एक बिल्कुल भिन्न परिवार की भाषा है। यह सत्य है कि वह स्वत खोज की गयी सभी भाषाओ का एक सयुक्त उद्गमन

निर्धारित करने के अपने प्रिय सिद्धान्त मे असफल हुआ—यह मामला भी विचाराधीन है तथा इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे अभी तक मतभेद है—लेकिन इसमे उसके लेखो के मूल्य मे किसी प्रकार की कमी नही पडती। उसके लेखो मे भारत के मूल-निवासियो की भाषाओ के बारे मे काफी प्रमाण दिये गये हैं जिसका महत्व कभी कम नही हो सकता। इसका महत्व, क्षेत्र की व्यापकता, विन्यास की स्पष्टता तथा वर्णन के सही होने मे निहित है। भारतीय भाषाओ तथा नेपाल की छिटपुट जातियो की भाषाओ के सम्बन्ध मे हागसन का अन्तिम लेख सन् १८५८ मे सोसाइटी के जर्नल के २७ वे भाग मे प्रकाशित हुआ था। इस जर्नल से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस प्रकार उसके साहित्यिक कार्य ३० वर्षों तक जारी रहे।

हंटर

१० वर्ष के पश्चात् सन् १८६८ मे हटर की भारत तथा एशिया की भाषाओ के तुलनात्मक शब्दकोश के सवर्धित पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे कुछ नयी बातो को सम्मिलित कर हागसन के भाषा सम्बन्धी सग्रहो के परिणामो को सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया गया है ताकि वह छात्रो के लिए सुविधाजनक हो सके।

मैक्समूलर—मुंडा भाषाएँ

हागसन के अनुसन्धानो का सर्वप्रथम परिणाम सन् १८५४ मे मैक्समूलर द्वारा लिखित वह पत्र था जिसे उन्होंने शेवेलियर को लिखा था। इस पत्र मे मूलर ने प्रथम बार, द्रविड़ भाषाओ से पृथक् परिवार के रूप में मुडा के अस्तित्व का उल्लेख एवं उसका नामकरण किया था।

१. उन्होंने स्वयं यह नामकरण किया था और विद्वानों मे स्वीकृति परम्परा के अनुसार, अनुसंधानकर्त्ता को, इस प्रकार के नामकरण का अधिकार है। अन्य विद्वानो से यह आशा की जाती है कि जब तक यह नाम असिद्ध न हो जाय तब तक वे इस नाम का ही प्रयोग करें। वनस्पति तथा प्राणिशास्त्र में भी यही होता है और भाषाशास्त्र मे भी यही होना चाहिए; किन्तु बाद के लेखकों ने इस शिष्टाचार का अतिक्रमण किया तथा इस परिवार का नया नामकरण किया। ये नाम 'कोल' अथवा असंगत नाम 'कोलारियन' हैं। ये नाम केवल भ्रमात्मक ही नहीं हैं, अपितु इसका आधार यह अनुमान है कि इसके बोलने वाले दक्षिण भारत के

काल्डवेल—द्रविड़ भाषाएं

इसके दो वर्ष बाद, सन् १८५६ मे, विशप काल्डवेल कृत द्रविड अथवा दक्षिणीपरिवार की भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित हुआ। तभी से दक्षिण भारत की बोलियो के सम्बन्ध मे अनुसन्धान-कार्य का सूत्रपात्र हुआ। यह प्रथम अवसर था जब भारतीय भाषाओ के एक विशेष परिवार का अध्ययन एक ऐसे विद्वान् द्वारा सम्पन्न हुआ जो उन भाषाओ के तत्व से परिचित होने के साथ-साथ योग्य भाषाशास्त्री भी था।

लोगन—हिन्द चीनी भाषाएं

इसी समय हिन्द चीनी भाषाओ का भी अध्ययन होने लगा। अथक परिश्रम करनेवाले विद्वान् 'लोगन' ने 'इण्डियन आर्कीपिलेगो' के जर्नल मे अपने कई लेख प्रकाशित कराये, जिनमे बर्मा तथा असम प्रदेश की भाषाओ की तुलना तथा व्याख्या की गयी थी। लोगन का भाषाशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान काल्डवेल के समान न था, यही कारण है कि उसकी कृतियाँ उतनी प्रामाणिक नही है जितनी पादरी काल्डवेल की। लेकिन उसने जिन भाषाओ का वर्णन किया है उनके सम्बन्ध के बारे मे उसने अनेक मौलिक सुझाव पेश किये है और परवर्त्ती अनुसन्धानो द्वारा इन सुझावो की पुष्टि भी हुई (उसकी कृतियाँ मुश्किल से आजकल उपलब्ध हैं)।

फारबेस तथा कुन

फारबेस का वृहत्तर भारतीय भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण उनकी मृत्यु के बाद सन् १८८१ मे प्रकाशित हुआ। यह एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके बाद स्वर्गीय प्रोफेसर अर्नेस्ट कुन ने इस शाखा की भाषाओ का गभीर अध्ययन

कोलर स्थान से आये। वास्तव मे यह निराधार है। इस सर्वेक्षण मे, मैने सर्वत्र इस परिवार के लिए इसके आविष्कर्ता द्वारा प्रदत्त नाम का ही प्रयोग किया है। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि इन भाषाओ के बोलनेवालो के लिए संस्कृत साहित्य में भी इसी नाम का प्रयोग, मैक्समूलर के जन्म के शताब्दियो पूर्व, किया गया है। आगे देखो पृ० ७०, की दूसरी टिप्पणी।

किया और वृहत्तर भारतीय भाषाओ के भाषाशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन की नींव को सुदृढ़ आधार पर रखा ।

डब्लू० शिमिट—आस्ट्रो-एशियाटिक आस्ट्रिक

उनसे उन अनेक नये छात्रो को प्रेरणा मिली जो इन दिनो इस सम्बन्ध मे कार्य कर रहे हैं। इनमे पेटर डब्लू शिमिट का नाम अति प्रसिद्ध है। उन्होंने मान-खमेर के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है जो सन् १९०६ मे प्रकाशित हुआ था। पेटर शिमिट ने यह सिद्ध किया है कि मान-खमेर भाषाएँ वस्तुत भारत की मुण्डा भाषाओ तथा इण्डोनेशिया की भाषाओ के बीच की एक कडी हैं। इनमे से प्रथम दो भाषाओ को खासी तथा कतिपय अन्य बोलियो के साथ सम्मिलित करके शिमिट ने इनका आस्ट्रो-एशियाटिक नामकरण किया है। श्री शिमिट ने इसके आगे भी कार्य किया है। आपने स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित किया है कि इण्डोनेशिया, मेलेनेशिया तथा पालीनेशिया की भाषाओ का भी एक वर्ग है जिसे आस्ट्रोनेसिक कहना उचित है। इस प्रकार से इण्डोनेशियन भाषाएँ आस्ट्रोए-शियाटिक तथा आस्ट्रोनेसिक भाषाओ के बीच के सम्बन्ध को जोडनेवाली हैं। यह सम्पूर्ण भाषाएँ एक वृहद् भाषा परिवार का निर्माण करती हैं जिसे आस्ट्रिक कहा जा सकता है। यह भाषा-परिवार मध्य-भारत के पर्वतीय भागो से लेकर दक्षिणी अमेरिका के तट से दूर ईस्टर द्वीप तक फैला हुआ है और इसका क्षेत्र भारोपीय बोलियो के क्षेत्र से भी अधिक विस्तृत है ।

भारतीय आर्य भाषाएं

उधर बगाल की एशियाटिक सोसाइटी का ध्यान भारतीय आर्य भाषाओ के अध्ययन की ओर केन्द्रित हुआ। प्रारम्भ मे इसके तत्वावधान में कई विशिष्ट भाषाओ अथवा बोलियो के व्याकरण तथा शब्द-समूह सम्बन्धी पुस्तको का निर्माण हुआ जिनसे हमारा यहाँ प्रयोजन नही है।

लीच

किन्तु इस दिशा में मेजर राबर्ट लीच ने जो आश्चर्यजनक प्रारम्भिक कार्य किया उसका उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अथक परिश्रम तथा सूक्ष्म गवेषणा के साथ इन अनेक भाषाओ के व्याकरण एव शब्द-समूहों का अध्ययन किया था

जो अव तक अछूती रह गयी थी। सन् १८३८ तथा १८४३ के बीच उन्होने ब्राहुई, वलोची, पजावी, पश्तो, बुदेली तथा कश्मीरी भाषाओ के व्याकरण का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त उन्होने ओरमुडी, पशै, लगमानी, खोवर, तिराही एव दीरी के शब्द-समूहो का सकलन प्रस्तुत किया। इनमे से कतिपय भाषाओ के सम्बन्ध मे तो आज भी केवल लीच के ग्रथ ही प्रमाणिक है क्योकि या तो ये भाषाएँ समाप्त हो चुकी हैं अथवा इनके क्षेत्र मे किसी अन्य अग्रेजी कर्मचारी को जाने का अवसर ही नही मिला है। अन्य भाषाओ के सम्वन्ध मे १९ वी शताव्दी के अन्त मे कतिपय ऐसी खोजें अवश्य हुई है जो लीच की खोजो से वढकर है।

सर एर्स्किन पेरी

कैरे की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के सैंतीस वर्ष वाद, वम्वई मे भारतीयआर्य-भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य पुन प्रारम्भ हुआ। इसका प्रमाण रायल एशियाटिक सोसायटी की वम्वई शाखा के जर्नल के चौथे भाग मे मिलता है। सन् १८५३ के जनवरी के अक मे, वम्वई के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश तथा सोसाइटी के अध्यक्ष सर टॉमस एर्स्किन पेरी ने भारत की मुख्य भाषाओ के भौगोलिक विभाजन के सम्वन्ध मे अपना एक लेख प्रकाशित कराया। उन्होने भारत की भाषाओ को दो वडे वर्गो मे विभाजित किया। इनमे से एक था उत्तर मे, वाहर से आये हुए आर्यो की भाषा अथवा सस्कृत का वर्ग तथा दूसरा था भारत के दक्षिण मे, सुसस्कृत जातियो की भाषा का वर्ग जिसका प्रतिनिधित्व उसकी सर्वाधिक समृद्ध भाषा तमिल करती है। प्रथम के अन्तर्गत उन्होने सात भाषाओ को रखा। ये हैं—हिन्दी, कश्मीरी, वगला, गुजराती, मराठी, कोकणी तथा अपनी दस वोलियो सहित उडिया। पेरी ने पजावी, लहदा (जिसे उन्होने मुल्तानी कहा है), सिन्धी तथा मारवाडी को हिन्दी की वोलियो के रूप मे स्वीकार किया है और मैथिली को वगला की वोली माना है। उनके ऐसा लिखने के वाद, इनमे से कई वोलियो ने तो आज स्वतत्र भाषाओ का रूप धारण कर लिया है। दक्षिण की भाषाओ को तो उन्होने तूरानी अथवा तमिल सज्ञा प्रदान की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय उन्हे द्रविड शब्द का पता न था जिसका प्रयोग हागसन तथा काल्डवेल, दोनो ने ही सन् १८५६ मे किया था। पेरी ने तेलुगू, कन्नड, तमिल, मलयालम, तुलु तथा प्रश्नवाचक चिन्ह के साथ गोडी का उल्लेख किया है। उन्होने प्रत्येक भाषा की सामान्य विशेषताओ का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है और

प्रत्येक के स्वरूप का भी सावधानी से वर्णन किया है। इसके साथ ही उन्होने इनका एक सुन्दर भाषासम्बन्धी मानचित्र भी दिया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने हिन्दचीनी भाषाओं का बिल्कुल ही जिक्र नही किया और इसी प्रकार उन्होने मुण्डा भाषाओ की भी चर्चा नही की जिनका पता मैक्समूलर को भी एक वर्ष बाद लग पाया। जिस समय पेरी भारतीय भाषाओ के भौगोलिक वितरण का अध्ययन कर रहे थे उसी समय बम्बई के एक अन्य विद्वान् आर्य तथा द्रविड भाषाओं के एक दूसरे पर प्रभाव का अध्ययन कर रहे थे।

स्टेवेन्सन

[illegible] के एशियाटिक सोसाइटी जर्नल के उसी भाग मे जे० स्टेवे[illegible] लेख प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था—भारतीय भाषाओ मे [illegible] अथवा अनार्य भाषाओ के शब्द-समूहो का तुलनात्मक अध्ययन। इस [illegible] सूक्ष्मता के साथ विभिन्न भारतीय आर्य भाषाओ मे द्रविड [illegible] तथा नृवैज्ञानिक दृष्टि से उनके महत्व पर विचार किया गया है। उस [illegible] भाषा-विज्ञान का अध्ययन जिस स्थिति मे था उसे देखते हुए अनिवार्य था कि स्टेवेन्सन के तुलनात्मक अध्ययन मे अनेक भूले हो किन्तु इतना [illegible] भारतीय भाषाओ के सामान्य अध्ययन के सम्बन्ध मे यह लेख अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

बीम्स

इसी समय भारत के एक दूसरे भाग मे, सन् १८६७ मे जान बीम्स नामक एक युवक सिविल सर्विस के अधिकारी ने, जिसने केवल दस वर्ष तक ही नौकरी की [illegible] "[illegible] भाषाओं की रूपरेखा" शीर्षक के अन्तर्गत इस देश की सभी भाषाओ का संक्षिप्त विवरण उपस्थित करके लोगो का ध्यान आकर्षित किया। इसके पाँच वर्ष बाद जान बीम्स की प्रसिद्ध कृति का प्रथम भाग "भारतीय आर्य भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन" प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष इसी विषय पर बगाल की एशियाटिक सोसायटी के जर्नल मे डाक्टर हार्नले का प्रथम लेख प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् १८८० मे उनका अपना गौडीय भाषाओ के साथ पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाश मे आया। तब से ये दोनो सुन्दर कृतियाँ जो अपने रूप मे अत्यधिक श्रेष्ठ एव महत्वपूर्ण है भारतीय आर्य भाषाओ के विकास तथा

पारम्परिक सम्बन्धो के विषय मे होनेवाली सभी अनुसन्धानो की मुख्य आधार-शिला बन गयी। इस बीच अनेक वर्षो तक विविध भारतीय भाषाओ के व्याकरणो एव शब्द-समूहो के सम्बन्ध मे अनेक पुस्तके प्रकाशित हुई। हिन्दोस्तानी, मराठी अथवा बगाली जैसी प्रसिद्ध भाषाओ के सम्बन्ध मे तो सैकडो पुस्तके प्रकाश मे आयी किन्तु इनमे से अधिकाश व्यर्थ थी और इनके तैयार करने मे परिश्रम का केवल अपव्यय किया गया था। इन पुस्तको के लेखको मे से प्रत्येक लेखक ने अपनी क्षमता के अनुसार अपने पूर्ववर्ती लेखको का अनुकरण किया, कभी-कभी कुछ अशुद्धियो को भी ठीक किया और कभी कभी उन्हे छोड भी दिया, कतिपय नयी अशुद्धियाँ भी की, अपनी ओर से नवीन सिद्धान्तो की घोषणा की जो वास्तव मे नवीन न थे। इस बीच यदा-कदा कतिपय महत्वपूर्ण पुस्तको का भी प्रकाशन हुआ। इनमे मोल्सवर्थ कृत मराठी शब्दकोश, ट्रम्प कृत सिन्धी व्याकरण तथा केलाग कृत हिन्दी व्याकरण उल्लेखनीय हैं, किन्तु शेष कृतियो मे से अधिकाश बेकार थी और शायद ही उनकी आवश्यकता थी। अनेक अल्प परिचित भाषाओ को जिनका अध्ययन परिचित भाषाओ की ही तरह महवत्पूर्ण था छोड दिया गया। कैरे ने सन् १८५२ ई० मे अपना पजाबी का व्याकरण लिखा। तत्पश्चात् लीच ने इसका सक्षिप्त विवरण उपस्थित किया। इसके बाद लगभग चालीस वर्ष तक, किसी ने भी, औपचारिक रूप से सिक्खों की इस भाषा का उल्लेख नही किया। जब लाखो की सख्या मे बोलने वाले लोगो की भाषाओ की यह दशा थी तो हजारो की सख्या मे बोलनेवालो की सैकडो छोटी-छोटी भाषाओ के सम्बन्ध मे क्या कहा जाय ? यही कारण है कि मध्य भारत की पर्वतीय जातियो, पूर्वी बगाल तथा असम के तिब्बती-बर्मी लोगो की भाषाओ की स्थिति और भी खराब थी। कभी-कभी यहाँ वहाँ इन भाषाओ के व्याकरण तथा शब्द-समूह के सम्बन्ध मे कोई उत्साही व्यक्ति कुछ लिख देता है। सरकार अपनी ओर से अपने अधिकारियो को इस सम्बन्ध में कार्य करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करती थी और कतिपय लोगो ने इस दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य भी किया।

सर जार्ज कैम्बेल

सन् १८७४ ई० मे बगाल के तत्कालीन लेफ्टीनेंट गवर्नर, सर जार्ज कैम्बेल ने स्थानीय अधिकारियो द्वारा एकत्र किये हुए शब्द-समूहो के कई सकलनो को प्रकाशित किया। किन्तु इसके अतिरिक्त इस दिशा मे बहुत कम कार्य

हुआ और विदेशियो की सहायता के बावजूद भी इस कार्य मे प्रगति न हो सकी।

रूसियो द्वारा अनुसन्धान-कार्य

अफगानिस्तान की भाषा पश्तो का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण व्याकरण रूसी विद्वान् डोर्न ने लिखा। यद्यपि बाद मे अंग्रेजो ने पश्तो के कई व्याकरण लिखे तथापि इसके अध्ययन का कार्य फ्रेंच और जर्मन विद्वानो के हाथ मे ही रहा। इसी प्रकार नैपाल की प्रमुख भाषा नेवारी के एकमात्र व्याकरण तथा उसके शब्द-समूह का अध्ययन भी एक रूसी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, किन्तु बाहर के विद्वानो की सहायता से भी शासन तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से इन साधारण भाषाओ का जो अध्ययन हुआ वह अति साधारण और नगण्य जैसा था। सच बात तो यह है कि सन् १८७८ तक कोई विद्वान् भारत मे बोली जाने वाली सभी भाषाओ की सूची तक भी तैयार न कर सका और उस समय लोगो का अनुमान था कि यह सख्या ५०-६० से लेकर २५० तक होगी।

कस्ट

इसी वर्ष डा० कस्ट ने साहस करके इस प्रकार की सूची बनाने का उद्योग किया किन्तु उनकी पुस्तक "पूर्वी द्वीपसमहो की आधुनिक भाषाएँ" (माडर्न लैंग्वेजेज ऑव दि ईस्ट इण्डीज़) काफी परिश्रम और गम्भीरता के साथ लिखी जाने पर भी उस समय तक उपलब्ध सामग्री का सकलन मात्र थी जो स्वय अपूर्व थी। सच बात तो यह है कि डा० कस्ट का कार्य एक प्रकार से प्रयोगात्मक था जिसका प्रमुख उद्देश्य लोगों को भाषासम्बन्धी अध्ययन मे प्रवृत्त करने का था।

डा० कस्ट अपने उद्देश्य मे सफल हुए और लोगो मे भाषा सम्बन्धी अध्ययन के लिए स्फूर्ति आयी। यह पहला अवसर था जब कि सरकार एव यूरोपीय विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि इस क्षेत्र मे कितना अल्प कार्य हुआ है तथा कितना अधिक कार्य करना अभी शेष रह गया है। जनता मे इसकी चर्चा हुई और इस सम्बन्ध मे लिखा भी गया।

सन् १८८६ की वियेना कांग्रेस

सन् १८८६ मे वियेना की ओरियण्टल काग्रेस मे अन्तिम रूप से इस सम्बन्ध

मे विचार हुआ। डा० कस्ट स्वय इस काग्रेस के एक सदस्य थे। सम्मेलन मे समवेत विद्वानो ने एक प्रस्ताव द्वारा भारत सरकार से यह अनुरोध किया कि वह भारत की भाषाओ का विधिवत् सर्वेक्षण कराये।[1] इस प्रस्ताव को सरकार ने सहानुभूतिपूर्वक स्वीकार तो किया किन्तु आर्थिक कारणो से इस सम्वन्ध मे विस्तृत योजना बनाने मे देर हुई। सन् १८९४ ई० मे यह प्रस्ताव व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत आया और इस सम्वन्ध की प्रारम्भिक विस्तृत योजना पर विचार हुआ। सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि इस सर्वेक्षण की सीमा क्या हो ?

भारत का भाषा-सर्वेक्षण

विभिन्न स्थानीय सरकारो से परामर्श के पश्चात् मद्रास तथा वर्मा प्रदेशो एव हैदरावाद एव मैसूर राज्यो को इस सर्वेक्षण की सीमा से पृथक् रखने का निर्णय किया गया ताकि इसके अन्तर्गत हमारे भारतीय साम्राज्य की कुल २९ करोड ४० लाख जनसख्या मे से २२ करोड ४० लाखवाली आबादी का भाग, जिसमे पश्चिम से पूर्व तक बलोचिस्तान, पश्चिमोत्तर सीमान्त, कश्मीर, पजाब, वम्बई प्रेसीडेन्सी, राजपूताना एव मध्य भारत, मध्य प्रदेश तथा बरार, सयुक्त प्रदेश आगरा व अवध, बिहार एव उडीसा, बगाल तथा असम[2] प्रदेश सम्मिलित हैं, आ सके।

सर्वेक्षण का आधार

अब सर्वेक्षण के स्वरूप पर विचार होने लगा। कुछ वाद-विवाद के पश्चात् यह निर्णय हुआ कि यह प्रमुख रूप से भिन्न भाषाओ के नमूनो का सकलन होगा। एक आदर्श उद्धरण को तुलना के लिए चुन लिया जायगा और इसका सर्वेक्षण के

१. इस प्रस्ताव के प्रस्तावक डा० बूलर तथा समर्थक प्रो० वेवर थे। शब्दो तथा पत्रो द्वारा इसके समर्थक सर्वश्री बार्थ, बेण्डल, कावेल, कस्ट, ग्रियर्सन, हार्नले, मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, रोस्टे तथा सेनार्ट थे।

२. मैंने विभिन्न प्रान्तो का नाम आजकल के ही अनुसार रखा है। सन् १८९४ मे बिहार तथा उडीसा बगाल प्रान्त के ही भाग थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आजकल बर्मा में भी सर्वेक्षण का कार्य चालू है।

क्षेत्र मे बोली जानेवाली प्रत्येक ज्ञात भाषाओ एव बोलियो मे अनुवाद किया जायगा। चूँकि यह नमूना आवश्यक रूप से अनुवाद होगा जिसमे विभिन्न बोलियो तथा भाषाओ के मुहावरो के आने मे सन्देह होगा, अत प्रत्येक भाषा तथा बोली का दूसरा नमूना भी सगृहीत किया जायगा। यह नमूना लोकगीत अथवा विवरणात्मक गद्य का होगा और इसे लोगो के मुख से सुनकर उसी रूप मे लिख लिया जायगा। तदुपरान्त इस योजना मे एक तीसरा नमूना भी सम्मिलित किया गया, यह उन आदर्श शब्दो एव परीक्षित वाक्यो की एक सूची थी जो भारत मे बहु-प्रचलित थी तथा जिसे सन् १८६६ मे सर जार्ज कैम्बेल ने बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के लिए तैयार किया था।[1] तुलना के उद्देश्य से इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया कि इस सूची को सम्पूर्ण रूप से लिया जाय और ऐसा ही किया भी गया, किन्तु इसके साथ ही इसमे कुछ अधिक शब्द भी जोड दिये गये। इस प्रकार इस सर्वेक्षण के आधार ये तीन उदाहरण थे—आदर्श अनवाद, स्थानीय चुने गये उद्धरण तथा शब्दो एव वाक्यो की सूची। इसके बाद यह निश्चय किया गया कि प्रथम नमूना बाइबिल के अपव्ययी पुत्र (प्रोडिगल सन) की कथा होगी। इसमे भारतीय भावना का विचार करके यत्किंचित् परिवर्तन भी कर दिया गया। इस उद्धरण का प्रयोग पहले भी किया जा चुका था और अनुभव से यह विदित हुआ था कि इस कार्य के लिए यह अत्यधिक उपयुक्त था।[2]

इस निर्णय के पश्चात् मुझे भाषासम्बन्धी नमूनो को सकलित करने तथा उन्हें प्रकाशन के लिए सम्पादित करने का कार्यभार सौपा गया। इस उद्देश्य से विभिन्न स्थानीय अधिकारियो को मुझे आवश्यक सहायता प्रदान करने का आदेश दिया गया और यदि मैं भारतीय सरकार की सेवाओ मे काम करनेवाले अपने भाइयो तथा अन्य लोगो के द्वारा जिनमे यूरोपीय तथा भारतीय धर्मप्रचारक तथा अन्य साधारण लोग भी थे, सहानुभूतिपूर्ण तथा नि सकोच भाव से प्रदान की गयी सेवाओ के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन नही करता तो यह मेरी कृतघ्नता होगी।

१. जे० ए० एस० बी० खण्ड XXXV भाग II विशेष अंक, पृष्ठ २०१ तथा आगे।

२ इसमे तीनो पुरुषों के सर्वनाम, सज्ञा के रूपो को सिद्ध करनेवाले अधिकांश कारक तथा वर्तमान, भूत एव भविष्यत् काल की क्रियाओं के रूप हैं।

भाषाओ की प्रारम्भिक सूची

नमूनो को प्राप्त करने से पूर्व सबसे पहले यह देखना था कि हम किसका नमूना लेने जा रहे है। इसके लिए प्रथम कार्य यह था कि सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत उस समय विद्यमान सभी विभिन्न भाषाओ तथा बोलियो की सूची तैयार की जाय। इसके लिए एक परिपत्र (फार्म) तैयार किया गया जिसे प्रत्येक जिला-अधिकारी तथा राजनीतिक एजेन्टो के पास इस अनुरोध के साथ भेज दिया गया कि वे उक्त परिपत्र मे अपने क्षेत्र मे बोली जाने वाली प्रत्येक भाषा का नाम तथा उसके बोलने वालो की सख्या भरकर भेज दे। धीरे-धीरे वे परिपत्र (फार्म) तथा उनमे लिखित नमूने मेरे पास वापस आये जिन्हे देखकर मैं आश्चर्यचकित हो उठा। इसके अनुसार सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत २३१ भाषाएँ तथा ७७४ बोलियाँ मिली है। भाग्यवश जाँच के बाद यह भी पता चला कि विभिन्न प्रदेशो, से, इनमे से कतिपय नाम दो बार तीन बार आ गये थे और सम्भवत ऐसा भी हुआ कि एक ही भाषा के नमूने विभिन्न नामो से आये। इन सब बातो पर विचार करने के पश्चात् मैं अब यह कह सकता हूँ कि भारतीय साम्राज्य के उस क्षेत्र मे, जहाँ यह सर्वेक्षण का कार्य सम्पन्न हुआ, १७९ भाषाएँ तथा ५४४ बोलियाँ प्रचलित है। इन सबका सर्वेक्षण के विभिन्न भागों मे वर्णन किया गया है। सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्य मे १८८ भाषाएँ थी।[1] जनगणना मे बोलियो की सख्या नही दी गयी है।

सूचियो का संकलन

भाषासम्बन्धी सूचियो को तैयार करना कोई साधारण कार्य न था और न यह ऐसा काम था जिसे कोई बुद्धिमान् लिपिक (क्लर्क) कर सकता था। प्रत्येक प्रदेश मे बोली जानेवाली भाषाओ की सूची की सहायता से समस्त देश के लिए एक सामान्य सूची तैयार करने मे जो कठिनाई हुई वह अब समाप्त हुई। विभिन्न सूत्रो से प्राप्त सैकडो परिपत्रो मे उपलब्ध सामग्री को एक साथ रखने का जिन्हे अनुभव है वे ही इसकी कठिनाई को जान सकते हैं और जिन्हे इस प्रकार का अनुभव नही है वे अनु-

१. जब बर्मा का सर्वेक्षण समाप्त हो जायगा तो निस्सन्देह ये संख्याएँ भी बढ़ जायेंगी।

मान कर सकते हैं। सबसे अधिक कठिनाई तो प्राय स्थानीय सूत्रो से प्राप्त सामग्री को ठीक करने मे ही हुई और यह कार्य मुझे करना पडा। प्रत्येक अधिकारी अब अपने जिले की प्रमुख भाषा से परिचित था और यदि उसे वहाँ पर्याप्त समय तक रहने का अवसर मिलता तो उसे उस भाषा का व्यावहारिक अनुभव भी हो जाता, लेकिन कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही शिक्षित क्यो न हो, किसी प्रदेश मे मुख्य रूप से बोली जानेवाली भाषा के बीच मे एक छोटे-से समूह द्वारा व्यवहृत बोली का पता नही लगा सकता था। किन्तु इस सम्बन्ध मे जब जाँच की गयी तो उसका भी पता लग गया। इसका यहाँ एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। हिमालय-वर्ती एक जिले मे, जहाँ की मुख्य भाषा आर्य है, एक ऐसी छोटी बस्ती का पता चला जहाँ के लोग मूलत तिब्बत से आये थे और वहाँ तिब्बती भाषा भी प्रचलित थी। किसी भी अधिकारी को इसका पता न था। एक अन्य भाषा के माध्यम से यहाँ के लोगो से सम्पर्क स्थापित किया गया। जिला-अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट मे इस भाषा का नाम दर्ज कर दिया। यह नाम एक या दो शब्दो का नही था। यह एकाक्षर शब्दो का एक पूरा पृष्ठ था। मैं इसे समझ न सका और न तिब्बती भाषा के जानकार मेरे मित्र ही उसे समझ पाये। वास्तव मे यहाँ तिब्बती को अग्रेजी अक्षरो के द्वारा व्यक्त करने का उद्योग किया गया था और इसे लिखनेवाला व्यक्ति तिब्बती भाषा से बिलकुल परिचित न था और उसने जैसा अनुमान लगाया वैसा ही लिख दिया था। उस भाषा का नाम समझने के प्रयत्न मे मैं असफल रहा। अन्त मे मैंने जिला-अधिकारी को इस सम्बन्ध मे पुन जाँच करने के लिए लिखा। उत्तर मे यह स्पष्टीकरण आया कि एकाक्षर शब्दो मे लिखित शब्दसमूह वस्तुत. किसी भाषा का नही है अपितु टूटी-फूटी तिब्बती के द्वारा यह आशय प्रकट करने का स्थानीय ढग है कि 'आप क्या चाहते हैं, मैं समझ नही पा रहा हूँ।'

भाषा का स्थानीय नामकरण

दूसरी कठिनाई स्थानीय बोलियो के नाम की थी। जिस प्रकार से एक फ्रेंच प्रहसन का पात्र यह नही जानता था कि वह जीवन भर गद्य बोलता रहा, उसी प्रकार एक सामान्य भारतीय ग्रामीण यह नही जानता कि जिस बोली को वह बोल रहा है उसका नाम भी है। वह अपने यहाँ से पचास मील की दूरी पर बोली जानेवाली बोली का नाम तो बता सकता है, किन्तु जब उसकी बोली का नाम पूछा जाता है तो वह कह उठता है, "ओह, मेरी बोली का तो कुछ नाम नही है, यह तो विशुद्ध

भाषा है।" इस प्रकार वहुत सी बोलियो के नाम उनके बोलनेवालो से नही प्राप्त हुए अपितु उनके पडोसियो के द्वारा बतलाये हुए हैं। कही-कही तो यह नाम भी विचित्र है। उदाहरणस्वरूप पजाब के दक्षिण की एक बोली का नाम जगली है। यह जगल अथवा बीकानेर की सीमा के मरुस्थल प्रदेश की बोली है। किन्तु जगली का एक अर्थ असभ्य भी होता है और इस बोली की जाँच करते समय एक भी व्यक्ति ऐसा नही मिला जो यह स्वीकार करता कि वह यह बोली बोलता है। जिससे भी पूछा जाता था वह यही कहता था, "हाँ, हम लोग जगली बोली के सम्बन्ध मे जानते है किन्तु वह यहाँ नही बोली जाती, यहाँ से कुछ दूर आगे बढने पर वह बोली आपको मिलेगी।" आगे वढने पर भी प्राय यही उत्तर मिलता था और इस बोली के सम्बन्ध मे खोज करनेवाला व्यक्ति राजपूताने के रेगिस्तान के उस भाग मे पहुंच जाता था, जहाँ कोई बोली नही बोली जाती। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय अधिकारियो को बोलियो के नाम तथा उनकी पहचान के सम्बन्ध मे कितनी कठिनाइयो का सामना करना पडा होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्थानीय सूचियो के आधार पर प्रादेशिक सूचियाँ तैयार की गयी और तब उन्हे प्रकाशित किया गया। इन्हे भारत की बोलियो एव भाषाओ की शुद्ध एव ठीक सूची नही कहा जा सकता। इन सूचियो से केवल उस समय की वस्तुस्थिति एव तत्कालीन भाषाओ एव बोलियो के सम्वन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध मे सूचना देने वाले भी स्थानीय अनुभवी अधिकारी ही थे जो भाषाशास्त्र के विशेषज्ञ होने का दावा नही कर सकते। सच तो यह है कि यही लोग इस सर्वेक्षण के आधार वने। जव सूचियाँ प्रकाशित हुई तो उन्हे दो मुख्य वर्गों मे विभाजित किया गया। इनमे पहले वर्ग के अन्तर्गत उन बोलियो को स्थान मिला जो किसी विशेष अचल मे बोली जाती थी और दूसरे वर्ग मे उन्हें रखा गया जिनका व्यवहार इन अचलो मे रहनेवाले विदेशी लोग करते थे। दूसरे वर्ग की बोलियो को विलकुल छोड दिया गया और केवल प्रथम वर्ग पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया।

नमूनो का संग्रह

इसके वाद प्रत्येक जिलाधिकारी को यह आदेश दिया गया कि वह अपने जिले मे व्यवहृत प्रत्येक स्थानीय भाषा के तीन नमूने भेजे। इन नमूनो को तैयार करने मे सावधानी बरतने का भी आदेश दिया गया। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए

कि इनमे से प्रथम नमूना "अपव्ययी पुत्र की कथा" का अनुवाद था। इस सम्बन्ध मे इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि अधिकाश अनुवादक अंग्रेजी जाननेवाले न हो। उन्हे सहायता देने के लिये ब्रिटिश तथा विदेशी बाइबिल सोसायटी के मिशनरियो, स्थानीय मिशनरियो तथा सर्वेक्षण मे विशेष रूप से दिलचस्पी रखनेवाले एक या दो सरकारी अधिकारियो की मदद से इस कथा का अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओ मे कराकर सगृहीत किया गया। यह सग्रह सन् १८९७ मे "विभिन्न भारतीय भाषाओ मे नमूने के अनुवाद" शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। इसके ३५ पाठान्तर थे और इनका मूल उद्देश्य सर्वेक्षण की योजना को कार्यान्वित करने मे सहायता देना था। इससे यूरोप के विद्वानो मे कुछ समय के लिए उत्सुकता भी पैदा हुई। ऐसा अनुमान किया गया कि जिसे अंग्रेजी का ज्ञान भी नही है, उसे भी सर्वेक्षण के लिए नमूना तैयार करते समय, इस सग्रह के किसी न किसी पाठ से अपनी भाषा अथवा बोली मे अनुवाद करने मे सहायता मिल जायगी। बाद के अनुभवो से इसकी पुष्टि भी हुई।

द्वितीय नमूने के सम्बन्ध मे इस प्रकार की कोई कठिनाई नही हुई क्योकि इसके चुनाव का भार स्थानीय लोगो पर था। लेकिन इसके सम्बन्ध मे निम्नलिखित आदेश दिये गये—(क) यदि कोई स्थानीय लिपि प्रचलित हो तो इस नमूने को उसी मे देना चाहिए। (ख) इसका दूसरा रूप रोमन लिपि मे होना चाहिए और प्रत्येक पक्ति का शब्दश अनुवाद उसी के नीचे देना चाहिए। इस द्वितीय नमूने का स्वतत्र अनुवाद अच्छी अंग्रेजी मे भी देना था। स्थानीय अधिकारियो को यह भी आदेश दिया गया कि देशी भाषा मे अनुवाद करते समय साहित्यिक भाषा का प्रयोग नही होना चाहिए, क्योकि इस नमूने का मुख्य लक्ष्य यह है कि इसे प्रत्येक अनुवादक की मातृ-भाषा मे प्राप्त किया जाय, चाहे वह गँवारू बोली ही क्यो न हो। तीसरे नमूने मे आदर्श शब्द एव वाक्य थे। इन्हे छपे हुए फार्म के रूप मे पुस्तकाकार तैयार किया गया था। इनमे खाली स्थानो को भरकर भेजना था।

जब प्रत्येक प्रान्त की भाषाओ की सूची तैयार हो गयी तो भाषाओ एव बोलियो के नमूने भेजने के लिए परिपत्र भेजे गये। ये नमूने सन् १८९७ मे आने शुरू हो गए और सन् १९०० के अन्त तक तो अधिकाश आ भी गये, यद्यपि कतिपय नमूने बाद के वर्षो मे भी आते रहे। इनकी जाँच तथा सम्पादन का काम सन् १८९८ मे आरम्भ हुआ। सर्वेक्षण का प्रारम्भिक कार्य इस प्रकार भारत मे ही सम्पन्न हुआ, किन्तु सन् १८९९ मे मैं इग्लैण्ड वापस चला गया और वहाँ कई वर्षो तक

क्रिश्चियाना के डा० कोनो (जो अब प्रोफेसर हो गये है) योग्यतापूर्वक मेरी सहायता करते रहे।

नमूनो का सम्पादन

नमूनो का सम्पादन रोचक कार्य था, लेकिन इसमे कुछ अप्रत्याशित कठिनाइयाँ आयी। कुछ भी प्रकाशित करने से पूर्व, वर्गीकरण की एक सामान्य पद्धति निर्धारित करना आवश्यक था, किन्तु इसके आधारस्वरूप प्राप्त सामग्री का ज्ञान अपूर्ण था। जैसे-जैसे कार्य आगे बढता गया, वैसे-वैसे ऐसे नवीन तथ्य सामने आये जिनके कारण वर्गीकरण मे सशोधन आवश्यक हो गया। कभी-कभी तो इस प्रकार के सशोधन बहुत देर से हुए जिससे प्राप्त ज्ञान के आधार पर सामग्रियो को, उस रूप मे सुव्यवस्थित ढग से नही रखा जा सका जिस रूप मे, मैं अब रखना चाहता हूँ। यह बात हिन्द-चीनी भाषाओं के सम्बन्ध मे खास तौर से हुई। इन भाषाओ का न तो कोई व्याकरण ही उपलब्ध था और न शब्दकोश ही, अतएव मुझे तथा मेरे सहायक को ऐसे मार्ग से चलना पडा जिस पर किसी अन्य विद्वान को चलने का अवसर नही मिला था। यहाँ, वर्गीकरण मे त्रुटियाँ अनिवार्य थी, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि कोई भी बडी अशुद्धि नही होने पायी। आज मै कतिपय भाषाओ का वर्गीकरण, इस सर्वेक्षण मे प्रकाशित वर्गीकरण से भिन्न ढग से कर सकता हूँ किन्तु उपलब्ध ज्ञान के आधार पर प्रस्तुत वर्गीकरण मे मैं किसी प्रकार के परिवर्तन की जरूरत नही समझता।

प्राप्त नमूने सख्या मे कितने थे, इसकी मैंने गणना नही की। ये कई हजार हैं और इन सभी को प्रकाशित करना भी सम्भव नही है। जान-बूझकर अधिक नमूने मँगाये गये थे। यह भी सोचा गया था कि इन नमूनो के सापेक्षिक महत्व होगे, प्रत्येक बोली के कई नमूने प्राप्त होगे। इनमे से कतिपय सावधानी, कुछ अज्ञता एव अन्य लापरवाही के साथ तैयार किये गये होगे। इनमे से कई नमूने तो ऐसे लोगो के मुख से उपलब्ध हुए होगे जो यह समझने मे भी असमर्थ होगे कि वास्तव मे इनकी आवश्यकता क्या है? इस प्रकार अनेक नमूनो मे से महत्वपूर्ण नमूने को ही चुनना था और यह कार्य भी सम्पन्न हुआ। हिमालय तथा असम प्रदेश की सीमा की कतिपय अप्रसिद्ध बोलियो के केवल एक-एक ही नमूने प्राप्त हुए। वास्तव मे ये ऐसी बोलियाँ थी जो इसके पूर्व कभी भी लिखित रूप मे नही आयी थी, अतएव इनके नमूनो को लिखने मे अशुद्धि की आशका थी। इस सम्बन्ध मे हमारे सीमान्त के अधिकारी

धन्यवाद के पात्र हैं। इन्होंने निरन्तर सहानुभूतिपूर्वक पत्र-व्यवहार कर अनेक सन्देहास्पद बातो का स्पष्टीकरण किया। मुझे सहायता देने वालो मे से वे अत्यधिक उत्साही थे। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य मे लोग इस बात का अनुभव करेंगे कि ये नमूने अधिक अशुद्ध नही थे। इनके पूर्ण शुद्ध होने की तो मैं आशा भी नही करता। इन नमूनो को शुद्ध रूप देने मे कभी-कभी कितनी कठिनाई हुई, इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। हिन्दूकुश पर्वत मे हिमपात होने के कारण एक नमूने के सशोधन मे छ मास से अधिक समय लग गया। इसका कारण यह था कि चित्राल के राजनीतिक एजेण्ट को पामीर की एक बोली के लिए दुभाषिये की सहायता न प्राप्त हो सकी। फिर, हिन्दूकुश की काफिर बोलियो के बोलनेवालो मे से एक बोली के किसी भी प्रतिनिधि से सम्पर्क न स्थापित हो सका। अन्त मे काफी खोज के बाद इस बोली के बोलनेवाले एक गडरिये को प्रलोभन देकर उसके निवासस्थान से चित्राल लाया गया। वह वज्र-मूर्ख था और सम्भवत अत्यधिक भयभीत भी था। वह केवल अपनी मातृभाषा ही जानता था। सौभाग्य से बशगलनिवासी एक ऐसे शेख मिल गये जो इस गडेरिये की भाषा को कुछ-कुछ जानते थे, और साथ ही चित्राली से भी परिचित थे। उनकी सहायता से ही बशगली तथा चित्राली के माध्यम से बाइबिल (के अपव्ययी पुत्र) की कथा का इस बोली मे अनुवाद सम्पन्न हो सका। यह अनुवाद पूर्ण रूप से शुद्ध है यह आशा ही व्यर्थ है किन्तु स्थानीय अधिकारियो की सावधानी एव सहायता से एक पाठ तैयार हो गया। इसमे कई ऐसे वाक्य हैं जिनका मैं पूर्ण रूप से विश्लेषण नही कर पाया हूँ किन्तु भाषाविज्ञान द्वारा निर्धारित नियमो के द्वारा इसकी परीक्षा करने पर इसे असफल अनुवाद नही कहा जा सकता।

वास्तव मे यह अकेला उदाहरण नही था। ऐसी बीसो भाषाएँ मिली जिनके लिए कोई ऐसा व्यक्ति नही मिल सका जो अग्रेजी के साथ-साथ उनमे से एक का भी जानकार हो। लोग प्राय यह सोचते होगे कि चटगाँव बन्दरगाह के समीप बोली जानेवाली अधिकाश भाषाओ से हमारे अधिकारीगण परिचित होगे। फिर भी एक ऐसे अपराध के मामले का उदाहरण हमारे सामने है जिसकी सुनवाई चटगाँव के पर्वतीय प्रदेश मे हुई थी। इस मामले मे गवाही देने वालो मे एक महिला भी थी जो केवल खमी भाषा जानती थी। इस खमी का अनुवाद भ्रू मे किया गया। फिर भ्रू से उसे अराकानी मे तथा अराकानी से उसे स्थानीय बँगला मे अनूदित किया गया। इन चार अनुवादो से गुजरने के बाद अन्त मे यह गवाही, मजिस्ट्रेट द्वारा अग्रेजी मे दर्ज की गयी। इसमे तत्सम्बन्धी अधिकारी का कुछ दोष नही है। भारत

मे ऐसे कई प्रदेश है जहाँ की बोलियो मे अत्यधिक वैषम्य है। असम के छोटे प्रदेश मे, जहाँ की जनसख्या साठ लाख पचास हजार के लगभग अथवा लन्दन की जनसख्या से दस लाख कम है, सन् १९११ की जनगणना के अनुसार, ८१ भाषाएँ बोली जाती थी। यहाँ की भाषाओ की सख्या और भी अधिक थी किन्तु उनका उल्लेख नही हो पाया। मेजोफान्ती भी जो अट्ठावन भाषाएँ बोल सकता था, यहाँ आकर घवडा जाता।

प्रत्येक वोली की परीक्षा करने के वाद उसके एक अथवा अनेक उदाहरण प्रका-शन के लिए चुन लिये जाते थे। इन नमूनो से ही व्याकरण तथा अन्य विशेषताओ की सक्षिप्त रूपरेखा तैयार की जाती थी और उनके वोलनेवालो के सम्वन्ध मे महत्व-पूर्ण वातो का भी उल्लेख किया जाता था। इसके पश्चात् वोलियो का भाषाओ के अन्तर्गत वर्गीकरण किया जाता था और प्रत्येक भाषा के सम्वन्ध मे एक विस्तृत भूमिका दी जाती थी, जिसमे उसके वोलनेवालो की सख्या तथा स्वभाव आदि, प्रत्येक वोली की विशेषताएँ तथा अन्य वोलियो से उसका सम्वन्ध, भाषा का प्राचीन इतिहास और अन्य भाषाओ के साथ उसके सम्वन्ध का भी उल्लेख किया जाता था। इसके साथ ही, यदि उस वोली मे साहित्य था तो उसका विवरण तथा उसमे उपलब्ध ग्रन्थो की पूर्ण सूची एव उसके व्याकरण की सक्षिप्त रूपरेखा भी दी जाती थी। ये सभी वातें सर्वेक्षण के अन्य खण्डो मे उपलब्ध होगी। यह भाग तो अन्य खण्डो की भूमिका है।

तथ्यो का सग्रह, सिद्धान्तो का नही

सर्वेक्षण के कार्यों को सम्पन्न करते समय इस वात पर सदैव विशेष ध्यान दिया गया कि जो भी परिणाम निकले वे सिद्धान्त रूप मे न हो अपितु वे तथ्यो का सग्रह हो। इसके लिए भाषाओ को किसी न किसी क्रम मे रखना पडा और तव उनके वर्गीकरण की आवश्यकता हुई। इसके बाद सिद्धान्तो का सहारा लेकर उनका पारस्परिक सम्वन्ध निर्धारित करना पडा।[1] यह अनिवार्य था कि इसके आगे

१. सर्वेक्षण को कम्पोज करने के पूर्व, मोटे तौर पर, इसे विभिन्न खण्डो मे विभाजित करने की स्कीम आवश्यक थी। यह कार्य सम्पन्न किया गया, किन्तु उस समय भी मुझे कार्य की सीमा निश्चित रूप से ज्ञात न थी। मुझे वोलियो

इस बात का ध्यान रखा गया कि यह सर्वेक्षण भारतीय भाषाशास्त्र का विश्वकोश न बन जाय। सिद्धान्तो के निर्माण का युग तो इसके बाद आयेगा जब कि इन पक्तियो के लेखक से बढकर योग्य विद्वान् सभी तथ्यो को स्वायत्त करके इस सम्बन्ध मे कार्य करेंगे। सच तो यह है कि इसका भी आरम्भ हो गया है। आस्ट्रिक भाषाओ के सम्बन्ध मे पेटर शिमिट के कार्यो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वास्तव मे मेरे लिये यह प्रसन्नता की बात है कि जूल ब्लाश ने मराठी के अध्ययन तथा प्रो० टर्नर और प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपने गुजराती एव बँगला के महत्व-पूर्ण अध्ययनो तथा डा० पाल टेडेस्को ने अपने "आर्य-भाषाओ के इतिहास" सम्बन्धी महत्वपूर्ण निबन्ध लिखने मे सर्वेक्षण का पूर्ण रूप से उपयोग किया है। यहाँ पर पेटर शिमिट द्वारा की गयी खोजो के एक दिलचस्प परिणाम की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इसका इस सर्वेक्षण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। जैसा कि हमे ज्ञात है, मुण्डा भाषाएँ छोटा नागपुर तथा भारत के मध्य भाग मे बोली जाती हैं। यह बात भी सबको ज्ञात है कि इन मुण्डा भाषाओ से सुदूर उत्तर मे स्थित हिमालय मे व्यवहृत भाषाओ मे तिब्बती-बर्मी भाषाओ की विशेषताएँ वर्तमान हैं। किन्तु यहाँ सर्वेक्षण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दार्जिलिंग से लेकर पजाब तक एक ऐसी विचित्र बोली की पट्टी चली गई है जिसमे पूर्वस्थित मुण्डा वश की भाषाओ की विशेषताएँ स्थित हैं किन्तु जिसे बाद मे आनेवाले तिब्बती-बर्मी भाषा-भाषी लोगो ने दबा दिया है। इस प्रकार के प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन काल मे पजाब-स्थित कनवार से लेकर भारत के बाहर प्रशान्त महासागर होते हुए ईस्टर द्वीप तथा न्यूजीलैण्ड तक एक भाषा प्रचलित थी, जिसका अवशेष इन स्थानो की भाषाओ मे आज भी वर्तमान है। भाषाविज्ञान तथा नृ विज्ञान के पार्थक्य को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए और इन तथ्यो को हमे नृविज्ञानियो के हाथ मे आगे की खोज के लिए सौंप देना चाहिए।

की सख्या का भी ज्ञान न था। इसी कारण इसके कतिपय खण्डो का आकार बहुत बडा हो गया और उन्हे दो या इससे अधिक भागो मे बाँटना पड़ा। एक बार जब विविध खण्डो की स्कीम स्वीकृत हो गयी तो इसकी रूपरेखा को परिवर्तित करना अनावश्यक हो गया।

भाषा और बोली

सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने मे कठिनाई पडी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतन्त्रभाषा है अथवा अन्य किसी भाषा की बोली है। इस सम्वन्ध मे इस प्रकार का निर्णय देना, जिसे सव लोग स्वीकार कर लेंगे, कठिन है। भाषा और वोली मे प्राय यही सम्वन्ध है जो पहाड तथा पहाडी मे है। यह नि सकोच रूप से कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालवार्न पहाडी है, किन्तु इन दोनो के वीच की विभाजक रेखा को निश्चित रूप से वताना कठिन है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दार्जिलिंग के पहाड़ को, जो ७५०० फुट ऊँचा है, पहाडी और स्नोडन को, जो केवल ३५०० फुट ऊँचा है, पहाड कहते हैं। भाषा और वोली का प्रयोग भी प्राय. इसी प्रकार से शिथिल रूप मे होता है। साधारण रूप से हम यह कह सकते हैं कि एक भाषा की विभिन्न वोलियो मे समानता होती है और उस भाषा को वोलनेवाले उसे समझ जाते हैं किन्तु अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा को ग्रहण करने के लिए विशेष परिश्रम और अध्ययन की आवश्यकता होती है। वास्तव मे यह "सेंचुरी डिक्शनरी" मे दी हुई परिभाषा है[1] किन्तु इसके आगे लेखक का कथन है कि यह तात्त्विक अन्तर नही है और उत्तर भारत की आर्यभाषाओ के सम्बन्ध मे विचार करते समय तो यह परिभाषा पूर्णतया लागू नही हो पाती। यदि भाषा और बोली के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हम पारस्परिक बोधगम्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करें तो यह भी ठीक न होगा, क्योकि बगाल और पजाब के बीच थोड़ा बहुत शिक्षित प्रत्येक व्यक्ति दो भाषाएँ समझ लेता है। इस क्षेत्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने घर एव पड़ोस में स्थानीय बोली का व्यवहार करता है किन्तु अपरिचित व्यक्तियो से वार्तालाप करते समय वह हिन्दी अथवा हिन्दोस्तानी के किसी न किसी रूप का व्यवहार करता है। इसके अतिरिक्त राजपूताना, मध्य-भारत तथा गुजरात के विस्तृत क्षेत्रो मे दैनिक जीवन मे व्यवहृत शब्द एव शब्द-समूह प्राय समान हैं। हाँ, उच्चारण मे अन्तर अवश्य है। इस प्रकार यह कहा जाता है और सामान्य रूप से लोगो का विश्वास भी यही है कि गगा के समस्त काँठे मे, बगाल और पंजाब के बीच, अपनी अनेक स्थानीय बोलियो सहित, केवल एक-मात्र प्रचलित भाषा हिन्दी ही है। एक दृष्टि से यह ठीक है और इसे अस्वीकार

१. देखो, इसमें 'लैंग्वेज' शब्द।

नही किया जा सकता। सर्वत्र हिन्दी अथवा हिन्दोस्तानी शासन की भाषा है और ग्रामीण स्कूलो मे यही शिक्षा का माध्यम भी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस क्षेत्र के लोग द्विभाषाभाषी हैं अतएव व्यवहार मे उन्हे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती और ये लोग नही चाहते कि शासन-कार्य के लिए अनेक भाषाएँ स्वीकार कर कठिनाई उत्पन्न की जाय।

यह सब होते हुए भी, तथाकथित हिन्दी की इन बोलियो की जब भाषाशास्त्री परीक्षा करता है और इन्हे समूह के अन्तर्गत लाने अथवा इन्हे वर्गीकृत करने का उद्योग करता है तो इनके मुहावरो तथा गठन मे उसे तात्त्विक एव अत्यधिक अन्तर मिलता है। इनमे से कतिपय बोलियाँ तो अग्रेजी की भाँति विश्लेषणात्मक है किन्तु अन्य जर्मन की भाँति सश्लेषणात्मक हैं। इनमे से कुछ का व्याकरण तो नितान्त सरल है और उनके वाक्यो मे, शब्दो का पारस्परिक सम्बन्ध, शब्द रूपो तथा धातु-रूपो द्वारा प्रकट नही होता अपितु सहायक शब्दो की सहायता से सम्पन्न होता है किन्तु इनमे कुछ बोलियाँ ऐसी भी हैं जिनका व्याकरण लैटिन से भी अधिक जटिल है और जहाँ क्रिया का रूप केवल कर्त्ता के अनुसार ही परिवर्तित नही होता अपितु कर्म के अनुसार भी बदल जाता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन सभी बोलियो को एक भाषाविशेष की बोली मानना वैसा ही असगत है जैसा जर्मन को अग्रेजी की बोली मानना। यही कारण है कि सर्वेक्षण मे इन बोलियो को व्याकरणीय गठन के अनुसार विभिन्न समूहो मे वर्गीकृत किया गया है और प्रत्येक को भाषा के रूप मे स्वीकार किया गया है। ये हैं—बिहारी, पूर्वी हिन्दी तथा पश्चिमी हिन्दी। इस वर्गीकरण की भी आलोचना हुई है। उदाहरणस्वरूप सन् १९२१ की जनगणना की रिपोर्ट के लेखक महोदय लिखते हैं[1]—"यदि बिहारी भाषा-भाषी गोरखपुर के एक किसान से वार्तालाप किया जाय और पुन पश्चिमी हिन्दी भाषा-भाषी झाँसी के जगल मे रहनेवाले किसी व्यक्ति से बातचीत की जाय तो दोनो की भाषा मे ठीक उतना अन्तर होगा जितना डिवोन तथा एबर्डीन (ब्रिटेन) के कृषको की भाषा मे। यदि आपके लिए एक की भाषा बोधगम्य है तो दूसरे की भाषा भी बोधगम्य होगी।" मुझे स्वय डिवोन तथा एबर्डीन की बोलियो के तुलनात्मक अध्ययन का कभी अवसर नही प्राप्त हुआ है किन्तु मेरी धारणा है कि इस सम्बन्ध मे आलोचना करते समय

१. रिपोर्ट, अध्याय ९ § ३।

वास्तविक अन्तर पर ध्यान नही दिया गया है। यहाँ प्रश्न यह नही है कि एक शिक्षित व्यक्ति दोनो बोलियो पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकता है किन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि जब डिवोन का कृषक सहसा एबर्डीन मे स्थानान्तरित कर दिया जायगा तो क्या वह अपने पडोसी किसान के साथ तत्काल वार्तालाप का सम्बन्ध स्थापित करने मे सफल होगा ? मुझे भय है कि इस प्रकार की पारस्परिक बातचीत या विचार विनिमय के लिए पर्याप्त धैर्य आवश्यक होगा और यदि दोनो मे यह सम्बन्ध स्थापित भी हो जायगा तो उनकी भाषा विचित्र होगी।

इस विवाद के साथ ही "सेंचुरी डिक्शनरी" (शताब्दी कोश) की परिभाषा पर पुन विचार करना आवश्यक है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। सच तो यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओ मे भेदकरण केवल पारस्परिक वार्तासम्बन्ध पर ही निर्भर नही करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध मे विचार करने के लिए अन्य महत्वपूर्ण तथ्यो को भी दृष्टि मे रखना आवश्यक है। इनमे सर्वप्रथम जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भाषा का व्याकरणीय गठन है। हमारे गोरखपुर के किसान की भाषा झाँसी के जगल मे रहनेवाले किसान के लिए चाहे बोधगम्य हो या न हो, किन्तु इस तथ्य को नही भुलाया जा सकता कि उसकी भाषा अत्यधिक सश्लिष्ट है तथा उसके क्रियापदो के रूप लैटिन से भी अधिक जटिल हैं। इसके विपरीत झाँसी के जगल का व्यक्ति एक ऐसी भाषा का व्यवहार करता है जिसका व्याकरण बिलकुल सश्लिष्ट नही है। उसके क्रियापदो मे केवल एक काल तथा दो कृदन्तो का ही व्यवहार हुआ है और उसमे अन्य कालो का निर्माण कृदन्तो तथा सहायक क्रियाओ के सहयोग से सम्पन्न होता है। दोनो स्थानो के किसानो की भाषा के शब्द-समूह भी समान हो सकते है किन्तु एक की भाषा का व्याकरणीय गठन दूसरे से सर्वथा भिन्न है, इस अवस्था मे भाषाशास्त्र की दृष्टि से, इन दोनो बोलियो को किसी एक भाषा की बोली कहना अनुपयुक्त है। एक अन्य तथ्य भी इस भेद-करण को प्रभावित करता है। यह जातीयता है। प्राय अग्रेजी किसानो को हालैण्ड के लोगो मे भाषागत सम्पर्क स्थापित करने मे कठिनाई उपस्थित नही होती, किन्तु कोई भी इस बात को अस्वीकार नही कर सकता कि डच एव अग्रेजी दो पृथक् भाषाएँ है और यह बात उस समय और भी पुष्ट हो जाती है जब इन दोनो जातियो मे स्वतन्त्र रूप से साहित्य का विकास हुआ। इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण असमियाँ भाषा है। आज लोग इसे एक स्वतन्त्र भाषा मानते है। किन्तु यदि इसके व्याकरणीय रूपो एव शब्द-समूह पर विचार किया जाय तो इस बात को अस्वीकार

करना कठिन होगा कि यह बँगला की एक बोली है। इस विषय मे यह निश्चित रूप से साधु बँगला से उसी रूप मे सम्बन्धित है जिस रूप मे उससे चटगाँव की बोलचाल की बँगला। फिर भी इस बात मे किसी प्रकार का विवाद नही है कि असमियाँ एक स्वतन्त्र भाषा है। यह केवल एक स्वतन्त्र जाति की भाषा ही नही है जिसका अपना इतिहास है, अपितु इसका सुन्दर साहित्य भी है जो शैली एव विषय की दृष्टि से साधु बँगला से भिन्न है। इस प्रकार यहाँ हमे एक ऐसी भाषा का उदाहरण प्राप्त हो जाता है जिसमे पारस्परिक बोधगम्यता का अभाव तो नही है किन्तु जिसमे जातीयता एव साहित्य की दृष्टि से अन्तर है।

सर्वेक्षण का सामान्य परिणाम

प्रथम अध्याय

पूर्वकथन

सर्वेक्षण का आधार, १८९१ की जनगणना

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह भाषा सर्वेक्षण सम्पूर्ण भारत का नही है। मद्रास और वर्मा के प्रदेश तथा हैदराबाद एव मैसूर के राज्य इसकी सीमा से बाहर



चित्र ३—सर्वेक्षण की सीमा

रहे हैं। साथ मे लगे हुए मानचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कौन भाग इसके अन्तर्गत हैं और कौन इसके वाहर। सर्वेक्षण मे प्रत्येक भाषा तथा वोली

के वोलनेवालो की संख्या भी दी गयी है। यह अफसोस की वात है कि अन्तत. यह संख्याएँ सन् १८९१ की जनगणना पर आधारित हैं किन्तु इसके अतिरिक्त कोई और व्यावहारिक उपाय भी नही था। अनभव से यह देखा गया है कि इधर ३० वर्षो मे जनसख्या में जो वृद्धि हुई है उसे ध्यान मे रखते हुए जव हम सन् १९२१ की जनसख्या से मिलान करते हैं तो आश्चर्यजनक रूप से हिसाव ठीक वैठ जाता है। सन् १८९१ की जनसख्या को इस सर्वेक्षण का आवार मानने का कारण यह था कि इसका कार्य सन् १८९४ मे प्रारम्भ हुआ। विशेष अवस्थाओ को छोडकर, प्रायः भारतीय जनगणना की तालिका मे केवल भाषाओ के ही नाम रहते हैं; वोलियो की तालिका उसमे नही रहती। इसके विपरीत इस भाषा-सर्वेक्षण के लिए प्रत्येक भापा की सभी वोलियो की जाँच आवश्यक थी और यह कार्य सम्पन्न भी किया गया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस सर्वेक्षण के लिए प्रत्येक स्थान से, वहाँ वोली जानेवाली वोलियो की सूची मँगायी गयी। सन् १८९६ तथा उसके वाद के वर्षो मे प्रत्येक क्षेत्र के सरकारी अधिकारी द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। सन् १८९१ की जनगणना के अनुसार स्थानीय सरकारी अधिकारियो को अपने जिले अथवा रियासत की भाषाओं का पूर्णज्ञान था। स्थानीय ज्ञान और अपने क्षेत्र की जाँच के उपरान्त अधिकारियो ने अपने क्षेत्र की प्रत्येक भाषा की वोलियो एव उनके वोलने वालो की संख्या का भी पता लगाया। प्रत्येक भाषा के अन्तर्गत जितनी भी वोलियाँ थी उन सबके वोलनेवालो की सख्या के जोड़ का उस भाषा की संख्या से मिलान किया गया और इस प्रकार विभिन्न वोलियो के वोलनेवालो की सख्या का अप्रत्यक्ष आवार सन् १८९१ की जनगणना है। इस प्रकार से प्राप्त अको के संशोधन एवं उन्हे तालिकावद्ध करने मे लगभग तीन वर्ष लग गये और वाद की जनगणना के आधार पर उन्हे पुन. तालिकावद्ध करने मे अत्यधिक श्रम आवश्यक होता। केवल कतिपय भापाओ, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की भाषाओ एव वोलियों के वोलनेवालो की सख्या सन् १९११ की जनगणना के अनुसार दी गयी है, इसके भी विशेप कारण हैं।

मर्वेक्षण के आँकड़े

मन् १९२१ की जनगणना के अनुसार, भारत की जनसख्या ३१ करोड़ ६० लाख थी, किन्तु इस सर्वेक्षण मे केवल २९ करोड लोगो का ही विवरण है। जनसंख्या मे अन्तर का एक कारण यह है कि देश के कई क्षेत्र इस सर्वेक्षण की सीमा से वाहर

रखे गये। दूसरा कारण जनसख्या मे अभिवृद्धि का भी है। सन् १८९१ मे जनसख्या २८ करोड ७० लाख थी,[1] किन्तु सन् १९२१ मे यह ३१ करोड ६० लाख हो गयी।

भाषाओ एव बोलियों की सख्या

जब हम सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त सख्या पर विचार करते है तो विभिन्न भाषाओ एव बोलियो की सख्या ८७२ ठहरती है। यही सख्या परिशिष्ट १ की सूची मे भी उपलब्ध हैं। यहाँ प्रत्येक भाषा एव बोली के बोलनेवालो की सख्या का सन् १९२१ मे उपलब्ध सख्या से मिलान किया गया है किन्तु यहाँ कभी-कभी गणना दुबारा भी हो गयी है। इसमे प्रत्येक भाषा तथा बोली की सख्या अलग-अलग दी गयी है। दुबारा गणनावाली बात का इससे पता चल जाता है कि सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार भाषाओ की कुल सख्या १९० है किन्तु बोलियो को छोडकर इस सर्वेक्षण मे उनकी सख्या १७९ है। किसी भी भाषा की बोलियो की गणना करते समय इस बात को ध्यान मे रखने की आवश्यकता है कि उस भाषा के बोलनेवालो की सख्या का बोलियो की सख्या से तभी ठीक मिलान हो सकेगा जब परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) भाषा को भी एक बोली मानकर अन्य बोलियो के बोलनेवालो की सख्या मे उसे जोड़ा जाय। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि भाषा का नाम तो दे दिया गया पर उसकी बोलियो के बोलनेवालो की सख्या का उल्लेख नही किया गया। उदाहरणस्वरूप खासी भाषा (सूची न० ८) तथा इसकी बोलियो को निम्नलिखित क्रम मे दिया गया है—खासी, परिनिष्ठित, लिगम, सिन्टेंग, वार, अनिर्णीत। यहाँ, यदि खासी को हम भाषा की सूची मे गिनते हैं तो परिनिष्ठित एव अनिर्णीत को इस सूची मे नही सम्मिलित करना चाहिए, अन्यथा एक ही बोली की दो-तीन

१. इस प्रकार सर्वेक्षण के आँकड़े सन् १८९१ की जनसंख्या के आँकड़ों से तीस लाख अधिक हैं। इसका कारण यह है कि यद्यपि भारत का एक बहुत बड़ा भाग इस सर्वेक्षण के क्षेत्र के बाहर था तथापि सर्वेक्षण का क्षेत्र, विशेष रूप से, उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश की ओर कुछ बढ़ गया है। सीमान्तप्रदेश का यह क्षेत्र वस्तुतः जनगणना के क्षेत्र के बाहर था। जहाँ तक सम्भव था, इस क्षेत्र के लिए सन् १९११ की जनगणना के आँकड़े लिये गये।

वार गणना हो जायगी। इस प्रकार ऊपर के उदाहरण मे परिनिष्ठित खासी के अतिरिक्त केवल तीन बोलियो की ही गणना की जा सकती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सन् १९२१ की जनगणना मे, भाषाओ के सामान्य नामो के अतिरिक्त ४९ बोलियो के नामो की भी गणना की गयी है। इसके विपरीत सर्वेक्षण मे परिनिष्ठित एव अनिर्णीत १७९ भाषाओं के अतिरिक्त ५४४ बोलियो के नाम दिये गये हैं। इस प्रकार जनगणना मे भाषाओ एव बोलियो की सख्या २३७ (१८८+४९) तथा सर्वेक्षण मे ७२३ (१७९—५४४) दी गयी है। इन ७२३ भाषाओ एव बोलियो का यथासम्भव व्याकरणीय विवरण भी दिया गया है। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है (पूरा विवरण परिशिष्ट १ मे)—

भाषाओ एवं बोलियो की संख्या

	सर्वेक्षण की सख्या		जनगणना की संख्या	
	भाषाएँ	बोलियाँ	भाषाएँ	बोलियाँ
हिन्दी-एशियाई भाषाएँ		.	२	..
आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाएँ	७	१४	१६	११
मॉनख्मेर शाखा	१	३	१०	..
मुण्डा शाखा	६	११	६	११
करेन भाषाएँ	.	.	१	१४
मन भाषाएँ			२	.
स्यामी-चीनी भाषाएँ	३	४	७	
तिब्बती-बर्मी भाषाएँ	११३	८२	११७	१५
तिब्बती-हिमालय शाखा	३२	३१	२०	६
उत्तरी असम शाखा	५	.	५	
द्रविड भाषाएँ	१६	२३	१५	..
आर्य भाषाएँ	३८	४०२	२६	९
ईरानीय शाखा	८	३५	३	१
दर्दीय शाखा	१३	२२	४	

भारत-आर्य शाखा	१७	३४५	१९	८
सस्कृत	.	.	१	..
बाहरी उपशाखा	७	११०	८	३
मध्य उपशाखा	१	१८	१	..
भीतरी उपशाखा	९	२१७	९	५
अनिर्णीत भाषाएँ	२	१९	२	
जोड	१७९	५४४	१८८	४९

तिब्बती-बर्मी भाषाएँ

यह बात उल्लेखनीय है कि तिब्बती-बर्मी उपशाखा मे सबसे अधिक भाषाएँ हैं। इन भाषाओ के शब्द या तो एकाक्षर हैं अथवा एकाक्षर के आधार पर बनते हैं। यही कारण है कि ये अधिक परिवर्तनशील भी हैं। इसके अतिरिक्त जिन क्षेत्रो मे सर्वेक्षण कार्य हुआ है, उन क्षेत्रो मे इस उपशाखा की भाषाओ के बोलनेवाले लोग पर्वतीय जिलो मे रहते है। नियमत प्रत्येक कबीला अपने पडोसी से पृथक् रहता है। इसके परिणाम-स्वरूप अति शीघ्र, भाषाएँ बोलियो मे विभाजित हो जाती है और सरलता से प्रत्येक बोली एक पृथक् भाषा के रूप में विकसित हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि भाषाओ की संख्या अधिक है, पर प्रत्येक भाषा के बोलनेवालो की औसत सख्या १७,००० है जो वास्तव मे बहुत थोडी है।

भारत-यूरोपीय बोलियाँ

दूसरी ओर भारतीय आर्यभाषाओ की सख्या तो केवल १७ है किन्तु इनके बोलने-वालो की सख्या २२ करोड ६० लाख है। यह लोग उत्तर भारत के मैदानो एव पहाडो मे बसे हुए है। इन १७ परिनिष्ठित भाषाओ की ३४५ बोलियाँ हैं, जो बोलनेवालो की जातीयता एव रहन-सहन के आधार पर बनी है। इस सम्बन्ध मे तिब्बती-बर्मी एव आर्यभाषाओ का असादृश्य उल्लेखनीय है। एकाक्षरीय तिब्बती-बर्मी भाषाएँ अनेक पृथक् भाषाओ मे विभाजित हो जाती है जो परस्पर बोधगम्य नही है। इनके समकक्ष आर्यपरिवार की भारत तथा भारत के समीप बोली जानेवाली ईरानीय और दर्दीय भाषाओ का उदाहरण लिया जा सकता है। ये भाषाएँ भी पर्वतीय प्रदेशो मे ही प्रचलित हैं किन्तु इनकी एकता बहुत कुछ

अक्षुण्ण है। यदि इनमे विभाजन हुआ भी है तो यह विभाजन स्वतन्त्र भाषाओं के रूप मे नही है अपितु बोधगम्य बोलियो के रूप मे है और इनमे व्याकरणीय एकता का अभाव नही है। इनके सश्लिष्ट रूप ने इन्हें सुरक्षित रखा है और पर्वतीय प्रदेशो मे प्रचलित होते हुए भी इनकी सख्या २१ है तथा कश्मीर के फारस की सीमा एव पामीर से अरबसागर तक इनका विस्तार है। उत्तर भारत मे तो भारतीय आर्यभाषाओ की सख्या और भी कम है क्योकि इधर बहुत थोडे पर्वतीय प्रदेश हैं तथा इनके बोलनेवाले एक दूसरे से पृथक् नही हो पाये हैं। यद्यपि यहाँ भी बोलियो की सख्या बहुत है, तथापि मूल पितृभाषा से इनका सहज सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

प्रत्येक भाषा-परिवार के बोलनेवालो की सख्या

यह पहले कहा जा चुका है कि इस सर्वेक्षण मे जिन भाषाओ एव बोलियो का उल्लेख है, उनके बोलनेवालो की संख्या २९ करोड है। नीचे प्रत्येक भाषा-समुदाय के बोलनेवालो की सख्या का विवरण दिया जाता है—

	बोलने वालों की संख्या	
	भाषा सर्वेक्षण के अनुसार	सन् १९२१ की जन-गणना के अनुसार
आस्ट्रिक परिवार	३०,५२,०४६	४५,२९,३५१
मन परिवार		५९१
करेन परिवार		११,१४,०२६
तिब्बती-चीनी परिवार	१९,८४,५१२	१,२८,८५,३४६
द्रविड परिवार	५,३०,७३,२६१	६,४१,२८,०५२
भारत-यूरोपीय अथवा भारोपीय परिवार	२३,१८,७४,४०३	२३,२८,५२,८१७
अनिर्णीत	१,०१,६७१	१५,५९८
जोड	२९,००,८५,८९३	३१,५५,२५,७८१

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऊपर के दोनो जोडो मे अन्तर का कारण यह है कि भाषा-सर्वेक्षण तथा जनगणना का क्षेत्र एक ही न था। इसका विस्तृत सक्षिप्त विवरण परिशिष्ट १ ख तथा प्रत्येक भाषा के बोलनेवालो की पूरी सख्या का विवरण परिशिष्ट १ मे उपलब्ध[1] होगा। मोटे तौर पर जिन लोगो की भाषाओ का सर्वेक्षण किया गया उनकी जनसख्या, सम्पूर्ण यूरोप की जनसख्या का तीन चौथाई है। इनमे से आस्ट्रिक भाषा-भाषियो की सख्या डेनमार्क की जन-सख्या, तिब्बती-बर्मी की स्विटजरलैण्ड की आधी जनसख्या, द्रविड-भाषा-भाषियो की सख्या युनाइटेड किंग्डम, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रान्स, स्पेन, इटली तथा ग्रीस की सयुक्त जनसख्या के बराबर है।

भाषा-विज्ञान तथा नृ-विज्ञान

भाषा विषयक तथ्यो पर आधारित नृ-विज्ञानसम्बन्धी किसी भी सिद्धान्त का निर्माण करते समय भारत मे जितनी सावधानी बरतने की आवश्यकता है उतनी अन्यत्र नही। यहाँ ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ कबीलो और जातियो ने अति प्राचीन काल मे एक भाषा को छोडकर दूसरी भाषा को अपना लिया था। मध्य-प्रदेश के नहाल लोग इसके सुन्दर उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत लोग मण्डा भाषा-भाषी थे और इनकी भाषा कुर्कू के समान थी। आगे चलकर इन पर द्रविड भाषा का प्रभाव पडा और मिश्रित भाषाभाषी बन गये और इनकी भाषा आधी मुण्डा तथा आधी द्रविड हो गयी। इधर इन पर आर्य भाषा का प्रभाव पडा है और अब इनकी भाषा बहुत कुछ आर्य होती जा रही है।[2] यदि आज से सौ वर्ष पूर्व की भाषा के अनुसार हम लोग इनके सम्बन्ध मे विचार करे तो इन्हें मुण्डा मानना पडेगा। आज से दस वर्ष पूर्व तो इन्हे द्रविड कहना

१. परिशिष्ट १ मे आँकडे मोटे हिसाब से दिये गये हैं। इस दशा मे यह समझना चाहिए कि आँकड़े अनुमानतः ठीक हैं और इनका आधार वास्तविक गणना नहीं है। ये आनुमानिक आँकड़े अनुभवी स्थानीय अधिकरियो द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं और जब तक इनके विपरीत कुछ न कहा जाय तब तक ये विश्वसनीय हैं।

२. देखो, खण्ड ४।

ही उचित था, किन्तु आज से पचास वर्ष बाद सम्भवत लोग इन्हें आर्य कहने लगेंगे। भाषा-विज्ञान तथा नृ-विज्ञान के 'अवैध सम्बन्ध' की पर्याप्त आलोचना हुई है। यही कारण है कि इस सर्वेक्षण मे जातियो के मूल के सम्बन्ध मे कुछ विचार प्रकट करने के लोभ का मैंने यथासाध्य संवरण किया है। फिर भी जब कभी मुझे ऐसा करना पडा है तो मैंने जातियो के मूल-सम्बन्धी उन्ही सिद्धान्तो को दिया है जो प्रसिद्ध नृ-विज्ञानियो द्वारा प्रवर्तित किये गये हैं और इन सिद्धान्तो पर मैंने तभी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जब इन्हें भाषा-शास्त्र का समर्थन प्राप्त हो सका है। केवल एक अवस्था मे ही भाषासम्बन्धी तथ्यो के द्वारा जातियो के मूल के सम्बन्ध मे परिणाम निकाला जा सकता है। यह अवस्था इस प्रकार है। कभी कभी हम एक अल्पसख्यक जाति को अपनी लुप्तप्राय भाषा से चिपटे हुए पाते हैं। यह जाति प्राय ऐसी शक्तिशाली भाषा से घिरी हुई होती है जो आसपास की भाषा के रूपो के स्थान पर अपने रूपो को प्रस्थापित करती जाती है तथा धीरे-धीरे लुप्तप्राय भाषा पर भी अधिकार जमाती जाती है। इस अवस्था मे यह कहा जा सकता है कि लुप्तप्राय भाषा उस अल्पसख्यक जाति की मूल भाषा थी। इससे अल्पसख्यक जाति के जातीय सम्बन्धो का भी सकेत मिलता है। उदाहरण के लिए राजमहल की पहाडियो की भाषा माल्तो को लिया जा सकता है। यह भाषा धीरे- धीरे समाप्त हो रही है और इसके चारो ओर भी भाषाएँ इस पर अपना अधिकार जमा रही हैं। यदि इसके सम्बन्ध मे और बातें हमे ज्ञात नहीं हैं तो भी हम यह कह सकते हैं कि माल्तो लोग मूलत द्रविड है क्योकि उनकी भाषा द्रविडपरिवार के अन्तर्गत ही आती है। यह सामान्य सिद्धान्त मुझे सर हर्बर्ट रिजले से प्राप्त हुआ था, किन्तु ऊपर नहाल लोगो के सम्बन्ध मे हम लोगो का अनुभव दूसरे प्रकार का है, अतएव इस सामान्य सिद्धान्त को भी बहुत सावधानी से बरतने की आवश्यकता है। सम्भवत. नहाल लोग मुण्डा जाति के हैं किन्तु आज उनकी भाषा प्राय द्रविड हो गयी है। उनकी नष्टप्राय भाषा दो ओर से समाप्त हो रही है। सर्वप्रथम तो द्रविड भाषा ने इसे दबाना शुरू किया था किन्तु अब धीरे-धीरे आर्यभाषा इस पर अपना प्रभुत्व जमा रही है। यदि हम असावधानी मे हर्बर्ट रिजले के सिद्धान्त को लागू करें तो इस परिणाम पर पहुँच जायेंगे कि यह जाति मूलत मुण्डा एव द्रविड का सम्मिश्रण है। सच बात तो यह है कि शक्तिशाली भाषाओ के सम्बन्ध मे रिजले का ऊपर का सिद्धान्त प्राय नही लागू होता। भारत मे भारतीय आर्यभाषाएँ अति शक्तिशाली है। ये केवल

सभ्य लोगो की ही भाषाएँ नही है अपितु उच्च वर्ण के लोगों की भी भाषाएँ हैं। ये शक्तिशाली भाषाएँ निरन्तर आदिवासियो—द्रविड, मुण्डा तथा तिब्बती-वर्मी वश—की भाषाओ को स्थानच्युत करती जा रही है। आज यह कहना ठीक नही होगा कि तिब्बती-वर्मी भाषा-भाषी कोच अथवा द्रविड भाषा-भाषी गोड आर्य जाति के है, क्योकि ये आर्य-भाषाओ का व्यवहार करते हैं। बलूचिस्तान के ब्राहुई लोग द्रविड भाषा-भाषी है लेकिन इनके कई कबीले अपने घरों मे ईरानीय शाखा की बलोची भाषा बोलते है। इसी प्रकार दूसरी ओर भारत मे खडिया लोगो के कतिपय कबीले मुण्डा, अन्य द्रविड तथा दूसरे आर्य-परिवार की बँगला भाषा बोलते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्टतया समझना आवश्यक है कि कही भी इसके विपरीत देखने मे नही आता और कहीं भी अनार्य भाषा आर्यभाषा पर अधिकार करती हुई दृष्टिगोचर नही होती। यही नहीं, कोई आर्य-भाषाभाषी जाति भी अपनी भाषा को छोडकर किसी अन्य आर्यभाषा को ग्रहण नहीं करती। हमे निरन्तर देश मे ऐसे क्षेत्र भी मिलते है जो दो भाषाओ की सीमा पर अवस्थित है और जहाँ दो भिन्न भाषा-भाषी जातियाँ पास ही पास अपनी भाषाएँ बोलती है। उदारहणस्वरूप सर्वेक्षण करते समय बगाल के मालदह जिले मे ऐसे गाँव भी मिले जहाँ तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। यहाँ विभिन्न भाषा-भाषी लोगो ने पारस्परिक व्यवहार के लिए एक बोधगम्य भाषा का विकास कर लिया है किन्तु जब वे अपने लोगो से मिलते है तो अपनी ही भाषा मे वार्तालाप करते है। भारतीय आर्य-भाषाओ की अपरिवर्तनीलता के सम्बन्ध मे इस सामान्य सिद्धान्त का केवल एक ही अपवाद है और यह धर्म है। इस्लाम के साथ-साथ उर्दू का प्रसार बहुत दूर तक हो गया है और बगाल तथा उडीसा मे भी हमे ऐसे मुसलमान मिलते हैं जिनकी मातृभाषा उर्दू नही है किन्तु वे, चाहे कितनी ही भद्दी क्यो न हो, दिल्ली और लखनऊ की भाषा बोलने का प्रयत्न करते है।

कबीली बोलियाँ

अब हम कबीली बोलियो पर विचार करना आरम्भ करते है। यह एक ऐसा विषय है जिसकी ओर अभी तक लोगो का ध्यान आकर्षित नही हुआ है। यह विषय इस कारण भी जटिल हो गया है कि अक्सर एक जाति के नाम पर ही भाषा का नाम भी पड जाता है। इसका यह कारण नही है कि वह उस कबीले अथवा जाति विशेष की भाषा है वरन् इसलिए कि वह जिस क्षेत्र मे बोली जाती है उस क्षेत्र मे

उस जाति की विशेष प्रभुता है। उदाहरण के लिए हम १८९१ की जनगणना मे वर्णित जटकी अथवा जाट जाति की बोली को ले सकते है। यह किसी प्रकार भी केवल जाट जाति की भाषा नही है। यह सम्पूर्ण पश्चिमी पंजाब की भाषा है जिसके एक भाग मे निश्चित रूप से जाटो की प्रधानता है। इस प्रकार जटकी नाम भ्रामक है। इस भ्रम का एक कारण यह है कि पूर्वी पजाब के जाट इस बोली को नही बोलते। इसी बात को ध्यान मे रखकर जटकी के स्थान पर इस सर्वेक्षण मे पश्चिमी पजाबी अथवा लहँदा का व्यवहार किया गया है। इसी तरह मरी के उत्तर तथा पूर्व मे अनेक ऐसी बोलियाँ हैं जिनके नाम उनके क्षेत्रो के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। इन पर्वतीय भागो मे चिभ नामक एक प्रसिद्ध जाति रहती है। चिभ लोग विभिन्न स्थानो मे जहाँ भी जाते हैं वही की भाषा बोलने लगते हैं किन्तु मरी के उत्तर तथा पूर्व के पर्वतीय प्रदेश की बोली का नाम चिभाली दिया गया। यह नाम इसलिए आपत्तिजनक है कि चिभ लोग कई विभिन्न बोलियो का व्यवहार करते हैं, इसके अतिरिक्त चिभाली के बोलने वाले केवल चिभ लोग ही नही हैं।

जिप्सी भाषाएँ

कबीली भाषाओ का एक दूसरा वर्ग है जिन्हें इस सर्वेक्षण में जिप्सी भाषाएँ कहा गया है। ये घुमन्तू जातियो की भाषाएँ हैं जो अपने जीविकोपार्जन के उद्देश्य से एक ऐसी बोली का व्यवहार करती हैं जो उस क्षेत्र की बोली से भिन्न होती है जहाँ वे कई पीढियो से विचरण करती आयी हैं। ये कबीली भाषाएँ वास्तविक भाषाएँ भी हो सकती हैं अथवा छद्म-भाषाएँ हो सकती हैं, जिनमे स्थानीय भाषा के शब्दो को विकृत करके उसी प्रकार से मिला दिया गया है जिस प्रकार लन्दन के चोर चौर-लैटिन का निर्माण किये हुए हैं।

स्थानान्तरण का बोली पर प्रभाव

अन्त मे कबीली बोलियो का एक दूसरा वर्ग भी है जिसमे हम एक ऐसी जाति की बोली पाते हैं जो स्थानान्तरण करके नयी जगह पर चली गयी है और जिसने धीरे-धीरे एक नयी भाषा विकसित कर ली है। इस नयी भाषा का आधार तो उस जाति की मातृभाषा ही होती है किन्तु उसमें नये स्थान की भाषा का सम्मिश्रण होने मे वह विकृत भी हो जाती है। यह स्पष्ट है कि यदि राजपूताने की किसी

जाति के कुछ लोग बुन्देली भाषा-भाषी क्षेत्र मे चले जायँ तथा दूसरे कतिपय लोग मराठी क्षेत्र मे स्थानान्तरण कर जॉय तो इसका परिणाम यह होगा कि उन दोनो वर्गो की भाषाएँ काफी भिन्न होगी यद्यपि दोनो का मूलाधार राजस्थानी ही है। मध्य-प्रदेश मे इसके कई उदाहरण मिलते हैं। भारत के अन्य भागो मे भी स्थानान्तरण करनेवाली जातियो के अनेक ऐसे उदाहरण है। जिन्होने यत्किंचित् विकृत रूप मे ही अपनी मातृभाषा को सुरक्षित रखा है। सम्भवत इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण गगा के ऊपरी दोआव मे वसे हुए सिन्धी भाषा भाषियो का एक छोटा उपनिवेश है।

भाषा-सीमाएँ

किसी भाषा की अवथा उसके क्षेत्र की सीमा निर्धारित करना साधारण काम नही है। सामान्यत जब तक विशेष रूप से जाति (रेस) एव सस्कृति मे अन्तर न हो या कोई वडा पहाड एव वड़ी नदी[1] प्राकृतिक बाधा उपस्थित न करें तब तक भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे मे विलीन होती जाती हैं और उनकी सीमासम्बन्धी रेखाओ को पृथक् करना सरल कार्य नही है। जब इस प्रकार की सीमा की चर्चा होती है अथवा नकशे में उसे प्रदर्शित किया जाता है तो उसे अनिश्चित किन्तु परिस्थितिविशेष को प्रदर्शित करनेवाली रूढ प्रणाली के रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उस निर्धारित सीमारेखा के दोनो ओर सटे हुए ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ की भाषाओ अथवा बोलियो को एक या दूसरे वर्ग मे रखा जा सकता है। यहाँ हम प्राय यह देखते हैं कि दो विभिन्न

१. जैसा कि सर आरेल स्टाइन ने लिखा है, दो पहाड़ों के बीच के संकीर्ण पथ के कारण जैसी महत्वपूर्ण नृ-विज्ञानसम्बन्धी तथा राजनीतिक सीमा बन जाती है वैसी जलविभाजक (वाटरशेड) के कारण नहीं बन पाती। बात यह है कि वाटरशेड को अपेक्षाकृत सरलतया पार किया जा सकता है। किसी भाषा के लिए पर्वतश्रेणियाँ उतनी दुर्लंघनीय नहीं हैं जितना नदी का संकीर्ण पथ। पामीर मे भाषासम्बन्धी भिन्नता का कारण पर्वतश्रेणियाँ उतना नहीं हैं जितना दो पर्वतों के बीच का संकीर्ण पथ। देखो,मेरा 'इश्काश्मी', 'जीबकी' तथा 'याजगुलामी, पृ० ४।

पर्यवेक्षक एक ही क्षेत्र की भाषा के सम्बन्ध मे दो विभिन्न रिपोर्टे पेश करते है और दोनो ही ठीक भी हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप सन् १९११ की जनगणना मे, बँगला की सीमा भाषा-सर्वेक्षण द्वारा निर्धारित सीमा से बीस या तीस मील पूर्व दिखायी गयी है, किन्तु मैं निश्चयपूर्वक यह नही कह सकता कि सर्वेक्षण के आँकडे सही है और जनगणना के गलत। एक दृष्टिकोण से दोनो ही सही हैं तथा दूसरे दृष्टिकोण से दोनो ही गलत हैं, क्योंकि यह केवल व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रश्न है। जब दो भाषाओ मे इस प्रकार का विवाद उत्पन्न हो जाता है तो अनुभव के आधार पर मैं यह देखता हूँ कि सामान्यत इन भाषाओ मे से एक का व्यवहार करनेवाला, विवादग्रस्त भाषा को दूसरे की भाषा समझता है। स्वभावतः वह उस भाषा मे से उसके लिए जो अपरिचित तत्त्व हैं उन्हे ग्रहण कर लेता है और परिचित तत्त्वो की वह उपेक्षा करता है। उदाहरण के लिए भटनेर के पास, बोलचाल मे पजाबी तथा राजस्थानी भाषाओ का मिश्रित रूप व्यवहृत होता है। इस भाषा को पजाबी लोग राजस्थानी तथा राजपूत लोग पजाबी बतलाते है। इस भाषा-सर्वेक्षण के तैयार करते समय मेरी अनुभूति मे एक दूसरा उदाहरण भी आया। जिस समय मैं पूर्वी हिन्दी पर काम कर रहा था ठीक उसी समय डा० (अब प्रोफेसर) स्टेन कोनो मराठी पर कार्य कर रहे थे। स्वतन्त्र ढग से काम करते हुए हम दोनो एक ऐसे क्षेत्र मे पहुँच गये जहाँ एक विचित्र मिश्रित बोली, हलबी, प्रचलित है। पूर्वी हिन्दी के दृष्टिकोण से विचार करते हुए मैंने इसे मराठी का एक रूप माना, किन्तु इसके प्रतिकूल मराठी का चश्मा लगाकर डा० कोनो ने इसे पूर्वी हिन्दी के रूप मे स्वीकार किया। चूँकि अन्तिम निर्णय का अधिकार मेरा था अतएव यह बोली भाषा-सर्वेक्षण के मराठीवाले खण्ड मे रखी गयी। किन्तु यदि इसे पूर्वी हिन्दीवाले खण्ड के अन्तर्गत रखा गया होता तो यह गलत न होता।

वे क्षेत्र जहाँ आगे के वक्तव्य लागू होते है

सर्वेक्षण के परिणामो के आगे के विवरणो मे पूर्णता की दृष्टि से, भारत की उन भाषाओ का भी सक्षेप मे उल्लेख करूँगा, जो इसके क्षेत्र के अन्तर्गत नही आती। ये मुख्य रूप से बर्मा तथा दक्षिण की भाषाएँ हैं। इनमे से प्रथम के सम्बन्ध मे एक पृथक् सर्वेक्षण का कार्य चल रहा है और उसके परिणामो के सम्बन्ध मे कुछ भी लिखना मेरा उद्देश्य नही है। लेकिन बर्मा की भाषाओ का तिब्बती तथा

पूर्वोत्तर भारत की भाषाओ से घनिष्ठ सबध है। अतएव उन्हे बिलकुल छोड देना स्पष्ट रूप से अनुचित होगा। दक्षिण की भाषाएँ द्रविड परिवार की है और उत्तर भारत मे उनकी सजातीय भाषाएँ भी मिलती है अतएव उनका भी विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। सर्वप्रथम मैं आस्ट्रिक परिवार की भाषाओ का विवरण उपस्थित करूँगा, क्योकि सम्भवत ये सबसे प्राचीन भाषाएँ है जो आज भी जीवित हैं। तद्नन्तर मैं उन भाषाओ का विवरण दूँगा जो इस देश मे वाद मे आयी। यह द्रविड और हिन्द-चीनी भाषाएँ हैं। अन्त मे मैं आर्य-परिवार की भाषाओ का उल्लेख करूँगा जिनके भारत मे आगमन के वारे मे हम लोग निश्चित रूप से कुछ कह सकते हैं।

दूसरा अध्याय

आस्ट्रिक परिवार

आस्ट्रिक परिवार

सन् १९०६ ई० मे ब्रुन्जविक (Brunswick) से पेटर डब्लू० शिमिट (Pater W. Schmidt) द्वारा लिखित एक पुस्तिका प्रकाशित हुई जिसने भाषा-शास्त्र तथा नृ-विज्ञान के अध्येताओ का ध्यान तत्काल आकर्षित किया। मॉनख्मेर तथा खासी भाषासम्बन्धी अनुसन्धानो के कारण लेखक को एक योग्य तथा सतुलित भाषा-शास्त्री के रूप मे पहले से ही ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। इधर इस कृति मे उसने ठोस तथ्यो तथा गम्भीर अध्ययन के आधार पर कतिपय नवीन विचार प्रकट किये थे। श्री शिमिट के इन विचारो की आज तक किसी ने भी गम्भीर आलोचना नही की। इस प्रकार पेटर शिमिट ने एक बडे भाषा-परिवार के अस्तित्व को सिद्ध किया जिसे लोग अभी तक नही जानते थे। इस परिवार के बोलनेवालो की सख्या यद्यपि अपेक्षाकृत कम है तथापि इसका विस्तार-क्षेत्र किसी भी अन्य वर्ग की भाषा के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। इसके भाषा-भाषी निकट तथा वृहत्तर भारत मे मिलते हैं और इण्डोनेशिया (हिन्देशिया), मैले-नेशिया, पैलेनेशिया होते हुए मैडागास्कर एव न्यूज़ीलैण्ड तक चले गये हैं। ये भाषाएँ अफ्रीका के समुद्रतट से दूर, मैडागास्कर से लेकर ईस्टर द्वीप तक जो, दक्षिणी अमेरिका के तट से ४० अश से कम की दूरी पर है, फैली हुई हैं। उत्तर मे पजाब स्थित कनावर तथा दक्षिण मे न्यूज़ीलैण्ड तक इनके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। ईस्टर द्वीप के पश्चिम ये टैसमानिया सहित आस्ट्रेलिया तथा न्यूगिनी के एक भाग को छोडकर सम्पूर्ण प्रशान्त महासागर मे विस्तृत हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पेटर शिमिट ने ही इसका नामकरण आस्ट्रिक परिवार किया है। उन्होने दो उप-परिवारो मे इसका विभाजन किया है, यथा—आस्ट्रोनेशियन तथा आस्ट्रोएशियाटिक। इनमे प्रथम के अन्तर्गत मैडागास्कर, इण्डोनेशिया तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपो की भाषाएँ आती हैं और द्वितीय के

अन्तर्गत निकट तथा वृहत्तर भारत मे फैली हुई भाषाएँ आती है। नीचे के **मान-चित्र** मे जो पेटर शिमिट की कृति के आधार पर तैयार किया गया है, इन भाषाओ के क्षेत्र दिखलाये गये है।



चित्र ४—आस्ट्रिक भाषाओ का क्षेत्र

आस्ट्रोनेशियन—'सलोन'

भारत से, राजनीतिक दृष्टि से, सम्वन्वित एक मात्र आस्ट्रोनेशियन भाषा 'सलोन' है जिसका व्यवहार मरगुई द्वीपसमूहो तथा मलय पठार के समीपवर्ती भागो के समुद्रतट के निवासी जिप्सी करते हैं। मलय भी इसी क्षेत्र मे बोली जाती है। ये भाषाएँ सर्वेक्षण के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नही आती लेकिन नीचे मैं इनके वोलनेवालो की सख्या दे रहा हूँ। यह सख्या सन् १९२१ ई० की जनगणना के आधार पर दी गयी है।

सलोन	सन् १९२१ मे वोलनेवालो की सख्या	१,९५१
मलय	,, ,, ,,	३,६१०
	जोड	५,५६१

आस्ट्रो-एशियाटिक

आस्ट्रो-एशियाटिक उपपरिवार की भाषाओ का भारत मे अधिक जोर है। सर्वप्रथम इसकी प्रसिद्ध मॉनख्मेर शाखा है जो वृहत्तर भारत मे बोली जाती है। बर्मा मे इसकी तीन प्रतिनिधि भाषाएँ है। इनमे पहली भाषा मॉन है जिसमे प्राचीन साहित्य उपलब्ध है और जो थॉटन तथा अमहर्स्ट मे बोली जाती है। दूसरी प्रतिनिधि भाषाएँ पलाग तथा वा है जो मॉन की अपेक्षा कम शिष्ट है और जिनका व्यवहार उत्तरी बर्मा मे होता है। ख्मेर तथा अन्य अनेक छोटी-मोटी भाषाओं का व्यवहार बर्मा की सीमा से दूर हिन्दचीन मे होता है। दूसरी भाषाओ के अन्तर्गत, दो भाषाओ का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इनका व्यवहार

आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाएँ

	सर्वेक्षण के अनुसार	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
मॉन		१,८९,२६३
पलाग-वा	.	१,४७,८८९
निकोबारी		८,६६२
खासी	१,७७,२९३	२,०४,१०३
मुण्डा-शाखा	२८,७४,७५३	३९,७३,८७३
जोड़	३०,५२,०४६	४५,२३,७९०

मलक्का, सकेई तथा सेमाग की जगली जातियाँ करती हैं। ख्मेर की भाँति ही ये भी ब्रिटिश भारत की सीमाओ के बाहर बोली जाती हैं। निकोबार की भाषा भी इसी शाखा के अन्तर्गत आती है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह मुण्डा तथा मॉन भाषाओ के बीच की कड़ी है।

खासी

उपर्युक्त भाषाओ मे से कोई भी सर्वेक्षण-कार्य की सीमा के अन्तर्गत नही आती, किन्तु उत्तर की ओर बढने पर हमे मॉनख्मेर की खासी भाषा मिलती है जो असम प्रदेश के खासी एव जयन्तिया पर्वतो मे बोली जाती है। इसका विस्तृत

विवरण सर्वेक्षण मे दिया गया है। इसकी परिनिष्ठित बोली का अक्सर वर्णन मिलता है तथा इसमे थोड़ा-बहुत साहित्य भी है जो स्थानीय मिशनरियो की देन है। खासी अपने निकट की बर्मी तथा भारतीय भाषाओ से, यत्किचित् पृथक् भाषा है। यह मॉन, निकोबारी तथा मुडा भाषाओ से पृथक्, स्वतत्र रूप से विकसित हुई है। मॉन, निकोबारी तथा मुडा भाषाओ का खासी की अपेक्षा, एक दूसरे से अधिक सम्बन्ध है। अपने परिनिष्ठित रूप तथा अन्य तीन बोलियो—लिंगम्, सिंटेंग एव वार—सहित खासी, तिब्बती-बर्मी भाषाओ के समुद्र के बीच, उनसे अछूती रहते हुए, मॉनख्मेर भाषा के एक द्वीप का निर्माण करती है। लोगन ने सर्वप्रथम इस बात का उल्लेख किया था और तत्पश्चात् कुह्न ने अन्तत. यह सिद्ध

खासी

	सर्वेक्षण के आँकड़े
परिनिष्ठित	१,१३,१९०
लिगम्	१,८५०
सिंटेंग	५१,७४०
वार	७,०००
अनिर्णीत	३,५१३
जोड़	१,७७,२९३

कर दिया कि खासी तथा मॉन भाषाएँ एक ही वर्ग की हैं। खासी तथा पलाग-वा वर्ग की बोलियो के शब्द-समूहो मे समानता होने से एकता का प्रश्न और भी हल हो गया। लेकिन यह समानता केवल शब्द-समूह की ही नही है, मॉन तथा ख्मेर भाषाओ के वाक्यो की रचना भी समान ही है। इनकी वाक्य-रचना के विभिन्न अगो का क्रम भी एक ही है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके बोलनेवालो के विचार का क्रम भी समान है। मॉन तथा इस शाखा की अन्य भाषाओ के समान किन्तु हिन्दी-चीनी भाषाओ के प्रतिकूल, जिनसे यह घिरी हुई है, खासी मे सुर[1]

१. सर्वेक्षण के खण्ड २ पृ० ७ मे, मैंने लिखा है कि 'खासी' (वहाँ इसकी अशुद्धि खास्सी दी गयी है) में सुर (tone) हैं, किन्तु वास्तव में यह भूल

का अभाव है। दूसरी ओर अन्य मानख्मेर भाषाओ एवं खासी मे यह अन्तर है कि इसमे पदाश्रित निर्देशक (Article) वर्तमान हैं किन्तु अन्य भाषाओ मे इसका अभाव है। इसके अतिरिक्त इसमे व्याकरणीय लिंग भी मिलता है। इसके आगे के प्रश्नो को नृ-विज्ञानियो के हाथ मे ही छोड़ देना उचित है। खासी तथा मॉन जातियो के पारस्परिक रीति-रिवाजो के सम्बन्ध मे पता लगाना भी दिलचस्प वात होगी। इस सम्बन्ध मे इस वात का अनुसन्धान भी आवश्यक होगा कि क्या मॉन अथवा पलांग लोगो मे भी खासियो की भाँति ही मातृसत्तात्मक समाज के सिद्धान्त ही प्रचलित है? जहाँ तक पलाग लोगो का सम्बन्ध है वे अपनी उत्पत्ति एक राजकुमारी से वतलाते हैं, राजकुमार से नही।

असम प्रदेश को यही छोड़कर अव हम मध्य-भारत की ओर प्रस्थान करते हैं जो मुण्डा भाषाओ का गढ है। इनमे प्रमुख खेरवारी है जिसकी अनेक वोलियाँ हैं और जिसका मुख्य स्थान मध्य-भारत पठार का उत्तर-पूर्वी छोर है, लेकिन यह इसके नीचे के मैदानी भागो मे भी फैली हुई है और वहाँ भी इसके चिह्न मिलते है। इसकी अनेक वोलियाँ हैं जिनमे मुण्डारी तथा सथाली प्रमुख हैं। दूसरी ओर पठार के पश्चिमोत्तर भाग के अत मे मध्य-प्रदेश के पश्चिमी जिलो तथा मेवाड़ मे

थी, क्योकि उस समय 'सुर' की कोई सन्तोषजनक परिभाषा नहीं मिली थी। खासी के अनेक शब्दो के उच्चारण करते समय, अन्त में, कंठावरोध (glottal check) होता है और इस प्रकार के अवरोध को हिन्द-चीनी भाषाओ में 'आकस्मिक सुर' (abrupt tone) अथवा 'प्रवेश सुर' (entering tone) कहते हैं किन्तु यह कंठावरोध वास्तव मे सुर नहीं है। यथार्थ में सुर वहाँ मानना चाहिए जहाँ उच्चारणध्वनि को उदात्त करना पड़े अथवा जहाँ उच्चारणध्वनि की गति में परिवर्तन हो। इसका आकस्मिक उच्चारण अथवा इसके विपरीत उच्चारण से कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी आस्ट्रोएशियाटिक भाषाओ मे जिनमें खासी भी सम्मिलित है, कंठावरोध मिलता है, किन्तु यह इन भाषाओ की विशेषता है कि इनमे किसी में भी यथार्थ रूप में सुर नहीं है। सुर वहां होता है जहाँ उच्चारणध्वनि के चढ़ाव-उतार के कारण शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। देखो, जे० आर० ए० एस० १९२० पृ० ४५९।

हम एक अन्य मुण्डा भाषा कुर्कू[1] पाते है जिसकी मोआसी तथा नहाली, दो बोलियाँ बतलायी जाती हैं, लेकिन जैसा कि ऊपर (पृष्ठ ५५ मे) वताया जा चुका है, नहाली मे अन्य बोलियो के रूपो का इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि वह

मुण्डा भाषाएँ बोलनेवालो की संख्या

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
खेरवारी	२५,३७,३२८	३५,०३,२१५
सताली	१६,१४,८२२	२२,३३,५७३
मुंडारी	४,०६,५२४	६,२४,५०६
हो	३,८३,१२६	४,४७,८६२
भुमिज	७९,०७८	१,३७,३०९
कोरवा	२०,२२७	२१,६५५
अन्य	३३,५५१	३८,३१०
कुर्कू	१,११,६८४	१,२०,८९३
खड़िया	७२,१७२	१,३७,४७६
जुआङ्	१५,६९७	१०,५३१
सवर	१,०२,०३९	१,६४,४४१
गदवा	३५,८३३	३३,०६६
अनिर्णीत		२५१
जोड़	२८,७४,७५३	३९,७३,८७३

बिल्कुल समाप्त होने के निकट है। अन्य मुण्डा भाषाएँ कम महत्वपूर्ण हैं। ये खेरवारी के आसपास अथवा उसके दक्षिण मे बोली जाती हैं। इनमे खडिया, जुआग, सवर, गदवा प्रमुख हैं। थोडा वहुत इन सभी मे अन्य भाषाओ का सम्मिश्रण हुआ है। खड़िया प्रमुख रूप से छोटा नागपुर के राँची जिले मे व्यवहृत होती

१. इसके बोलनेवाले पंचमढ़ी पर्वत के पश्चिम तथा मध्यप्रदेश के बेतूल जिले मे रहते हैं। बरार के कुर्कू प्रायः एलिचपुर के मेलघाट ताल्लुके में पाये जाते हैं जो भौगोलिक दृष्टि से बेतूल का ही एक भाग है।

है और इसमे मरणासन्न भाषा के सभी लक्षण विद्यमान हैं। इस पर आर्य-भाषा आरोपित होती जा रही है। इसके व्याकरण की रूपरेखा, एवं इसके शब्द-समूह भी आर्य-भाषा के साँचे मे ढलते जा रहे हैं और अब यह विशुद्ध मुण्डा भाषा नही रह गयी है। इसकी तुलना प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक से की जा सकती है जिसकी मूल लिपि कठिनाई से पहचानी जाती है। जुआङ्ग की भी ठीक यही दशा है। इसे उड़ीसास्थित केंवझर तथा धेंकनाल रियासतो के जुआङ्ग अथवा पतुआ लोग बोलते हैं। सभ्यता के क्षेत्र मे ये सभी मुण्डा जातियो से पीछे हैं। अभी हाल तक इस जाति की स्त्रियाँ बरगद के पत्तो को सीकर भी शरीर का ऊपरी भाग नही ढँकती थी, सिर्फ पत्तियो का एक गुच्छा आगे तथा दूसरा पीछे लटका लेती थी और यही इनका आवश्यक फैशन था। जब इन्हें जंगल में पशुओ को लाने के लिए जाना पड़ता था अथवा जब ये लकड़ी काटने जाती थी तो पत्तो के नये गुच्छे धारण कर लेती थी। इधर उन्हे अधोवस्त्र पहनाने का यत्न किया जा रहा है किन्तु यह ज्ञात नही है कि इसमे कितनी सफलता मिली है। मुण्डा बोली के सबसे दक्षिणी रूप वे हैं जिन्हे उत्तर-पूर्वी मद्रास के सवर एवं गदबा लोग बोलते हैं। इनमें से प्रथम को प्लिनी के सुआरी तथा द्वितीय को टोलेमी के सबारे नाम से अभिज्ञापित किया गया है। इसी नाम की एक जंगली जाति के दक्षिण मे बसने का उल्लेख संस्कृत तथा वैदिक युग में भी मिलता है। इस प्रकार यह नाम अति प्राचीन है। इनकी भाषाएँ अत्यधिक रोचक हैं और इनका उल्लेख सर्वेक्षण के चतुर्थ खण्ड मे किया गया है। सर्वेक्षण के इस भाग के प्रकाशन के पश्चात् श्री राममूर्ति ने मद्रास सरकार के लिए इस बोली में कई उत्कृष्ट रीडरें तैयार की हैं। दुर्भाग्यवश ये रीडरें तेलुगु के माध्यम से लिखी गयी हैं अतएव यूरोपीय छात्रो के लिए उपयोगी नही हैं।

वर्तमान क्षेत्र से बाहर मुण्डा भाषाओं के अवशेष

मुण्डा शाखा की भाषाओ का व्यवहार, किसी समय आज की अपेक्षा भारत के एक विस्तृत भू-भाग मे अवश्य ही किया जाता होगा। दक्षिण तथा कुछ अशों तक छोटा नागपुर मे ये भाषाएँ द्रविड़ भाषाओ द्वारा तथा उत्तर मे आर्य अथवा तिब्बती-बर्मी भाषाओं द्वारा समाप्त की जा रही हैं। फिर भी प्रत्येक दशा मे इनके अवशिष्ट चिह्न आज भी वर्तमान हैं। जहाँ तक द्रविड़ भाषाओ का सम्बन्ध है, यह बहुत सम्भव है कि इनमें और विशेषतया तेलुगु मे स्वर-संगति के नियम इन्ही भाषाओं

से आये हैं।[1] इसी प्रकार छोटा नागपुर के उत्तर मे बिहारी बोलियो के क्रिया के रूपो मे जो जटिलता है,[2] उसका भी कारण ये मुण्डा भाषाएँ है। एक अन्य रोचक वात यह भी है कि मुण्डा गणना की प्रणाली एक से वीस तक के रूप मे है। इसके वोलनेवाले यूरोपीय लोगो की भाँति दस-दस करके नही अपितु बीस-बीस करके गिनते है, लेकिन उत्तर भारत के कृषको मे भी सामान्यत यह वीस-वीस करके गणना की ही प्रणाली प्रचलित है। वे पचास के लिए दो बीस दस, तथा साठ के लिए तीन बीस कहते हैं। इसी क्रम से वे आगे भी गणना करते है। यह स्वत प्रचलित प्रणाली भी हो सकती है किन्तु वस्तुत यह मुण्डा भाषा का ही अवशेष है। उत्तर भारत मे बीस के लिए जो कोडी या कुडी शव्द प्रचलित है वह निश्चित रूप से मुण्डा भाषा का है। हिमालय-वर्ती प्रदेशो मे तो मुण्डा भाषा के अवशेप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है। सम्प्रति मुण्डा लोग मध्य भारत के पर्वतीय प्रदेशो मे निवास करते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल मे ये उत्तर भारत के आर्यावर्त के मैदानो की अपेक्षा हिमालय के जगलो मे अधिक समय तक सुरक्षित रहे होगे। हिमालय के पूर्वोत्तर असम प्रदेश से लेकर पूर्वोत्तर पजाब तक अधिकाश लोग तिव्वती-वर्मी भाषाओ के विभिन्न रूपो का व्यवहार करते हैं। इनमे से वहुत भाषाएं तो अपने शुद्ध रूप मे उपलव्ध है तथा इनमे तिव्वती-वर्मी भाषाओ के सभी लक्षण विद्यमान है। लेकिन दार्जिलिंग, वगाल के उत्तर और कनावर एव पजाव मे शिमला के उत्तर प्रदेशो मे अनेक छिटपुट जातियाँ हैं जो ऐसी भाषा वोलती है जिन्हे इस सर्वेक्षण मे 'जटिल सर्वनामीय' के नाम से अभिहित किया गया है। इनमे से अधिकतर भाषाएँ तो उस शाखा की हैं जिन्हे हाग्सन ने 'किरान्ती' कहा है। लेकिन अन्य और भाषाएँ भी है जिनका उल्लेख उसने नही किया है। ये सभी भाषाएँ तिब्वती-वर्मी अथवा ऐसे वर्ग की हैं जिनका तिब्वती-वर्मी से घनिष्ठ सम्वन्ध है। इन सभी भापाओ मे कतिपय ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं जिन्हें मुण्डा स्वीकार न करना असम्भव है। एक वार इस ओर ध्यान आकर्षित किया जा चुका है।[3] इन जटिल सर्वनामीय

१. देखो खण्ड ४, पृ० २८८ (अंग्रेजी पुस्तक)।
२. वही, पृ० १०।
३. देखो, खंड ३ भाग १, पृ० २७३ तथा उसके आगे, ४२७ तया उसके आगे।

भाषाओं की संख्या बहुत है। आगे जब हम तिब्बती-बर्मी भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करने लगेंगे तो इनके विषय मे और भी विचार प्रकट करेंगे। यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि सम्भवत. इनमे सबसे पश्चिमी कनावरी है जो शिमला के पहाड़ों मे बोली जाती है। इसके आगे और पश्चिम मे भी कतिपय भाषाएँ हैं किन्तु उनके सम्बन्ध मे निश्चय रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

मुण्डा नामकरण

सन् १८५४ ई० में सर्वप्रथम, स्वर्गीय प्रोफेसर मैक्समूलर ने द्रविड़ भाषाओ से अलग, मुण्डा भाषाओ को एक पृथक् वर्ग की भाषा के रूप मे मान्यता प्रदान की थी। इस बात का उल्लेख उन्होने तूरानी भाषाओ के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे शेवालियर बन्सेन को लिखे गये एक पत्र मे[1] किया था। इस प्रकार इन भाषाओ का नाम मुण्डा पडा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विद्वानो द्वारा स्वीकृत यह शीलसम्बन्धी सर्वमान्य नियम है कि किसी भी तथ्य के प्रथम अनुसन्धानकर्ता को, चाहे वह नूतन पुष्प का नाम हो अथवा कोई नूतन वर्णित खनिज वस्तु या भाषा हो, उसके नामकरण का अधिकार है और जब तक वह नाम पूर्ण रूप से भ्रामक अथवा अशुद्ध सिद्ध न हो जाय तब तक अन्य विद्वान् एव छात्र उसी का प्रयोग करते हैं। दुर्भाग्यवश प्रस्तुत विषय में इस शीलसम्बन्धी नियम को मान्यता नही प्रदान की गयी। इस नाम के बारह वर्ष बाद ही सर जार्ज कैम्बेल ने निस्सन्देह बिना किसी बुरे उद्देश्य के मैक्समूलर द्वारा प्रदत्त इस नाम को छोड दिया और मुण्डा के लिए कोलारियन[2] नाम प्रस्तावित किया। उसके अनुसार मुण्डा जाति का सामान्य कोल नाम कोलर से उत्पन्न हुआ था और इसका सम्बन्ध दक्षिण भारत के मैसूर राज्य मे स्थित कोलर ज़िले से था। कैम्बेल के अनुसार कोलर तथा कन्नड़ भाषा

१. यह नाम उपयुक्त है क्योकि यह संस्कृत साहित्य मे भी मिलता है। लोग के अर्थ मे मुंडा नाम केवल महाभारत (६, २४१०) मे ही नहीं मिलता अपितु यह वायुपुराण (४५, १२३) में भी मिलता है। देखो जर्नल एशियाटिक CCIII पृ० २२ मे प्रो० सिल्वा लेवी का लेख। पुनः देखो पृ० १४ की टि०।

२. द एथ्नॉलोजी ऑव इंडिया, जे० ए० एस० बी०, खं० XXXV (१८६६), भाग २ पूरक अंक, पृ० २८।

के कल्लर (चोर) शब्द एक ही हैं। इस कल्पना के लिए वस्तुत' कुछ भी आधार नही है और 'कोलार्य' नाम केवल एक विचित्र काल्पनिक भूल पर ही आधारित्त नही है, अपितु वह इसलिए भी आपत्तिजनक है कि इसका सम्बन्ध आर्यो से भी प्रतीत होता है जो सर्वथा निराधार है।

यह बात लोग स्वीकार करते है कि इस परिवार का मैक्समूलर ने जो नामकरण किया है, वर्तमान ज्ञान के आधार पर उससे अच्छा नाम दिया जा सकता है और सुझाव रूप मे एक से अधिक ऐसे नाम आये भी हैं, किन्तु जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उस समय केवल दो ही नाम सम्भव थे। सर जार्ज कैम्बेल के प्रमाण पर पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध मे 'कोलार्य' (कोलारियन) नाम प्रचलित हुआ था, लेकिन स्पष्टतया यह इतना गलत और भ्रामक था कि इसे अस्वीकार करने मे मुझे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही हुई। इस प्रकार मैंने इस सर्वे मे उसी पुराने नाम का व्यवहार किया है जिसे इस वर्ग के लिए सर्वप्रथम, इसके अनुसधान-कर्ता ने प्रयुक्त किया था और जिसे अन्य विद्वानो को भी स्वीकार करना चाहिए था।

मुंडा भाषाओ के सामान्य लक्षण

मुडा भाषाएँ योगात्मक परिवार की हैं और इस परिवार की विशेषताएं इनमे पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान हैं। इनकी तुलना एकमात्र तुर्की से ही की जा सकती है। यह पहले कहा जा चुका है कि इस वर्ग की भाषाओ के सर्वप्रथम अन्वेषक मैक्समूलर ही थे। मध्य एशिया की तुर्की भाषा के सम्बन्ध मे उन्होने जो कुछ कहा है, उसे नीचे, उद्धृत किया जाता है—

"यदि जीवन मे कोई व्यावहारिक उपयोग न हो, तो भी तुर्की भाषा के व्याकरण के अध्ययन मे विशेष आनन्द आता है। जिस प्रवीण ढग से इसके अनेक व्याकरणीय रूप गठित हैं, इसकी सज्ञा एव क्रिया-पदो के रूप में जो सुव्यवस्था है, इसके ढाँचे मे जो बोधगम्यता एव स्पष्टता है, उन्हे देखकर उन सभी लोगो का इसकी ओर ध्यान आकृष्ट होगा जिन्हे भाषा के निर्माण मे प्रदर्शित मानव-मस्तिष्क की आश्चर्य-जनक शक्ति का ज्ञान है। यह ऐसी भाषा है जिसकी रूपरेखा पूर्णतया स्पष्ट हैं। इसके व्याकरण के आभ्यन्तरिक तत्त्वो का हम उसी रूप से अध्ययन कर सकते हैं, जिस रूप से काँच के बने हुए मधुमक्खी के छत्ते के भीतर की छोटी कोठरियो की बनावट को देख सकते हैं। किसी प्रख्यात प्राच्यविद्याविशारद ने कहा था—तुर्की भाषा को देखकर यह कल्पना की जा सकती है कि उच्च स्तर के विद्वत्समाज के

वादविवाद के फलस्वरूप इसका निर्माण हुआ होगा, किन्तु कोई भी ऐसा समाज वह कार्य सम्पन्न न कर सका जो तातार के घास के मैदान मे रहनेवाले मानव ने अपने आश्चर्यजनक प्रकृतिप्रदत्त स्वाभाविक विधान अथवा सहज शक्ति के वल पर कर दिखलाया। तुर्की का सवसे सुन्दर भाग निस्सन्देह रूप से उसका क्रियापद है। ग्रीक तथा सस्कृत की भाँति ही, इसमे कई प्रकार (Moods) एव काल हैं जिनके द्वारा सन्देह, कल्पना, आशा एव अनुमानसम्वन्धी अति सूक्ष्म भावो को प्रदर्शित किया जाता है। इन सभी विभिन्न रूपो मे क्रियापद अविकृत रहता है तथा पुरुष, वचन, प्रकार एव काल के कारण इसकी ध्वनि अथवा लय मे जो परि-वर्तन होता है उसके फलस्वरूप यह सगीत के मुख्य स्वर की भाँति प्रतिध्वनित होता है। किन्तु तुर्की क्रियापद मे एक ऐसी विशेषता है जो किसी भी आर्यभाषा मे उपलव्ध नही है। यह है क्रियापदो मे कतिपय नये अक्षरो को सयुक्त करके नूतन क्रियापद वनाने की शक्ति। वास्तव मे इन अक्षरो के सयोग से, ये नूतन क्रियापद नकारार्थक, णिजन्त, आत्मवोधक अथवा परस्परवोधक वन जाते हैं। क्रिया की रूप-प्रक्रिया मे तुर्की क्रियापद वेजोड हैं। ये क्रियापद वृक्ष की शाखाओ की भाँति हैं जो फूल एव फल के भार से टूट जाती हैं।[1]"

मुडा भाषाओं मे योगात्मकता

ऊपर तुर्की के सम्वन्ध मे जो कुछ कहा गया है वह अक्षरश. मुण्डा भाषाओ के विषय मे भी पूर्ण रूप से लागू होता है। मुण्डा मे शव्दनिर्माण के लिए प्रत्यय पर प्रत्यय सयुक्त होते चले जाते हैं। इस प्रकार जो शव्द वनते हैं वे इतने वड़े होते हैं कि किसी भी यूरोपीय के लिए उनका आकार भयानक प्रतीत होगा। किन्तु इस प्रकार से निर्मित शव्द अपने मे पूर्ण होते हैं और इस शव्द का प्रत्येक अक्षर पूर्ण अर्थ को द्योतित करने मे सहायक होता है। इन प्रत्ययों के उपयोग के सम्बन्ध मे सन्याली से एक उदाहरण लेना पर्याप्त होगा। "दल्" शव्द का अर्थ सन्याली मे 'मारना' होता है और इससे 'दल्-ओचो-अकन्त-हेन्-तए-तिन्' एक शव्द वनता है जिसका अर्थ है "वह जो उनका है जो मेरा है चोट खाते रहने पर भी कार्य जारी रखेगा।" यदि हम धातु के मध्य मे प अक्षर जोड दें तो "दपल्" शव्द वनेगा और

१. लेक्चर ऑन द सायंस आव लैंग्वेज, १, ३५४ तथा आगे।

तब मारने की क्रिया पारस्परिक-बोधक हो जायगी और "दपल्-ओचो-अकन्तहेन्-तए-तिवे" का अर्थ होगा "वह जो उनका है जो मेरा है वह लडाई मे अपने को पिटवाते रहना जारी रखेगा।" फिर, यदि 'अकन्' के बदले 'अकओ' शब्द रख दिया जाय तो वही लडाका व्यक्ति आत्मभाव से युक्त होकर अपने लिए लडाई कराता रहेगा। उदाहरणार्थ यदि मेरे दास का पुत्र अपने को किसी झगडे मे फँसा लेगा तो हमे निश्चित रूप से इस प्रकार के शब्दजाल का प्रयोग करना पडेगा। केवल साधारण नियमो की सहायता से अनेक जटिल विचारो को प्रकट करने के लिए कितने शब्द बन सकते हैं, इसका अनुमान श्री स्क्रेफसुड द्वारा प्रणीत सन्थाली व्याकरण के 'मारना' क्रिया के रूपो को देखकर ही लगाया जा सकता है। स व्याकरण मे इस क्रिया के अन्यपुरुष एकवचन के विविध रूप १०० पृष्ठो मे आ सके।

यहाँ मुण्डा भाषाओ की अन्य विशेषताओ मे से निम्नलिखित का उल्लेख भी आवश्यक है। जिस प्रकार हिन्द-चीनी भाषाओ मे अन्तिम व्यजन को अक्सर रोककर अथवा निम्न स्वर करके उच्चरित किया जाता है उसी प्रकार मुण्डा मे भी व्यजन का उच्चारण होता है। चीन के विद्वान् इस प्रकार के उच्चारण को 'आकस्मिक' अथवा 'प्रवेशसुर' कहते हैं। कैन्टन की भाषा मे भी व्यजन का उच्चारण इसी प्रकार होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है आस्ट्रो-एशियाटिक वर्ग की मॉनख्मेर शाखा की भाषाओ की यह सामान्य विशेषता है।[1] मुण्डा भाषाओ मे यद्यपि पुल्लिग तथा स्त्रीलिग सज्ञाओ का भेद वर्तमान है तथापि वास्तव मे वहाँ दो ही लिग हैं। इनमे से एक का सम्बन्ध प्राणिवाचक वस्तुओ से तथा दूसरे का सम्बन्ध अप्राणिवाचक से है। इन भाषाओ मे एकवचन, द्विवचन तथा वहुवचन विद्यमान हैं। सज्ञा मे अन्यपुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के रूप जोडने से ही ये दोनो वचन सम्पन्न होते हैं। व्यक्तिवाचक सर्वनामो के सभी लघु रूप क्रियाओ के प्रत्ययरूप मे स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहृत होते हैं। उत्तमपुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के दो-दो रूप होते हैं जिनमे प्रथम सम्बोधित पुरुषयुक्त तथा द्वितीय

१. देखो डायरबाल, 'कैण्टनीज मेड इजी वाकेबुलरी', तृतीय संस्करण, भूमिका। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यद्यपि यह 'प्रवेशसुर' कहा जाता है, तथापि वास्तव मे यहाँ सुर का सर्वथा अभाव है।

उससे रहित होता है। जब आप अपने पाचक को आदेश देते हुए यह कहते है "हम लोग साढे सात बजे भोजन करेंगे" तो हम के लिए 'अले' शब्द का प्रयोग करना पडेगा 'अबान' का नही। नही तो उस भोजन मे आप पाचक को भी आमन्त्रित कर देंगे जो हास्यास्पद होगा। मुण्डा भाषाओ मे भी अन्य पूर्वीय भाषाओ की भाँति ही सम्बन्धवाचक सर्वनाम के स्थान पर क्रिया के कृदन्तीय रूपो का व्यवहार होता है। उदाहरणस्वरूप इसमे "हिरन जिसे तुमने कल खरीदा" के स्थान पर "कल का तुम्हारे द्वारा खरीदा हुआ हिरन" हो जायगा। केवल (अन्त्य) प्रत्यय के जोडने से ही धातुओ के अर्थ मे परिवर्तन नही हो जाता अपितु मध्य मे प्रत्ययो के सयोग से भी अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण 'द-प-ल्' मे हो गया है। मुण्डा वाक्य का स्वरूप आर्य भाषाओ के वाक्यो से बिलकुल भिन्न होता है। यही कारण है कि अग्रेजी की भाँति इसके वाक्यो को वाक्याशो मे विभाजित करना असम्भव है। आर्य-भाषा की तरह इसमे क्रियापद होता है किन्तु वह केवल एक विचार को ही द्योतित करता है किन्तु उससे किसी कार्य के होने या करने की अधिकारपूर्ण भावना स्पष्ट नही होती। मुण्डा व्याकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके क्रियापद मे निर्धारक निपात 'अ' को जोडकर अर्थ मे दृढता लायी जाती है। मुण्डा मे किसी वाक्य के विभिन्न अश मिलकर किसी विचार का पहले चित्र बनाते हैं और तब प्रयत्न द्वारा इसे दृढता प्रदान की जाती है। हिन्दी मे हम कहते है "राम आया", इस विचार को प्रकट करने के लिए सन्थाली भाषाभाषी सर्वप्रथम राम के आ जाने का चित्र अपने सम्मुख लायेगा और तब निर्धारण निपात 'अ' को सयुक्त जोडकर इस बात की पुष्टि करेगा कि वह चित्र वास्तविक है। इस प्रकार जिस वाक्य द्वारा निश्चयात्मक भाव प्रकट न होगा वहाँ 'अ' निपात का व्यवहार नही होगा। उदाहरणस्वरूप हिन्दी तथा अग्रेजी मे जहाँ संयोजक प्रकार (Subjunctive Mood) एव इच्छाद्योतक प्रकार (Optative Mood) होगे वहाँ इसका प्रयोग न होगा। अग्रेज़ी और हिन्दी मे कृदन्त, तुमन्त और क्रियार्थक सज्ञाओ की सहायता से जिस प्रकार क्रियापद पूर्ण होते हैं उसी प्रकार मुडा मे निर्धारक निपात 'अ' की सहायता से क्रियापद पूर्ण होते हैं।

मुडा भाषाओ के नाम

जिस प्रकार अनेक असभ्य तथा आशिक सभ्य जातियो के नामकरण उस जाति के लोग नही करते बल्कि उसके आस-पास के लोग करते हैं, उसी प्रकार

मुडा जातियो के नामकरण भी इनके द्वारा नही हुए हैं अपितु इनके पडोसियो ने इनका नामकरण किया है और इन्ही नामो को आगे चलकर अन्य लोगो ने अपना लिया है। इनकी अधिकाश जातियाँ अपने को मनुष्यगण (Men) कहती हैं। कोल, कोडा, कुर्कू (यह कूर का बहुवचन है) हाड, हाडा को (बहुवचन रूप), अथवा हो, इसी शब्द (मनुष्यगण Men) के विभिन्न बोलियो मे रूप है और मुण्डा जातियो के लिए व्यापक रूप से इन्ही का व्यवहार होता है। भारतीय आर्यों ने तो प्राय. सभी अनार्य जातियो को कोल नाम से अभिहित किया है। सस्कृत मे कोल शब्द का अर्थ शूकर होता है यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से कोल की यह व्युत्पत्ति ठीक नही है तथापि बहुत लोग इसी को ठीक मान बैठे हैं। गगा के कांठे के दक्षिण में, जहाँ कोल लोगो के राज्य की अनेक दन्तकथाएँ सुनी जाती हैं, कई पीढियो से मुडा भाषा का एक वाक्य भी नही सुनाई पडता। कदाचित् कुली शब्द के तथा एक-दो मुख्य जातियो के मूल मे भी यह कोल शब्द ही है, यद्यपि ये जातियाँ सभवतः रोषपूर्वक इसका खण्डन करेंगी।

तीसरा अध्याय

करेन तथा मन

तिब्बती-चीनी भाषाओ के अन्तर्गत आनेवाली भाषाओ का वर्णन करने से पूर्व हमें अन्य दो वर्ग की भाषाओ का सक्षिप्त रूप मे उल्लेख करना आवश्यक है। इन भाषाओ का सम्बन्ध भी सदिग्ध है और वर्मा के भाषासर्वेक्षण के पूरा न होने तक इन्हें अस्थायी रूप से स्वतन्त्र परिवारो के रूप मे रखा जा रहा है। ये करेन तथा मन परिवार हैं। प्रस्तुत सर्वेक्षण मे इनमे से किसी का विवरण नही दिया गया।

करेन परिवार

करेन वस्तुत. कई वोलियो का एक ऐसा समूह है जिसका व्यवहार दक्षिणी वर्मा तथा स्याम के समीपवर्ती भागो मे फैली हुई इस जाति के लोग करते हैं।[1] स्वर्गीय प्रो० टेरिन डे लाकोपेरी के अनुसार ये चीनी की पूर्ववर्ती भाषाएँ हैं और इस प्रकार मन भाषाओ से, जिनका विवरण आगे दिया जायगा, ये सम्वन्वित हैं। मुझे भी इन दोनो मे एक से अधिक समानताएँ मिली हैं। यह भी सम्भव है कि हिमालय मे प्रचलित किरान्ती भाषाओ से भी इनका दूर का सम्वन्व हो, लेकिन इस प्रश्न को हमें वर्मा के भाषा सर्वेक्षण की खोज के लिए यही छोड देना चाहिए। जहाँ इतना सन्देह वर्तमान है वहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ लोगो के अनुसार करेन लोगो की गणना दस विस्मृत जातियो मे है और यह असम्भव नही है कि इन्होंने अपनी कुछ परम्पराएँ उत्तरी चीन मे उपनिवेशरूप मे वसे हुए यहूदियो से प्राप्त की हो। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग, उत्तरी चीन से आवा के समीप-

१. जिस क्षेत्र में करेन भाषा बोली जाती है उसे स्यामी चीनी भाषाओं वाले नक्शे में दिखाया गया है।

वर्ती स्थानो की ओर गये। यहाँ से ये लोग पाँचवी अथवा छठी शताब्दी के लगभग दक्षिण की ओर गये और इरावदी, सालविन तथा समुद्रतटवर्ती मेनाम के बीच के पर्वतीय भाग मे फैल गये। करेन भाषा के विविध रूपो के विवरण उपस्थित

करेन

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
स्गा	३,६८,२८२
पो	३,५२,४६६
तांगथू	१,१०,५३५
करेन्नी	३४,४८८
अन्य	१,४८,२५५
जोड़	११,१४,०२६

करने का कार्य मैं बरमा के भाषा-सर्वेक्षण पर छोड़ देता हूँ। इनकी सख्या बहुत है। इस स्थान पर इतना ही कथन पर्याप्त है कि इनमे सबसे महत्वपूर्ण उत्तर की करेन्नी अथवा लाल करेन, दक्षिण की पो तथा स्गा एव तागथू हैं।

मन परिवार

मन परिवार के अन्तर्गत, अस्थायी रूप से वर्गीकृत भाषाएं, मुख्य रूप से चीन तथा हिन्द-चीन में बोली जाती हैं, यद्यपि इसके कुछ बोलनेवाले ब्रिटिश बर्मा मे

मन

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
मिआओ	३९४
याओ	१९७
जोड	५९१

भी जा बसे हैं। मन शब्द चीनी भाषा का है और इसका अर्थ है "दक्षिण के असभ्य लोग"। चीनी लोग इस शब्द का व्यवहार हिन्द-चीन तथा इसके समीपवर्ती चीन की सीमा मे बसे हुए लोगों के लिए करते हैं। इनकी दो जातियो, मिआओ तथा याओ के प्रतिनिधि लोग दक्षिणी शान रियासत की ओर चले गये है और उनको भाषाओ की गणना सन् १९२१ की जनगणना मे दर्ज है। इन भाषाओ का भारत से कुछ भी सम्बन्ध नही है और इनका विवरण वर्मा के भाषा-सर्वेक्षण मे दिया जायेगा। इससे अधिक विवरण, इस सर्वेक्षण के द्वितीय खण्ड मे 'तुलनात्मक शब्द-समूह की भूमिका' के अन्तर्गत दिया जायगा।

चौथा अध्याय

तिब्बती-चीनी परिवार

तिब्बती-चीनी परिवार

आस्ट्रिक को छोडकर कोई भी भाषा-परिवार इतना बृहत् एव विस्तृत नही है जितना तिब्बती-चीनी। यह परिवार पूर्वी गोलार्द्ध मे, मध्य एशिया से दक्षिण बर्मा तक तथा बाल्टिक के प्रदेश से पेकिंग तक फैला हुआ है। इस विस्तृत भू-भाग मे रूपहीन एव प्रगतिशील अनन्त तिब्बती चीनी भाषाएँ बोली जाती है। इनके बोलनेवालो की सख्या आस्ट्रिक तथा भारोपीय परिवार की भाषाओ से भी बहुत अधिक है। इसका क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है और इसके बोलनेवालो की सख्या इतनी अधिक है कि किसी भी विद्वान से इसे पूर्णरूप से अधिकृत करने की आशा नही की जा सकती। इनमे से कतिपय भाषाओ, यथा तिब्बती, बर्मी, स्यामी अथवा चीनी की यत्किंचित् अथवा पूर्णरूप से विशेषज्ञो ने खोज की है। अन्य भाषाओ के नमूने के रूप मे केवल कतिपय शब्द ही ज्ञात हैं। फिर, दूसरी भाषाओ के हम केवल नाम ही जानते हैं और कुछ के तो हमे नाम भी ज्ञात नही हैं।

इनका वर्गीकरण

इन्हें सर्वप्रथम वर्गीकृत करने का प्रयत्न ब्रायन, हाटन तथा हाग्सन ने किया था और इनमे से हाग्सन की कृतियाँ तो वस्तुत इस प्रकार की समस्त खोजो की आधार-शिला हैं। हाग्सन के पश्चात् उत्साही तथा परिश्रमी लोगन का नाम आता है और बर्मा तथा असम प्रदेशो मे भाषा के सम्बन्ध मे जो कुछ कार्य हुआ है उसके लिए हम इस विद्वान के ऋणी हैं। लोगन के बाद मैसन, कुशिग, फोरबेस अथवा एडकिन्स आये जिन्होंने इस क्षेत्र के एक भाग के सम्बन्ध मे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया और हमारे समक्ष नूतन तथ्य प्रस्तुत किये। तदुपरान्त मैक्समूलर, फ्रैडरिक मूलर अथवा टेरि दे लाको पेरी जैसे कतिपय अन्य प्रशिक्षित भाषाशास्त्री इधर आकर्षित हुए जिन्होंने पूर्ववर्त्ती लेखको द्वारा प्रस्तुत की गयी सामग्रियो की जाँच की और

उलझे हुए तथ्यो को क्रम मे रखा। इसके बाद इन भाषाओ के अध्ययन के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति हुई और यदि हम अपने अध्ययन के विषय को भारत की भाषाओ तथा उससे सटे हुए पडोसी देशो तक ही सीमित रखें तो इस क्षेत्र मे म्यूनिख के स्वर्गीय प्रो० कुहन, लाइपजिक के प्रो० कानरेडी, अमेरिका के डा० लाफर एव प्रो० ब्रेडले और इन सबसे बढ़कर फ्रास के भाषा स्कूल के प्रतिभाशाली विद्वानो तथा फिनोत् के तत्त्वावधान मे दूर हनोई मे स्थित प्राच्यविभाग के कार्यो का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इन विद्वानो के परिश्रम के फलस्वरूप इन भाषाओ के वर्गीकरण का ढांचा तैयार हो गया है और जिन विद्वानो मे इनके मूल्याकन की क्षमता है उन्होंने इसे स्वीकार भी कर लिया है। इन विद्वानो ने इन विभिन्न किन्तु अत्यधिक पृथक् भाषाओ के ध्वनि सम्बन्धी नियमो का भी अनुसन्धान कर लिया है और इन भाषाओ मे सुर की उत्पत्ति सम्बन्धी नियमो को भी खोज निकाला है। इस प्रकार बर्मा के भाषासर्वेक्षण की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी है और जब तक ये पक्तियाँ प्रकाशित होगी तब तक उसका कार्य भी बहुत अग्रसर हो गया रहेगा।

वर्गीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त

तुलनात्मक भाषाशास्त्र मे जो एक सर्वमान्य स्वीकृत सिद्धान्त है वह यह है कि भाषाओ का वर्गीकरण उनके व्याकरण के अनुसार करना चाहिए। इसके लिए केवल शब्द-समूह का आधार अविश्वसनीय है। यदि हम शब्द-समूह को ध्यान मे रखकर परीक्षण करें तो डा० जॉनसन की लैटिन मिश्रित अग्रेजी को रोमान्स भाषा तथा उर्दू को सेमेटिक अथवा ईरानी के अन्तर्गत रखना पड़ेगा, लेकिन यह सभी लोग जानते हैं कि अग्रेजी ट्यूटानिक तथा उर्दू भारतीय आर्यभाषा परिवार के अन्तर्गत आती है। वर्गीकरण सम्बन्धी यह नियम संस्कृत, लैटिन अथवा अंग्रेजी जैसी भाषाओ मे तो लागू होता है क्योकि इनके व्याकरण हैं, लेकिन कठिनाई वहाँ उपस्थित होती है जहाँ हमें ऐसी भाषाओ से सामना करना पड़ता है जिनका आदि-भाषाओ के दृष्टिकोण मे कोई व्याकरण नहीं है, जिनके रूपो मे न तो सज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि के भेद ही वर्तमान हैं और न जिनकी क्रियाओ के रूप ही चलते हैं तथा जिनके शब्द एकाक्षर होते हैं और उनके रूप मे कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। अंग्रेजी 'शताब्दी कोश" (Century Dictionary) के अनुसार व्याकरण वस्तुतः भाषा के प्रयोग का क्रमबद्ध विवरण है। जहाँ तक इसके तिब्बती-चीनी परिवार भाषाओं का सम्बन्ध है, इनमें शब्दों के प्रयोग और रूपों मे भेद होता है और इसी

प्रकार शब्दो के वाक्य मे प्रयोगसम्बन्धी नियम भी होते है। इस प्रकार ऊपर के प्रश्न के उत्तर के लिए हमे अपने सिद्धान्त का परित्याग करना पड़ेगा और व्याकरण की परिभाषा से शब्दरूप वाले अश को हटाकर अपनी परिभाषा को व्यापक बनाना पडेगा। इस दशा मे व्याकरण की परिभाषा सामान्य रूप से केवल शब्दो तथा उनके प्रयोग तक ही सीमित रह जायगी। दूसरे शब्दो मे हमे शब्द-समूहो के तुलनात्मक अध्ययन पर ज़ोर देने के लिए बाध्य होना पडेगा और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस प्रक्रिया से हम पुन अपने सिद्धान्त पर आ जायँगे। तिब्बती-चीनी भाषाओ को, उनके बोलनेवाले बौद्धो की भाँति ही, कई बार जन्म लेना पडा है। यह भी कर्म के प्रवाह मे पडी हुई हैं। इनके सम्बन्ध मे जो हाल मे खोज़ें हुई हैं उनसे स्पष्ट हो गया है कि अपने पूर्वजन्म मे ये सश्लिष्ट भाषाएँ थी तथा इनमे उपसर्गों एव प्रत्ययो का प्रयोग होता था और यद्यपि इनके उपसर्ग तथा प्रत्यय समाप्त हो गये हैं तथापि इनके शब्द-समूहो, उच्चारणो एव वाक्य मे इनके स्थान के सम्बन्ध मे इनका आज भी प्रभाव है। तिब्बती-चीनी शब्दो के इतिहास की तुलना उन बहुसख्यक पत्थरो से की जा सकती है जिन्हे कोई व्यक्ति समुद्र मे उसके विभिन्न तटवर्ती स्थानो मे फेंकता है। इनमे से एक पत्थर स्थिर धारा मे गिरता है और अपरिवर्तित रहता है, दूसरा कीचड मे गिरता है और शताब्दियो पश्चात् अपनी ऊपरी सतह को भी इतना मजबूत बना लेता है कि यह बिलकुल ही पता नही चलता कि सके अन्दर क्या है ? एक अन्य तूफानी धारा की चट्टानो मे गिरता है और धक्के खाते-खाते इस कदर घिस जाता है कि उसे कोई भूगर्भशास्त्री ही पहचान सकता है। एक और ऐसे स्थान मे चला जाता है जहाँ वह मूल का विद्रूप मात्र बन जाता है। और एक अन्य किसी चट्टान मे फँसकर तीव्र धारा से जर्जर होकर ऐसा रूप धारण कर लेता है कि केवल चिह्न मात्र ही अवशिष्ट रह जाता है। विद्वानो के परिश्रम एव धैर्यपूर्वक विश्लेषण के फल-स्वरूप कतिपय चीनी शब्दो के परिवर्तित रूपो का पता विभिन्न अवस्थाओ मे, लग पाया है। उदाहरणस्वरूप,चीनी मे घोडे के लिए "रँग' तथा "माँ" शब्दो का व्यवहार होता है। बाह्य रूप मे इन दोनो शब्दो मे अत्यधिक अन्तर है फिर भी प्रो० कोनार्डी ने "माँ" को "रँग" से प्रसूत शब्द सिद्ध किया है। यद्यपि आज चीनी मे मूल "रँग" का "माँ" रूप ही रह गया है और इसका उच्चारण एक विशेष सुर मे होता है।

मूल स्थान

परम्परा तथा तुलनात्मक भाषाशास्त्र, दोनो दृष्टियो से तिब्बती-चीनी जाति का मूल स्थान उत्तरी, पश्चिमी चीन में यागत्से नदी के ऊपरी भाग तथा ह्वागहो

नदी के बीच वतलाया जाता है।[1] कालान्तर मे तिब्बती चीनी लोग एक के बाद दूसरी आक्रमणकारी धाराओ के रूप मे भारत तथा असम प्रदेश की ओर बढते गये। ये लोग ब्रह्मपुत्र, चिन्दविन, इरावदी, सालविन, मेनाम तथा मेकाग नदियो के मार्ग से ही आगे बढे। इन्होंने इधर के आदिमवासियो को समुद्रतट या पहाडो की ओर जाने के लिए वाध्य किया। भाषाशास्त्र के अध्ययन से हमे यह भी पता चलता है कि मूल तिव्वती-चीनी लोगो को इधर निवास करनेवाली आदिम जातियाँ अवश्य मिली होगी। इनमे से निश्चित रूप से मानख्मेर, सम्भवत ,करेनो के पूर्वज तथा हिन्द-चीन की वे जगली जातियाँ भी रही होगी जिनकी भाषाओ का वर्गीकरण इन पृष्ठो मे मन शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। मानख्मेरो के सम्वन्ध मे पहले ही कहा जा चुका है। करेन तथा मन भाषाएँ सर्वेक्षण के अन्तर्गत नही आती लेकिन इनके सम्वन्ध मे निश्चित रूप से वर्मा के सर्वेक्षण मे विचार किया जायगा। इस सर्वेक्षण की पूर्णता की दृष्टि से इनके सम्वन्ध मे पूर्व पृष्ठो मे कुछ लिखा जा चुका है।

दो उपपरिवार

तिव्वती-चीनी परिवार की भाषाओ को सरलतापूर्वक दो उपपरिवारो में विभाजित किया जाता है। ये हैं—(१) तिव्वती-वर्मी भाषाएँ, (२) स्यामी-चीनी भाषाएँ। इनमे से किसी का पूर्ण विवरण इस सर्वेक्षण मे नही दिया गया है। करीव-करीव दूसरी भाषा के सभी वोलनेवाले, जिनकी गणना भारतीय जनगणना

तिव्वती-चीनी परिवार

	सर्वेक्षण के अनुसार	सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार
तिव्वती-वर्मी	१९,८०,३०७	१,१९,५९,०११
स्यामी-चीनी	४,२०५	९,२६,३३५
जोड	१९,८४,५१२	१,२८,८५,३४६

१. देखो E. Kuhn 'Ueber Herkunft und Sprache der trans-gangetischen Volker' pp. 4 and 8—"On the rule and speech of the Transgangetic Peoples"

की रिपोर्ट मे दी गयी है, बृहत्तर भारत के निवासी हैं। केवल कुछ ही बोलियाँ असम प्रदेश मे बोली जाती हैं और उन्ही का इस सर्वेक्षण मे उल्लेख है। जहाँ तक तिब्बती-वर्मी भाषाओ का सम्बन्ध है, इस सर्वेक्षण मे लगभग कुल के पाँचवें भाग का ही उल्लेख है। इन भाषाओ के अधिकाश बोलनेवाले वर्मा के निवासी हैं।

तिब्बती-बर्मी दो मुख्य शाखाएँ

तिब्बती-हिमालय शाखा

ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बती-बर्मी भाषाभाषी सर्वप्रथम यागत्सी तथा ह्वागहो के ऊपरी भाग मे स्थित अपने मूल स्थान से इरावदी तथा चिन्दविन के उत्तर की ओर आये। यहाँ से, सम्भवत , इनमे से कुछ लोग ब्रह्मपुत्र एव उत्तर हिमालयवर्ती सापो नदी की प्रतिकूल धारा की ओर जाकर तिब्बत मे बस गये। इनमे से कतिपय लोगो ने जलविभाजक रेखा (वाटर शेड) को पार कर पूर्व मे असम प्रदेश से लेकर पश्चिम मे पजाव तक हिमालय की दक्षिण श्रेणियो को अपने अविकार मे कर लिया।

असम-वर्मी शाखा

असम मे इसी परिवार के अन्य लोगो से, जो असम घाटी से होकर ब्रह्मपुत्र के निचले भाग मे आये थे, इनका सम्पर्क हुआ और ये उनमे घुल-मिल गये। नदी के वडे मोड पर वर्तमान घुवरी शहर के समीप ये जातियाँ दक्षिण की ओर मुडी और इन्होंने सर्वप्रथम गारो पहाडियो, तत्पश्चात् आज के टिपरा पर्वत को अधिकृत कर लिया। ऐसा लगता है कि इनमे से कुछ लोग कपिलि की घाटी तथा उत्तर कचार के पर्वतीय प्रदेश की पडोस की नदियो को पार कर ऊपर चले गये। लेकिन इसके तथा गारो पहाडियो के बीच के जिन्हे आजकल खासी तथा जयतिया पहाडी कहते है, पर्वतीय प्रदेशो पर ये अधिकार करने मे असफल सिद्ध हुए और यह आज भी प्राचीन मानख्मेर भाषा-भाषियो का स्थान रह गया है। इस तिब्बती-बर्मी दल के अन्य सदस्य असम घाटी के उत्तर मे रुक गये और वहाँ से दक्षिण की ओर चले आये। इन लोगो ने नागा पहाडियो पर अधिकार कर लिया और यहाँ मिश्रित जातियो के पूर्वज के रूप मे बस गये। इनकी भाषा को हम सुविधा की दृष्टि से नागा-वर्ग के नाम से पुकारते हैं। इनमे से कुछ सम्भवत सीधे पूर्वी नागा प्रदेश मे चले

गये, लेकिन अन्य लोग दक्षिण से मणिपुर होते हुए पश्चिमी नागा प्रदेश मे जा पहुँचे और आज भी उत्तर की ओर इनके प्रस्थान करने के चिह्न दिखाई पडते है। इनके अन्य सदस्यगण इरावदी तथा चिन्दविन के ऊपरी भाग के आसपास ही, जहाँ आज काचिन भाषा बोली जाती है, बस गये और इस प्रदेश को उन्होंने विदेश गमन करनेवालो का केन्द्र बनाया। हम लोगो को निम्न जातियो की बोलियो, यथा, मणिपुर की लूइ भाषाओ तथा उत्तरी बर्मा की कदु, जी, लशि, मैग्थ, फोन (ह् पोन्) अथवा मारू जैसी छिटपुट बोलियो मे स्पष्ट रूप से प्रारम्भ के गमनागमन के चिह्न मिलते हैं। बाद को, फिर भी प्राचीन काल मे ही मणिपुर के निवासी मणिपुरी ही रहे होगे क्योकि उनकी भाषा मेइथेइ न केवल अपने मूलस्थान मे, जो आज कोचिन प्रदेश कहा जाता है, बोली जानेवाली भाषा से ही साम्य रखती है वरन् उस भाग के अन्य बाहर से आकर बसे लोगो की भाषा से भी समानता रखती है। इस दल के कुछ लोग चिन्दविन तथा इरावदी के उत्तर की आसपास की भूमि मे बस गये और धीरे धीरे इन नदियो के बहाव की ओर नीचे चलते हुए अथवा एक दूसरे से मिलते हुए या अपने पूर्वज मानख्मेरो के पर्वतीय प्रदेश से पृथक् रहते हुए दक्षिण की ओर रवाना हुए। इसके पूर्व कि इनकी भाषा मे किसी प्रकार का परिवर्तन हो, ये लोग पश्चिम की ओर मुडे और मणिपुर के दक्षिण चिन पहाडो मे बस गये।[1] यहाँ इनकी जनसख्या मे अभिवृद्धि हुई जिसके कारण इन्हे अनेक समूहो मे उत्तर के पहाडो की ओर जाने के लिए बाध्य होना पडा। इस स्थानान्तरण मे लुशाई लोगो की भूमि, कचार, मणिपुर मे तथा नागा पर्वतो तक के उनके दूर के सम्बन्धियो मे उपनिवेश रूप मे इनके कुछ लोग छूट गये। उनके वशज, एक दूसरी से भिन्न लगभग तीस भाषाएँ बोलते हैं जिनका पारस्परिक सम्बन्ध है। इन्हे मेइथेई के साथ कुकिचिन वर्ग मे स्थान दिया गया है। इनका एक दल यून्नन मे प्रविष्ट हुआ था। इन लोगो से हमारा तात्कालिक सम्बन्ध नही है किन्तु इनकी भाषा अत्यधिक दिलचस्प है। इनकी भाषा का प्राचीन रूप सि-हिआ कहलाता है। यह कई शताब्दियो से मृतक

१. इस सम्बन्ध में दूसरा विचार यह है कि 'कि चिन जाति के लोग बर्मी आक्रमणकारियो की शाखा नहीं थे, अपितु ये मनीपुर की घाटी मे बसे हुए मेइथेइ लोगो की शाखा थे। भाषा-साक्ष्य के आधार पर इस सम्बन्ध मे जो कुछ सम्भावना पायी जाती है, उसका विवरण यथातथ्य रूप मे ऊपर दिया जा चुका है।

हो चुकी है किन्तु एक चीनी भाषाशास्त्री ने हम लोगो के लिए इसे सुरक्षित रखा है। उसने इस भाषा का जो विशेष विवरण उपस्थित किया है वह यूरोपीय छात्रो को डा० लाफर कृत ताग-पाओ मे मिलता है।[१] सि-हिआ चीन की पश्चिमोत्तर सीमा पर बोली जाती थी और यह एक मात्र वह तिब्बती-बर्मी भाषा है जिससे हम परिचित हैं। इस दल के आधुनिक प्रतिनिधि लोलो लोग है। इनमे से अधिकाश लोग यूनन मे ही निवास करते हैं किन्तु कतिपय लोलो बोलनेवाली छिटपुट जातियाँ पूर्वी बर्मा मे भी मिलती है। चिन्दविन-इरावदी समूह की प्रमुख शाखा जो आधुनिक बर्मी लोगो की पूर्वज है, नदियो के मार्ग से आगे बढती गयी और अन्ततोगत्वा उसने समस्त निचले प्रदेश पर अधिकार करके पागन तथा प्रोम मे अपनी राजधानियाँ स्थापित की। अन्त मे, आधुनिक काल मे काचिनो के एक दल ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था, लेकिन उत्तरी बर्मा पर अग्रेजो का अधिकार हो जाने के कारण उनका आगे बढना रुक गया। जो भी घटनाएँ घटती हैं उनका पूर्णरूप से ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नही किया जा सकता। ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसमे से अधिकाश प्रागैतिहासिक काल से सबधित है। मैंने यहाँ जो कुछ निवेदन करने का यत्न किया है उसका आधार स्थानीय परम्पराओ एव नृ-विज्ञान तथा भाषाशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि इनमे से कतिपय मान्यताओ का आधार सदिग्ध है और मैंने द्विविधा के साथ ही उन्हे स्वीकार किया है।

स्यामी-चीनी

आगे अब स्यामी-चीनी भाषाओ का विवरण उपस्थित किया जायगा। इनके बोलनेवालो के सम्बन्ध मे हमारे पास पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री है। ब्रिटिश भारत मे प्रतिनिधिस्वरूप केवल इनका एक ही समूह है और वह है ताई। चीनी भी इसी उपपरिवार की है किन्तु उससे हमारा कोई सम्बन्ध नही है। कतिपय विशेषज्ञ इस उपपरिवार मे करेन को भी सम्मिलित करते है किन्तु इसका सम्बन्ध बहुत कुछ सदिग्ध है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है,[२] जब तक बर्मा का भाषा-सर्वेक्षण सम्पन्न नही हो जाता तब तक सन् १९२१ की जनगणना का अनुकरण करते हुए, मैं अस्थायी रूप से करेन को एक पृथक् भाषा मानता हूँ।

१. सेकेण्ड सीरीज खंड XVII सं० १, मार्च १९१५।
२. देखो, पृ० ७७।

इतिहास के रगमच पर ताई लोग सर्वप्रथम युन्नन मे प्रकट हुए और वहाँ से ये उत्तरी वर्मा मे चले आये। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका सवसे प्रारम्भिक दल, उस क्षेत्र मे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व प्रविष्ट हुआ और इनकी सख्या भी वहुत थोडी थी। वाद मे, इनके अत्यधिक महत्वपूर्ण आक्रमण निस्सन्देह चीनियो के दवाव से हुए। ताई देगान्तरगमनकारियो का एक वडा समूह, छठी शताव्दी मे, दक्षिणी युन्नन के पर्वतीय प्रदेश से श्वेली की घाटी तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्रो मे दाखिल हुआ था और इनके आगमन से यह घाटी राजनीतिक शक्ति का केन्द्र हो गयी। तेरहवी शताव्दी के आरम्भ मे, उनकी राजधानी उस स्थान पर प्रतिष्ठापित हुई जिसे आज हम मुगमाऊ कहते हैं। श्वेली से ताई अथवा शाम अथवा (जैसा कि उन्हे वर्मा के लोग पुकारते हैं) शान लोग, दक्षिण-पूर्व मे आज के शान राज्य, उत्तर मे वर्तमान खाम्ती क्षेत्र तथा इरावदी के पश्चिम, इरावदी, चिन्दविन तथा असम प्रदेश के वीच के समस्त क्षेत्र मे फैल गये। तेरहवी शताव्दी मे इनकी एक जाति आहोम ने आक्रमण कर असम प्रदेश को जीत लिया और अपने नाम पर ही इसका नामकरण भी किया। न केवल परम्पराओ से ही इस बात की पुष्टि होती है कि उत्तरी वर्मा के शान लोग, ताई परिवार के सवसे पुराने सदस्य हैं वरन् अन्य शाखाओ के लोगो ने भी इन्हे 'ताई-लाग' अथवा 'महान ताई' और अपने को 'ताई नोई' अथवा 'छोटा ताई' कहा है।

ये प्राचीनतम निवासी तथा युन्नन दल के अन्य लोग धीरे-धीरे दक्षिण की ओर वढे और अपने सामने से मानख्मेर लोगो को हटाते चले गये। यह क्रिया शनैः शनैः सम्पन्न हुई। आगे चलकर हम देखेगे कि तिव्वती वर्मी लोगो ने भी इरावदी के काँठे मे ठीक यही काम किया। चौदहवी शताव्दी तक स्यामी अथवा जैसा कि ये लोग अपने को सम्वोधित करते थे, थाई लोग न तो मेनाम के वड़े डेल्टा मे वस ही पाये थे और न वे टेनासरिम तथा कम्वोडिआ के मानख्मेर भाषाभाषियो के वीच पच्चर के रूप मे ही निवास कर पाये थे। असम की भाँति ही स्याम शव्द भी शाम का ही विकृत रूप है।

वर्मा के शान लोग उतने भाग्यशाली न थे। तेरहवी शताव्दी के अन्त तक उनकी शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और तत्पश्चात् उनका ह्रास होने लगा। स्याम की पुरानी राजधानी अयूथिया की शासन-सत्ता के अन्तर्गत स्याम तथा लाओ पृथक् राज्य के रूप मे हो गये। वर्मी तथा चीनी सम्राटो मे अक्सर युद्ध हुआ करते थे और इनमे मे चीनी सम्राटो के आक्रमण से काफी क्षति हुई।

अठाहरवी शताब्दी के मध्य मे वर्मा के सम्राट् अलोम्फा ने शान के अन्तिम राज्य मोगाग को जीत लिया, किन्तु उधर सत्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही शान का इतिहास वर्मा के इतिहास मे अन्तर्भुक्त हो चुका था। यद्यपि शान राज्यो मे सदैव अशान्ति, विद्रोह एव आन्तरिक युद्धो का वातावरण रहा तथापि वे कभी भी अपने को वर्मा की परतत्रता से मुक्त न कर सके।

हिन्द-चीनी भाषाओ के इतिहास का सारांश

सक्षिप्त रूप मे ब्रिटिश भारत से सम्बन्धित भारत-चीनी भाषाओ का इतिहास इस प्रकार है। इधर के सबसे प्राचीन निवासी जिनके बारे मे हमे कुछ ज्ञात है सम्भवत वन्य "मन" जाति के आदि-चीनी पूर्वज है जो अब फ्रेंच हिन्द-चीन तथा चीन मे पाये जाते है। यह सम्भव है कि वर्मा के करेन लोगो से इनका दूर का रिश्ता हो। दक्षिण मे हिन्देशिया (इण्डोनेशिया) से मानख्मेर लोग आये। जिन्होंने असम प्रदेश सहित बृहत्तर भारत के विस्तृत भूभाग पर अधिकार कर लिया। बाद मे तिब्बती-बर्मी लोगो के हमलो के कारण उन्हे समुद्र के किनारे तक जाने के लिए बाध्य होना पडा। अब उनके प्राचीन निवासस्थान पर इस जाति के कतिपय लोग अज्ञात तथा छिटपुट रूप मे मिलते है। तिब्बती-बर्मी परिवार की एक शाखा तिब्बत गयी जिसके वशजो मे से कुछ लोग हिमालय की श्रेणी को पार कर उसकी दक्षिणी श्रेणी के ढालुए भाग मे बस गये। अन्य लोगो ने ब्रह्मपुत्र नदी के मार्ग का अनुसरण किया और उन्होने गारो एव टिपरा की पहाडियो को अधिकृत कर लिया। कतिपय अन्य लोग नागा पहाड़ियो, मनीपुर की घाटी तथा चिन्दविन और इरावदी नदी के ऊपरी भाग मे बस गये। इस अन्तिम निवासस्थान से उनके दल के दल दक्षिण की ओर बढे। मार्ग मे चिन पर्वत पर इनका उपनिवेश बन गया। आधुनिक युग मे यहाँ से पुन ये लोग अपने पडोस की लुशाई भूमि तथा कचार की ओर गये। इस दल के शेष लोग धीरे धीरे बाध्य होकर इरावदी के निचले काँठे मे जा बसे और वहाँ पर एक स्थायी राज्य की स्थापना की। अन्त मे तिब्बती-चीनी दल के एक दूसरे वर्ग ताई ने अपर वर्मा के पूर्वी पर्वतीय भागो पर अधिकार कर लिया और ये लोग उत्तर-पश्चिम की ओर फैल गये। इन्होने ऊपरी प्रदेश के काचिन लोगो को नही जीता। ये लोग दक्षिण की ओर भी बढे और अपने तथा समुद्र के बीच के मानख्मेर प्रदेश को अपने अधिकार मे कर लिया। इस दल के सबसे महत्वपूर्ण लोग वर्मा के उत्तर तथा दक्षिण जानेवाली पट्टियों, उसके निचले

भाग, पश्चिम के मानख्मेर-भाषी क्षेत्र तथा पूर्व मे चीन एवं अनामियो के देश में फल गये। सम्भवतः अनामीभाषी मूलत. ताई भाषाभाषी थे किन्तु वर्तमान समय मे इसमे मानख्मेर तथा चीनी का इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि उसका सम्बन्ध निर्धारित करना कठिन एव सदिग्ध है।

तिब्बती-चीनी भाषाओ की सामान्य विशेषताएँ

मनुष्य की भाषाओ के प्राय तीन विभाग किये गये हैं। ये हैं—अयोगात्मक, योगात्मक तथा विभक्तिप्रधान। इनमें से प्रथम दो विभागो की विशेषताएँ तिब्बती-चीनी भाषाओ मे वर्तमान हैं।

अयोगात्मक भाषाएँ

इन तीनो विभागो मे से यह अनुमान करना उचित नही है कि भाषा के विकासक्रम मे अयोगात्मक अवस्था सबसे प्रारम्भिक है। सभी तिब्बती-चीनी भाषाएँ किसी समय योगात्मक थी, लेकिन उनमे से कुछ, उदाहरणस्वरूप चीनी, अब ·ोगात्मक हैं। चीनी भाषा के पुराने उपसर्ग एव प्रत्यय समाप्त हो चुके हैं और उनका कुछ भी महत्व नही है। चीनी भाषा का प्रत्येक शब्द चाहे वह किसी समय उपसर्ग अथवा प्रत्यय अथवा दोनो से युक्त हो या न हो, आज एकाक्षर है। यदि उसमे समय, स्थान अथवा अन्य सम्बन्धो के अनुसार कुछ परिवर्तन की अपेक्षा है तो यह उपसर्ग अथवा नवीन प्रत्यय जोडकर नही होता अपितु यह कार्य कोई नया शब्द रखकर सम्पन्न किया जाता है। इस नये शब्द का अपना अर्थ होता है और वह मूल शब्द के साथ किसी रूप मे सयुक्त नही किया जाता। उदाहरणार्थ चीनी भाषा मे जाने के लिए '/कू' (/K'ū) तथा पूर्णता के भाव को द्योतित करने के लिए '/ल्यो' (/lyao) शब्द व्यवहृत होते हैं। अब यदि किसी चीनी को यह भाव व्यक्त करना है कि 'वह गया' तो वह कहता है—'वह जाते हुए पूर्णता—' ता / कू / ल्यो (–t'ā/K'u/lyao)। चीनी भाषा मे जो सहायक शब्द मूल में जोडकर अर्थ-परिवर्तन के लिए प्रयुक्त होते हैं उनमे से भी अनेक शब्द पृथक् शब्द के रूप मे अपना महत्व खो बैठे हैं और उनका अस्तित्व अब उपसर्गो एव प्रत्ययो की भाँति ही है। भाषा की यह अवस्था वस्तुत. योगात्मक है जहाँ मूल शब्द मे उपसर्ग, अन्त्य प्रत्यय अथवा मध्य प्रत्यय सयुक्त करके सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है और पुन. इन शब्दो को वाक्य मे रखकर भाव व्यक्त किया जाता है।

योगात्मक भाषाएँ

प्रकारो एव अवस्थाओ की दृष्टि से योगात्मक भाषाओ मे अत्यधिक विभिन्नता मिलती है। इनमे से कुछ भाषाएँ तो चीनी की भाँति है किन्तु कतिपय इतनी जटिल है कि उनकी जटिलता का अनुमान करना भी कठिन है।

उदाहरण के लिए ताई भाषा को लिया जा सकता है, जहाँ योगात्मक का सिद्धान्त अयोगात्मक को समाप्तप्राय करते हुए दृष्टिगोचर हो रहा है। उधर तिब्बती वर्मी वर्ग की भाषाओ मे अयोगात्मकता समाप्त हो चुकी है और उसके कुछ ही प्रत्ययो के स्वतन्त्र अर्थ भी हैं। ये पूर्ण रूप से योगात्मक भापाएँ हो चुकी हैं।

विभक्तिप्रधान भापाएँ

भाषा की एक और अवस्था भी है जिसका चीनी-तिव्वती वर्ग मे उदाहरण मिलना दुर्लभ है। इस अवस्था मे उपसर्ग तथा प्रत्यय केवल अपना मूल अर्थ ही नही खो वैठते अपितु वे मूल शब्द से इस रूप मे सयुक्त हो जाते है कि उन्हे विश्लेषण के अतिरिक्त किसी भी प्रकार पृथक् करना कठिन होता है। इन भाषाओ मे मूल अथवा धातु-शब्दो मे भी परिवर्तन हो जाता है। इस अवस्था को विभक्ति-प्रधान अथवा विभक्तियुक्त अवस्था के नाम से अभिहित किया जाता है। सस्कृत तथा भारोपीय परिवार की अन्य भापाएँ इसके अच्छे उदाहरण है।

भावात्मक तथा मूर्त विचारो की अभिव्यक्ति

आगे बढने से पूर्व वियना के स्वर्गीय प्रोफेसर फ्रेडरिक मूलर की तुलनात्मक भाषाशास्त्र-सम्बन्धी महान् कृति से निम्नलिखित उद्धरण देना आवश्यक है—

"जिन तरीको से मनुष्य के मस्तिष्क मे आदिम सामान्य भावनाएँ बनती हैं उनका मानव विचारो के अभिव्यक्तीकरण के रूप मे, भाषा के आगे के विकास मे अत्यधिक महत्व है। वस्तुओ को पूर्णतया मूर्तरूप मे देखा जा सकता है अथवा उन्हे विभिन्न भागो मे विभक्त करके एव इन भागो को कतिपय सामान्य विशेपताओ के अनुसार वर्गीकृत करके केवल भावात्मक रूप मे देखा जा सकता है। पहली अवस्था मे भाषा अन्तर्ज्ञान की अवस्था से आगे नही बढ पाती किन्तु दूसरी अवस्था मे इनमे भावात्मक विचारो के निर्माण की शक्ति आ जाती है।

"यह सत्य है कि प्रथम वर्ग की भाषाएँ अत्यधिक सुन्दर एव काव्यात्मक होती हैं। इन भाषाओ के अधिकाश शब्द मूर्त भावनाओ एव वस्तुओ को प्रत्यक्ष करनेवाले

होते है किन्तु इनमे सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि इनके द्वारा न तो उच्च विचारो को प्रकट ही किया जा सकता है और न ये अमूर्त एव भावात्मक विचारो को मुक्त रूप से प्रत्यक्ष ही कर सकती हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति मस्तिष्क को इस रूप मे प्रभावित करती है कि वह भावात्मक अथवा अमूर्त उच्च विचारो को प्रकट करने मे असमर्थ हो जाती है।

"ससार मे ऐसी अनेक भाषाएँ है जिनमे विभिन्न प्रकार के जानवरो के नाम-सम्बन्धी शब्द है, किन्तु उनमे जानवर के लिए एक शब्द नही है। इन भाषाओ मे विभिन्न प्रकार से बैठने के लिए अनेक सुन्दर शब्द है किन्तु बैठने के भाव को द्योतित करने के लिए एक शब्द नही है। इस प्रकार की भाषाओ का स्वस्थ रूप नही है और ये वर्गीकृत एव सयुक्त विचारो के अभिव्यक्तीकरण के लिए अयोग्य है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनमे उस प्रकार के लघु शब्दो का अभाव है जो विस्तृत अर्थ रखते हुए विचार की प्रक्रिया मे उसी प्रकार सहायता कर सकें जिस प्रकार बीजगणित के सूत्र करते है। जब हम इन भाषाओ मे आधुनिक विचारो को प्रकट करना चाहते हैं अथवा उदाहरणस्वरूप बाइबिल का अनुवाद करना चाहते हैं तो हमे सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि जिन विचारो को हम केवल अमूर्त रूप मे देखते हैं उन्हे ये भाषाएं वस्तुरूप मे देखती हैं।

"इन भाषाओ की सबसे बडी कठिनाई यह है कि इनमे कोई क्रियावाची शब्द नही होते अतएव विचारो की अभिव्यक्ति के लिए केवल सज्ञावाची शब्दो को ही व्यवहृत करना पडता है।"[१]

किसी समय तिब्बती-चीनी भाषाएँ ऊपर के वर्ग की ही थी किन्तु जब इनमे से कतिपय भाषाओ मे साहित्य का विकास हुआ तो उन्होंने क्रिया के अभाव की अवस्था को पार किया और अब ये अमूर्त विचारो को प्रकट करने योग्य बन गयी है। इन भाषाओं मे चीनी-स्यामी तथा तिब्बती की गणना की जा सकती है किन्तु तिब्बती-

१ यहां पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इन भाषाओ मे न सज्ञापद हैं न क्रियापद, अपितु कुछ ऐसे पद हैं जो न तो संज्ञा है और न क्रिया। किन्तु ये दोनो के लिए प्रयुक्त होते हैं। ये पद क्या हैं, इसे द्योतित करने के लिए कोई शब्द नहीं है और मूलर ने इसके लिए यूरोपीय व्याकरण के जो पारिभाषिक शब्द लिये हैं उससे कई विद्वानो को भ्रम ही हुआ है।

बर्मी वर्ग की अनेक भाषाएँ, जिनसे यहाँ हम लोगो का सम्बन्ध है, आज भी केवल मूर्त विचारो को प्रकट करनेवाली अवस्था मे ही है। इनमे से कई भाषाओ मे तो 'मनुष्य' जैसे साधारण विचार को प्रकट करने के लिए भी एक सामान्य शब्द नही है और उसके स्थान पर इन्हे अपने निजी कबीली नाम का प्रयोग करना पडता है। वे अग्रेजो के लिए सिगफो तथा इसी प्रकार अन्य लोगो के लिए माडो या गारो तथा अलेंग या मिकिर शब्दो का व्यवहार कर सकते है, किन्तु उनके यहाँ मनुष्यवाची कोई एक अमूर्त शब्द नही है। इसी प्रकार लुशाई मे विभिन्न प्रकार की चीटियो के लिए नौ या दस शब्द है, किन्तु सामान्य रूप से चीटी के लिए कोई एक शब्द नही है।

शरीर के अवयवो तथा उसके पारस्परिक सम्बन्धो को द्योतित करनेवाले शब्द प्राय अमूर्त भावो के ही परिणाम हैं। तिब्बती-बर्मी भाषाओ मे पिता, माता तथा हाथ शब्द पृथक् शब्द के रूप मे नही प्रयुक्त होते किन्तु उनके पूर्व किसी न किसी सर्वनाम, जैसे मेरा पिता, तुम्हारी माता, उसका हाथ, का प्रयोग करना पड़ता है। अधिकाश तिब्बती-बर्मी भाषाओ मे इस वाक्य को कि 'हाथ मे पाँच अँगुलियाँ होती हैं' शब्दश अनूदित करना अत्यधिक कठिन होगा। उत्तमपुरुष तथा मध्यमपुरुष सर्वनामो की अपेक्षा अन्यपुरुष सम्बन्धवाचक सर्वनाम का यहाँ अधिक प्रयोग होता है। अनेक भाषाओ मे तो अन्यपुरुष सम्बन्धवाचक सर्वनाम का वास्तविक अर्थ भी लुप्त हो गया है और यह केवल अर्थहीन उपसर्ग के रूप मे अमूर्त अर्थ को प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त होता है। मैंने इस प्रयोग का उल्लेख विस्तार से किया है। इससे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि ज्यो-ज्यो सभ्यता के विकास के साथ-साथ भाववाचक सज्ञाओ का प्रयोग बढता जाता है त्यो-त्यो इन्हे अनेक भाषाओ मे बडे साधारण ढग से निर्मित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया की प्रत्येक अवस्था का प्रमाण हमारे पास है और इसके उदाहरण हिन्दूकुश पर्वत से लेकर चिन पर्वत के विस्तृत भूभाग मे मिलते है।[1]

१. योगात्मक भाषाओ मे भाववाचक सज्ञाएँ इस प्रकार नहीं बनतीं। उदाहरणस्वरूप कतिपय मेलेशियन भाषाओ मे, जहाँ पर इस प्रकार की स्थिति है, एक विशेष प्रत्यय लगाकर विशुद्ध भाववाचक सज्ञा का निर्माण किया जाता है।

इसी प्रकार हिन्द-चीनी भाषा मे क्रियापदो की उत्पत्ति भी सज्ञा से ही हुई है। मूर्त से अमूर्त भाव के विकसित होने का यह अच्छा उदाहरण है। तिब्बती-वर्मी का साधारण वाक्य, "मैं जाता हूँ" वस्तुत 'मेरे जाने का' साकार विचार-रूप है। "मैं गया" मे 'जाने' की क्रिया की पूर्णता है। इसी प्रणाली पर तिब्बती-वर्मी भाषा के क्रियापद के रूप चलते है। ये रूप 'भावे' अर्थ प्रकट करते है। दूसरी ओर "मैं उसे मारता हूँ" वस्तुत 'मेरे द्वारा मारे जाने' के विचार को द्योतित करता है। इस वाक्य के द्वारा कर्तृ एव कर्मवाच्य, दोनो का बोध होता है। इससे इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि इन भाषाओ मे कर्मवाच्य नही होता। सच बात तो यह है कि इनमे वाच्य का सर्वथा अभाव है क्योकि इनमे वास्तविक क्रियापद होते ही नही।

सुर

अधिकाश तिब्बती-चीनी भाषाओ की मुख्य विशेषता यह है कि इनमे महत्वपूर्ण सुर है। इस सम्बन्ध मे ये मानख्मेर भाषाओ से भिन्न है जिनमे सुर का अभाव है। तिब्बती-चीनी भाषाओ की सुर-सम्बन्धी इस विशेषता के कारण कतिपय विद्वानो ने इन्हे बहुसुर (पालिटोनिक) वश के अन्तर्गत वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण भ्रामक है क्योकि पश्चिमी तिब्बती भाषा मे कोई महत्वपूर्ण सुर नही है। विभिन्न भाषाओ मे इन सुरो की सख्या मे भी अन्तर है। उदाहरणस्वरूप, स्यागी तथा कैन्टनी भाषा मे छै सुर है किन्तु वर्मी मे केवल दो ही, परन्तु वर्मी मे ये सुर अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं और इनकी सहायता से ही यह भाषा बोधगम्य है। सुर की प्रमुख विशेषता यह है कि इसे महत्वपूर्ण होना चाहिए। महत्वपूर्ण होने से यह तात्पर्य है कि जिस शब्द के साथ इसका प्रयोग होता है उसके अर्थ मे परिवर्तन आ जाय। जब हम इन भाषाओ मे किसी शब्द को लिखते है तो [illegible] उसके सुर को भी किसी चिह्न द्वारा इगित करना आवश्यक होता है क्योंकि जिन [illegible] से वह शब्द निर्मित हुआ है उससे कम सुर का महत्व नहीं है। [illegible] तिब्बती-चीनी भाषाओ को लिखते समय, विभिन्न भाषाओं मे इनके [illegible] से द्योतित करते हैं और कतिपय भाषाओं मे तो [illegible] समय [illegible] प्रयोग नही होता। जहाँ बिना चिह्न द्वारा इन भाषा[illegible] के [illegible] है वहाँ इन भाषाओं का आंशिक रूप ही हम लोगों के सम्मुख आता है। [illegible] केवल शब्द के आंशिक [illegible] को ही देख पाते है पूर्ण रूप का नहीं। इसे

स्पष्ट करने के लिए स्यामी भाषा से (मा) शब्द का उदाहरण लिया जा सकता है। जब तक इस शब्द के साथ कोई सुर न सयुक्त किया जाय तब तक इसका कुछ भी अर्थ नही होता, किन्तु सुरो को सयुक्त करते ही इसके शब्द विभिन्न अर्थ प्रकट करने लगते है। यथा—'मा' का अर्थ 'आओ', 'मा' का अर्थ 'तर करना', 'मा' का अर्थ 'घोडा', 'मा' का अर्थ 'सुन्दर', एव 'मा' का अर्थ 'कुत्ता' होता है। इस प्रकार 'मा मा-मा' का अर्थ है 'सुन्दर घोडा आता है।' किन्तु सुर चिह्न के बिना इसके लगभग आधे दर्जन विभिन्न अर्थ होगे। बिना सुर के हम यह नही कह सकते कि यह घोडा था अथवा कुत्ता, जो सुन्दर था या आ रहा था या यह आ रहा था अथवा तर हो रहा था अथवा यह कुत्ते का घोडा अथवा कुत्ता घोड़े का था या कुत्ता घोडे को तर कर रहा था या घोडा कुत्ते को तर कर रहा था। सुर वास्तव मे श्रौत अथवा ऊँचा नीचा होता है। जब किसी शब्द का उच्चारण उच्च सुर से किया जाता है तो उसका एक अर्थ होता है किन्तु जब निम्न स्वर से वह उच्चारित होता है तो उसका अर्थ भी दूसरा हो जाता है। ऊर्ध्वगामी सुर का एक अर्थ होता है और अधोगामी का दूसरा। अनामी भाषा इसी वर्ग की है और जब ईसाई धर्मप्रचारको को इसे सर्वप्रथम सुनने का सुअवसर मिला तो उन्होने इसकी तुलना चिडियो की चहचहाहट से की थी। वास्तव मे सुर के बलात्मक स्वराघात, दीर्घता अथवा अचानकता से, जो हम यूरोपीय भाषाओ मे पाते हैं, कोई सम्बन्ध नही है। इन भाषाओ मे सुर प्रत्येक शब्द को प्रभावित करता है और एक शब्दविशेष प्रत्येक दशा मे एक ही रूप मे प्रभावित होता है। स्यामी भाषा मे—'मा' शब्द मृदु-समसुर मे उच्चरित होता है और इसका अर्थ 'आओ' होता है। किसी भी वाक्य मे यह इसी रूप मे उच्चरित होता है।[1] प्रस्तुत स्थान पर सुरो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हमे विचार नही करना है और न अब तक इस सम्बन्ध मे अन्तिम रूप से विचार ही किया जा सका है।

यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राचीन काल मे किसी शब्द-विशेष का सुर उसके आदि व्यजन पर निर्भर करता था। लैप्सियस ने बहुत पहले इस सम्बन्ध मे यही सुझाव दिया था और आगे चलकर प्रोफेसर कोनरैडी ने उसके मत का जोर से समर्थन करते हुए कहा था कि उपसर्गों के लुप्त हो जाने के कारण ही सुर अस्तित्व

१. सुर को इंगित करने की सर्वोत्तम प्रणाली के सम्बन्ध मे तुलनात्मक शब्द सूची की भूमिका मे इसी खण्ड के भाग दो में विचार किया गया है।

मे आये। द्वि-अक्षर वाले शब्दो मे जहाँ पर शब्द, उपसर्ग एव धातुओ के सयोग से बना था, स्वराघात धातुओ पर ही होता था। स्वभावत स्वराघातहीन उपसर्ग धीरे धीरे लुप्त हो गये और शब्द के द्वयाक्षर से एकाक्षर मे परिवर्तित हो जाने के कारण स्वराघात का लोप हो गया और क्षतिपूरक के रूप मे उसका स्थान सुर ने ग्रहण कर लिया। इससे यह पता चलता है कि जहाँ अब भी उपसर्ग प्रयुक्त होते है वहाँ सुर की आवश्यकता भी कम है। इस प्रकार चीनी तथा स्यामी मे उपसर्गों का अभाव है जिसके परिणामस्वरूप इनमे अनेक सुर हैं किन्तु दूसरी ओर बर्मी मे उपसर्गों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग होता है अतएव वहाँ केवल सुर हैं। बर्मी भाषा के अनेक शब्दो मे तो महत्वपूर्ण सुर का अभाव-सा है। असम तथा अपर बर्मा की तिब्बती-चीनी भाषाओ मे, जो बर्मी की भाँति ही विशुद्ध सयोगात्मक है, इस प्रकार से सुरो का अभाव है। इनमे हमे मुश्किल से एकाध स्वर सुनाई पड़ते है यद्यपि यहाँ इस बात को भी स्वीकार कर लेना आवश्यक है कि प्रशिक्षित पर्यवेक्षको के न होने के कारण इस सम्बन्ध की हम लोगो की जानकारी भी बहुत कम है।

कण्ठद्वारीय अवरोध तथा अवरुद्ध व्यञ्जन

तिब्बती-चीनी भाषाओ तथा मानख्मेर एव मुण्डा भाषाओ मे उच्चारणसम्बन्धी एक अन्य विशेषता भी होती है जिसे चीनी विद्वान् "प्रवेश सुर' कहते है, यद्यपि वास्तविक रूप मे यह किसी भी प्रकार का सुर नही है।[1] यह सुर किसी शब्द को झटके के साथ रोककर समाप्त करने से उत्पन्न होता है। अस्वीकार के अर्थ मे अग्रेजी "नो' (No) का उच्चारण जिस रूप मे होता है उससे इस प्रकार के उच्चारण का अनुमान किया जा सकता है। ध्वनिशास्त्र के पारिभाषिक शब्द के बिना इस सुर का ठीक रूप से वर्णन करना कठिन है। यहाँ केवल इस व्याख्या से ही सतोष कर लेना उचित होगा कि इस प्रकार से प्रभावित शब्द के अन्त मे यदि स्वर हो तो उसमे कण्ठ-द्वारीय अवरोध होगा, किन्तु यदि उसके अन्त मे व्यजन हो तो वह व्यजन परश्रुति रहित होगा। एक भाषा की दूसरी भाषा से तुलना करने पर हम यह पाते हैं कि प्रथम अवस्था दूसरी अवस्था के बाद आती है। इस प्रकार 'अन्तिम व्यजनयुक्त परश्रुति रहित दुर्गेई का 'मिन्' (मि, mit= आँख) शब्द अनुगामी नागा मे 'म्हि' (mhi),

१. पृष्ठ ६५-६६ पर पाद-टिप्पणी देखो।

तथा काचिन मे 'मि' (mı) रूप मे उच्चरित होता है। ये दोनो उच्चारण वस्तुत कण्ठद्वारीय अवरोध युक्त है।

पदक्रम

शब्द अथवा पद मे क्रम का होना वस्तुत तिब्बती-चीनी भाषाओ की विशेषता नही हैं। एक समय कभी ऐसा भी था जब कि वर्तमान समय की भाँति यह क्रम नही था। इन भाषाओ के वाक्यो मे पदो का कोई निर्धारित क्रम नही होता। उपसर्गों तथा तिङ-प्रत्ययो के लुप्त हो जाने पर इन भाषाओ के वाक्य मे एक पद का दूसरे पद से सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए किसी न किसी पद्धति की आवश्यकता थी। अन्तत यह कार्य वाक्यो मे पदो का स्थान निर्धारित करके सम्पन्न किया गया था किन्तु विभिन्न भाषासमूहो ने एक ही पद्धति को स्वीकार नही किया। प्रत्येक समूह ने अपने पदो या शब्दो को अपने सदस्यो द्वारा व्यवहृत विचारधारा के अनुसार निर्धारित किया और विचारधारा का यह क्रम विभिन्न समूह की भाषाओ मे अलग-अलग था। इस प्रकार का अन्तर हमे अनेक पश्चिमी भाषाओ मे भी मिलता है। एक सामी भाषा-भाषी सर्वप्रथम कार्य के सम्बन्ध मे सोचता है और तदुपरान्त कर्ता के विषय मे। इस प्रकार जब उसे कहना होता है कि "जॉन मारता है", तो वह कहता है—"मारता है जॉन", किन्तु भारोपीय भाषा-भाषी सर्वप्रथम कर्ता के सम्बन्ध मे और तदुपरान्त कार्य के विषय मे सोचता है और तब वह कहता है कि "जॉन मारता है"। इस प्रकार वाक्य मे शब्दो या पदो के क्रम से किसी भाषा के बोलनेवाले लोगो के दृष्टिकोण का पता चलता है। अरबी भाषा-भाषी सर्वप्रथम कार्य के सम्बन्ध मे विचार करता है और कर्ता के विषय मे वह उतना नही सोचता, किन्तु इसके विपरीत भारोपीय भाषा-भाषी सर्वप्रथम कर्ता के सम्बन्ध मे विचार करता है और तत्पश्चात् वह निश्चित करता है कि उसे क्या करना है। मानख्मेर के समान ही स्यामी-चीनी भाषाओ मे भी कर्ता, क्रिया, कर्म तथा सज्ञा के बाद विशेषण का प्रयोग होता है। किन्तु तिब्बती-बर्मी भाषाओ मे कर्ता, क्रिया, कर्म के बाद ही प्राय विशेषण आता है और वहाँ सज्ञा के बाद विशेषण का प्रयोग आवश्यक नही है। फिर मानख्मेर तथा निकोबारी भाषाओ के समान ही ताई वर्ग की भाषाओ मे सम्बन्धसूचक कारक सज्ञा के बाद आता है किन्तु तिब्बती, बर्मी एव चीनी भाषाओ मे यह सज्ञा के पूर्व आता है।

पिछले पृष्ठो मे, मैंने तिब्बती-बर्मी तथा स्यामी-चीनी लोगो तथा उनकी भाषाओ

के सम्बन्ध मे, जहाँ तक हम लोगो को ऐतिहासिक युग से मालूम है, विचार किया है। अब मैं इन दो उपपरिवारो की भाषाओ पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालूंगा और इसके लिए तिब्बती-बर्मी से नही, वरन् स्यामी-चीनी से प्रारम्भ करना अत्यधिक सुविधाजनक होगा। स्यामी-चीनी वर्ग भारत के लिए कम महत्वपूर्ण है। इस तरह तिब्बती-बर्मी वर्ग की भाषाओ के गहन वर्गीकरण पर विचार करने का मार्ग अधिक प्रशस्त हो जायगा।

भारत में
स्यामी तथा चीनी भाषाओं के क्षेत्र

पैमाना– १ इंच = १२८ मील



खाम्टी
मोगांग
चीनी शान
मनीपुर
माडले
दक्षिणी शान
स्यामी

पाँचवाँ अध्याय

स्यामी-चीनी उपपरिवार

स्यामी-चीनी उपपरिवार मे दो वर्ग है—चीनी (सिनिटिक) तथा ताई। इनमे से पहले वर्ग के अन्तर्गत, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है[1], करेन भाषाएँ आती हैं। इन दोनो मे से किसी के सम्बन्ध मे भी इस सर्वेक्षण मे विचार नही किया गया है। चीनी कही भी ब्रिटिश भारत मे नही बोली जाती, यद्यपि चीन के निवासी,

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
चीनी (सिनिटिक वर्ग)		१,२७,५२७
ताई समूह	४,२०५	९,२६,३३५
जोड	४,२०५	१०,५३,८६२
चीनी सिनिटिक समूह		
चीनी		१,२७,५२७

भारत के प्रत्येक बडे शहर मे व्यापारी, बढई, चमडे, बेत तथा इसी प्रकार के अन्य काम करनेवालो के रूप मे पाये जाते है। रगून तथा अपर बरमा मे चीनी लोग पर्याप्त सख्या मे है लेकिन ये सभी अस्थायी निवासी है। ये या तो समुद्र-मार्ग से आये हुए व्यापारी हैं या युन्नन से आये हुए अन्य लोग है।

१. देखो, पृष्ठ ७६।

ताई वर्ग

ताई जाति, अपनी विभिन्न शाखाओ के रूप मे, हिन्द-चीनी प्रायद्वीप मे, अन्य सभी जातियो की अपेक्षा विस्तृत भूभाग मे वसी हुई है। निश्चित रूप से इनकी संख्या अधिक है। इसके सदस्य असम से लेकर दूरवर्ती चीनस्थित क्वाग-सी प्रदेश तक तथा बंकाक से लेकर युन्नन के भीतरी भागो तक वसे हुए हैं। युन्नन से दक्षिण हिन्द-चीन मे, इनके देशान्तरगमन का इतिहास पहले सक्षिप्त रूप मे वताया जा चुका है।[1] जिन विभिन्न जातियो से ताई जाति का निर्माण हुआ है, उनकी भाषाओ के सम्वन्ध मे विचार करना अभी शेष है।

ताई समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
स्यामी		८,७४४
लाओ		३,८५१
लू	.	२६,१०८
खुन		२३,२१०
डये	.	७४६
शान	२००	८,४३,८१०
आहोम	..	
खाम्टी	४००५	९,८६६
जोड	४२०५	९,२६,३३५

जनगणना मे ताई वर्ग की सात भाषाओ का उल्लेख किया गया है। ये हैं—स्यामी, लाओ, लू, खुन, डये, शान तथा खाम्टी। इनमे से केवल खाम्टी तथा शान की एक वोली ही इस सर्वेक्षण के क्षेत्र के भीतर आयी है। जनगणना मे इनके वोलने वालो की सख्या दी गयी है। अहोम को छोड़कर, जो अव मृतभाषा हो गयी है, अन्य सभी भाषाएँ ब्रिटिश वर्मा मे वोली जाती हैं। खाम्टी को छोड़कर अन्य छै वोलियाँ

१. देखो पृष्ठ ८५।

सात विभिन्न लिपियो मे लिखी जाती है। इनकी अनेक उपबोलियाँ हैं। स्यामी लिपि, जिसका आविष्कार सन् ११२५ मे हुआ था, अन्य लिपियों से बिलकुल भिन्न है। जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है, यह भाषा मुख्य रूप से बरमा के अमहर्स्ट तथा मरगुई जिलो मे बोली जाती है।

लाओ

स्यामी बोली लाओ, स्याम तथा बरमा मे विस्तृत रूप मे बोली जाती है। इसके बोलनेवाले उस देश के सीमावर्ती अमहर्स्ट जिले मे भी पाये जाते हैं। इसकी अलग वर्णमाला है और यह मॉन वर्णमाला के आधार पर बनी है।

लू तथा खुन

लू तथा खुन की भी अपनी वर्णमालाएँ है। इनका लाओ से अति निकट का सम्बन्ध है। स्याम की सीमा के ठीक उत्तर ये केंगटुग शान राज्य मे बोली जाती है। ये स्यामी तथा शान के बीच की बोलियाँ है। डये का उपयोग दक्षिणी शान राज्य की कुछ जनता करती है। इस बोली के सम्बन्ध मे मुझे कुछ भी ज्ञात नही है।

शान

शान भाषा मुख्य रूप से सम्पूर्ण शान राज्य मे बोली जाती है। इसके अन्तर्गत ब्रिटिश तथा चीनी, दोनो ही शान राज्य आ जाते हैं। उत्तर मे यह मोगाग तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तक बोली जाती है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—उत्तरी, दक्षिणी तथा चीनी। अन्तिम बोली की लिपि तनिक भिन्न है। अन्य शान वर्णमालाओ की भाँति यह भी बर्मी-लिपि से ही ली गयी है। 'शान' अथवा 'शन' शब्द वस्तुत 'शाम' का बर्मी उच्चारण है। यही शुद्ध रूप है और यही 'असम' के 'सम' मे भी वर्तमान है। चूँकि इस सर्वेक्षण मे शान राज्य नही आता अतएव यहाँ इस वश की केवल 'एटोन' बोली का नमूना ही दिया गया है। इसके बोलनेवालो की सख्या २०० के लगभग है और ये लोग बाहर से आकर असम मे बस गये हैं। इनके सम्बन्ध मे आगे पुन विचार किया जायगा।

आहोम

सन् १२२८ ईसवी मे, जब चीन मे कुबलाई खान अपना शासन स्थापित कर

रहा था, अहोम नाम की एक शान जाति आज के असम प्रदेश मे प्रविष्ट हुई। यह जाति यहाँ बस गयी और अन्ततोगत्वा उसने इस प्रदेश का नाम 'अहोम' रख दिया। अहोम शब्द वस्तुत आसाम (असम) का ही एक अन्य उच्चरित रूप है। धीरे-धीरे यह जाति शक्तिशाली होती गयी। सन् १५४० ईसवी मे इसकी शक्ति चरम सीमा तक पहुँच गयी और इसने दीमापुर के कचारियो पर विजय प्राप्त की। इस विजय से इस जाति के लोग सम्पूर्ण असम घाटी के स्वामी हो गये और १७वी शताब्दी के अन्त तक ये उत्साह तथा सफलतापूर्वक शासन करते रहे। इसी समय ये हिन्दू धर्म से प्रभावित हुए। इसके बाद ये अपना जातीय गौरव खो बैठे और इनके स्वभाव मे भी परिवर्तन आ गया। 'अब ये बर्बर किन्तु शक्तिशाली क्षत्रिय होने के बजाय, ब्राह्मणो के सदृश हो गये जो केवल वाक्शूर होते है।' इनकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गयी और असम प्रदेश, जिसे सर्वप्रथम बर्मा के लोगो ने जीता था, अन्ततोगत्वा सन् १८२४ ईसवी मे अग्रेजो द्वारा अपने शासन मे मिला लिया गया। अपने पतन के पूर्व से ही अहोम लोग इस हद तक हिन्दूधर्मवादी हो गये थे कि शताब्दियो से उनकी भाषा मृत हो गयी थी और अब इसके जाननेवाले केवल कतिपय ऐसे पुरोहित ही रह गये हैं जिनका आज भी अपनी पुरानी परम्पराओ के प्रति विश्वास है।

यह विचित्र बात है कि असम घाटी पर बहुत समय तक प्रभुत्व रखने पर भी आहोम लोगो ने यहाँ की भाषा को बहुत कम प्रभावित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी सख्या सदैव कम रही। चूंकि विभिन्न भाषाओ को बोलनेवाली जातियो पर उनका शासन था, अतएव शीघ्र ही उन्हे एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता महसूस हुई। यह अहोम अथवा असमिया मे से कोई एक ही हो सकती थी। इनमे आर्य-भाषा होने के कारण असमिया अधिक शक्तिशाली थी। इसके प्रचार मे हिन्दू पुरोहित-वर्ग का भी अधिक हाथ था और इनका तत्कालीन शासको पर बहुत प्रभाव था। केवल प्रभाव ही पर्याप्त नही हो सकता था क्योकि आगे हम देखेंगे कि मनीपुर मे जहाँ हिन्दू धर्म को उत्साह के साथ स्वीकार किया गया, वहाँ जनता ने किस प्रकार अपनी भाषा को कायम रखा, यद्यपि इस भाषा को लिखने के लिए ब्राह्मणो को एक नवीन लिपि का आविष्कार करना पडा। यद्यपि असम भाषा पर अहोम लोगो का बहुत कम प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तथापि यहाँ के साहित्य पर इनका प्रभाव स्पष्ट है। वर्तमान समय मे प्रयुक्त अहोम शब्दो मे से एक 'बुरजी' शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'मूर्खों के लिए शिक्षा-कोश', किन्तु वास्तव मे इसका इतिहास से तात्पर्य

है। आज भी प्राचीन ऐतिहासिक ग्रथ 'बुरजी' ही कहलाते है और असमिया साहित्य के लिए ये अभिमान की वस्तु है।"[1]

जिस समय अलोम्फरा ने मोगाग पर कब्जा किया था, उस समय शान लोग अधिकाश सख्या मे, उत्तर की ओर चले गये और चिन्दविन तथा इरावदी के ऊपरी भाग के विभिन्न स्थानो मे बस गये। इरावदी नदी के आसपास के बृहत् खाम्टी प्रदेश मे ये अधिक सख्या मे बस गये थे। यहाँ से अपनी जाति के आहोम लोगो द्वारा आमन्त्रित होकर ये लोग पूर्वी असम प्रदेश की ओर गये और अपने पूर्वागत भाई-बन्धुओ का यहाँ से उच्छेद कर दिया। यहाँ इन लोगो ने शान से किचित् भिन्न बोली को विकसित किया है और इनकी अपनी लिपि भी है।

खाम्टी

	सर्वेक्षण
खाम्टी	२,९३०
फाकिअल	६२५
ताइरोग	१५०
नोरा	३००
जोड	४,००५

एतोन शान

इसके बाद अन्य शान जातियो के कुछ लोग असम प्रदेश मे आये जो फाकिअल, ताईराग (स्यानीय तुरुग), नोरा तथा एतोन कहलाते है। इनमे से एतोन लोग तो आज भी बर्मी-शान भाषा बोलते हैं और बर्मी लिपि का ही प्रयोग करते है। ऐसे दो सौ लोगो की गणना इस सर्वेक्षण मे की गयी है। ताईरोग लोगो को मार्ग मे ही, काचिनो ने दास बना लिया था और अब ये सभी अपने मालिको की भाषा निगफो का प्रयोग करते हैं। इनमे से कुछ लोग फाकिअलो तथा नोरा लोगो के साथ, शान की एक बोली का उपयोग करते हैं जो खाम्टी से यत्किचित् भिन्न है।

१ आहोम लोगो की 'बुरंजी' के सम्बन्ध मे, देखो सर एडवर्ड गेट कृत हिस्ट्री ऑफ आसाम, पृष्ठ X तथा उसके आगे (द्वितीय सस्करण)।

छठाँ अध्याय

तिब्बती-बर्मी उपपरिवार

तिव्वती-वर्मी उपपरिवार की शाखाएँ

हम लोग यह देख चुके है कि तिव्वती-वर्मी लोग सर्वप्रथम दो शाखाओ मे विभक्त हुए थे। इनमे से एक शाखा तिव्वत मे साँपू के काँठे के उत्तर तथा पश्चिम की ओर तथा दूसरी हिमालय के उत्तर असम तथा वर्मा की ओर निवास करने के लिए चली गयी। प्राचीन काल मे ही, इस प्रकार के विभाजन से हम स्वभावत. भाषाओ के पार्थक्य की भी आशा करते हैं और वास्तव मे ऐसा हुआ भी। भाषाशास्त्रियो ने तिव्वती-वर्मी उपपरिवार को दो प्रमुख शाखाओ मे विभाजित किया है। ये हैं—

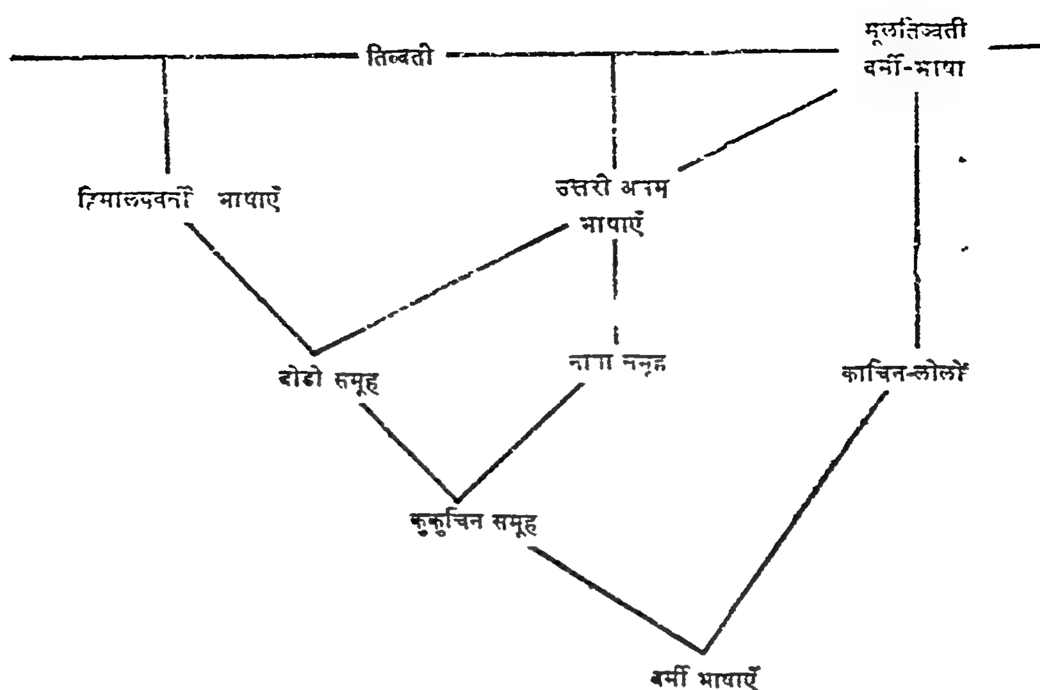
	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
तिव्वती हिमालयन	३,९९,७४२	४,४०,२६३
उत्तरी असमिया	३६,९१०	८०,४८२
असम-वर्मी	१५,४३,६५५	१,१४,३८,२६६
जोड	१९,८०,३०७	१,१९,५९,०११

तिव्वती-हिमालयवर्ती तथा असम-वर्मी अथवा लोहित। इनमे हम एक तृतीय प्रकीर्णक वर्ग को भी सम्मिलित कर रहे हैं। इसे सुविधा की दृष्टि से उत्तर-असम-शाखा के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे जहाँ तक जानकारी है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्तिम शाखा ऊपर की दोनो शाखाओ के बीच की है और इसका प्रयोग उस जाति के लोग करते है जिनके पूर्वज विभिन्न समयो मे तिव्वती-वर्मी जाति के मूलस्थान से चलकर स्वतत्र रूप मे वहाँ आकर बस गये। आगे यहाँ सर्वेक्षण तथा सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार प्रत्येक शाखा

के बोलनेवालो की सख्या का विवरण प्रस्तुत किया गया है। असम-बर्मी शाखा के बोलनेवालो की जो सख्या सर्वेक्षण मे दी गयी है, वह जनगणना की सख्या से बहुत कम है। इसका कारण यह है कि सर्वेक्षण मे सम्पूर्ण असम-बर्मी क्षेत्र को नही लिया गया है। जनगणना मे उत्तरी-असमिया बोलनेवालों की जो अधिक सख्या है, उसका कारण कुछ तो यह है कि कतिपय नवीन क्षेत्रो के सम्मिलित हो जाने से इस क्षेत्र का विस्तार अधिक हो गया है, किन्तु कुछ कारण यह भी है कि पहले की अपेक्षा अब लोग राजनीतिक मामलो मे अधिक दिलचस्पी लेने लगे है।

तीनो शाखाओ का पारस्परिक सम्बन्ध

तिब्बती-बर्मी भाषाओ का यह विभाजन उतना सरल नही है जितना मालूम पड रहा है। इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से इस सर्वेक्षण के तीसरे भाग के प्रथम खण्ड मे विचार किया गया है। यहाँ पर व्यापक एव यथासम्भव सुनिश्चित परिणामो को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा। तिब्बती-हिमालय-शाखा की उत्तर की सर्वाधिक प्रतिनिधि भाषा तिब्बती तथा असम-बर्मी शाखा की, दक्षिण की, सबसे प्रतिनिधि भाषा बर्मी है। इनके बीच मे सभी अन्य तिब्बती-बर्मी भाषाएँ आती हैं। इन दोनो छोरो की भाषाएँ दो स्पष्ट भाषावार कडियो से मिली हुई हैं। पूर्वी कडी के अन्तर्गत काचिन तथा लोलो भाषाएँ आती हैं जो तिब्बती को बर्मी से प्रत्यक्ष रूप से मिलाती हैं। पश्चिमी कडी पहले, एक जोडे कडियो के रूप मे चलती है और दो विभिन्न क्षेत्रो की ओर विकसित होती हैं, लेकिन नीचे पहुँचकर अग्रेजी के वाई (y) अक्षर की भाँति ये दोनो कडियाँ मिल जाती है। यह सयुक्त कडी, तदनन्तर आगे चलकर पुन बर्मी मे समाप्त हो जाती हैं। इस वाई (y) अक्षर का पूर्वी भाग भाषा के विविध स्वरूपो से प्रारम्भ होता है और इससे उत्तर असम शाखा का निर्माण होता है। यह भाग नागा पहाडियो की बोलियो से होता हुआ बोडो तथा कुकिन्नि वर्ग की भाषाओ तक जाता है और यहाँ यह दूसरे पश्चिमी भाग से जा मिलता है। दूसरा भाग तिब्बत की उन बोलियो से प्रारम्भ होता है जिन्होने उत्तर से हिमालय को पार कर पर्वतमाला के दक्षिणी भाग पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था। ये भी हमे बोडो तथा कुकिचिन तक ले जाती हैं। तत्पश्चात् सयुक्त पूर्वी तथा पश्चिमी भाग हमे काचिन तथा लोलो के समान वर्मी तक ले जाते हैं। इस तथ्य को मोटे तौर पर निम्नलिखित चित्र मे प्रदर्शित किया गया है—



चित्र ८

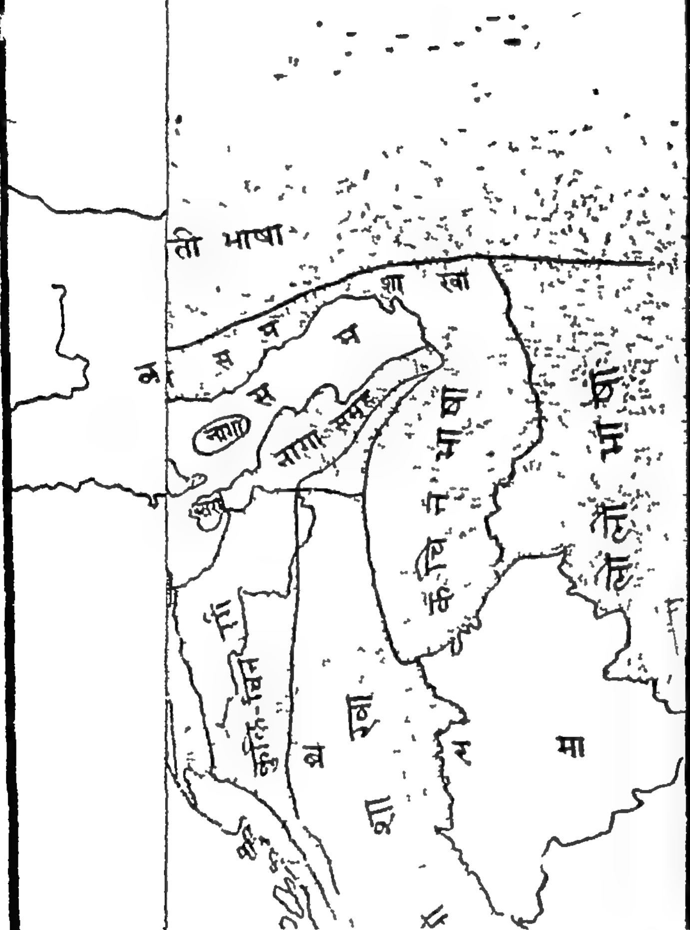
जिन क्षेत्रो मे इन वर्गों की भाषाएँ बोली जाती हैं वे इस अध्याय के प्रारम्भ मे लगे मानचित्र मे दिखाये गये हैं।

तिब्बती-हिमालयशाखा

तिब्बती-हिमालय-शाखा की भाषाएँ सरलता से तीन वर्गों के अन्तर्गत आ जाती है। प्रथम अथवा तिब्बती वर्ग के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती है जिन्हे हम सामान्य रूप से, भारतीय नाम 'भोटिया' से पुकारते हैं और इनमे सबसे अधिक प्रतिनिधि तिब्बती अथवा तिब्बत की भोटिया भाषा है।

इस अन्तिम भाषा से हमारा कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि सर्वेक्षण के अन्तर्गत मुख्य तिब्बत नहीं आया है, लेकिन सर्वेक्षण मे भोटिया के अन्य रूपो को सम्मिलित किया गया है और इन्हे दूसरे दृष्टिकोण से, तिब्बत की बोलियो के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। ये बोलियाँ बाल्टिस्तान तथा लद्दाख मे बोली जाती हैं और इन्होंने हिमालय को पार कर लाहुल, स्पिटी, कनावर, गढवाल, कुमायूं, नेपाल, सिकिम तथा भूटान मे प्रवेश किया है। मुख्य तिब्बती भाषा मे पुराने प्रत्यय समाप्त हो गये हैं और उनमे सुर (tones) आ गये हैं, लेकिन ज्यो ही, हम पश्चिम दिशा मे लद्दाख

ैंकाक्षेत्र



तथा बाल्टिस्तान की ओर बढते है, त्यो ही हमे भाषा मे, अत्यधिक मात्रा मे प्रत्यय मिलने लगते है और इसके परिणामस्वरूप, भाषा मे पूर्णरूप से सुर का अभाव हो जाता है। परिनिष्ठित तिब्बती भाषा का साहित्य समृद्ध है, किन्तु अन्य बोलियाँ प्राय विकृत है और इनमे लिखित सामग्री का सर्वथा अभाव है।

तिब्बती-हिमालय शाखा

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
तिब्बती वर्ग	२,०५,५०८	२,३१,८८५
असर्वनामीय हिमालयशाखा	१,००,२५६	१,००,५३७
सर्वनामीय हिमालय वर्ग	९३,९७८	१,०७,८४१
योग	३,९९,७४२	४,४०,२६३

तिब्बती वर्ग

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
तिब्बती	७,९६८	८,९९५
बाल्ती तथा पुरिक	१,३०,६७८	१,४८,३६६
लदाखी	२९,८०६	३३,३०२
दा-जोगका	२०,०००	१०,०४६
ल्होके	५,०७९	१०,५२६
अन्य	११,९७७	२० ६५०
योग	२,०५,५०८	२,३१,८८५

परिनिष्ठित तिब्बती बोलनेवाले कुछ लोग ब्रिटिश भारत मे भी मिलते हैं किन्तु यह सयोग की बात है। यहाँ तिब्बती भाषा के सम्बन्ध मे अधिक विचार करना अनावश्यक है। तो भी भाषा-शास्त्र तथा साहित्य की दृष्टि से यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है और यद्यपि भारत मे इसके बोलनेवालो की सख्या बहुत कम

है, फिर भी इस देश से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत से ही तिब्बत को बौद्ध धर्म तथा धार्मिक ग्रंथ प्राप्त हुए। स्वत तिब्बती लिपि का उद्भव भी भारतीय लिपि से ही हुआ है और इसका प्राचीन साहित्य, जो सातवी शताब्दी से प्रारम्भ होता है, मुख्य रूप से भारतीय ग्रथो का अनुवाद है। इन अनूदित पुस्तको मे से अधिकाश के मूल भारत मे उपलब्ध नही हैं। इन अनुवादो की बदौलत ही साधारण तिब्बती भाषा समृद्धिशाली साहित्यिक भाषा के रूप मे परिणत हो गयी और इसमे इतनी शक्ति आ गयी कि इसमे मूल सस्कृत का वैभव शाब्दिक अनुवाद के रूप मे ठीक ठीक आ गया।[1]

परिनिष्ठित तिब्बती, मध्यवर्ती तिब्बत के 'यू' तथा 'साग' प्रदेशो मे बोली जाती है। इस देश के अन्य भागो मे बोली जानेवाली अनेक बोलियो का उल्लेख इस सर्वेक्षण के तीसरे भाग के प्रथम खण्ड मे किया गया है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इसके पूर्वी तथा पश्चिमी, इन दो समूहो की बोलियो पर विचार करना ही पर्याप्त होगा।

ल्होके, डां-जोगका, शर्पा, कागते, लदाखी

पूर्वी के अन्तर्गत ल्होके, डा-जोगका, शर्पा तथा कागते एव कतिपय छोटी-मोटी बोलियाँ आती हैं इनमे से ल्होके भूटान, डा-जोगका सिक्किम, शर्पा एव कागते नेपाल तथा अन्य छोटी-मोटी बोलियाँ कुमायूँ तथा गढवाल मे बोली जाती हैं। लदाख तथा बाल्टिस्तान मे पश्चिमी समूह की बोलियाँ प्रचलित हैं। लदाखी का पर्याप्त रूप से अध्ययन हो चुका है और इसका एक शब्दकोश भी है। श्री फ्राँके तथा लेह मे रहनेवाले अन्य ईसाई धर्मप्रचारको ने इसमे कई पुस्तके प्रकाशित की है।

बाल्ती

बाल्ती की अपनी विचित्र लिपि है किन्तु अब इसका प्रयोग नही होता। इसमे कतिपय ऐतिहासिक पुस्तकें भी हैं किन्तु इसे साहित्यवाली भाषा नही कहा जा सकता। वर्तमान समय मे यहाँ इस्लाम-धर्म माननेवालो का निवास होने के

१. देखो, जाश्चकेकृत 'तिब्बतन् डिक्शनरी' की भूमिका, पृ० ४।

कारण यह भाषा भी फारसी लिपि मे ही लिखी जाती है। इसी लिपि मे बाइबिल का अनुवाद उपलब्ध है। कतिपय अन्य ईसाई धर्मसम्बन्धी पुस्तको का प्रकाशन भी यहाँ की आधुनिक भाषा मे हुआ है।

पुरिक

बाल्ती से सटा हुआ, पूर्व मे, इसके तथा लदाखी के बीच मे पुरिक का क्षेत्र है। बाल्ती तथा पुरिक मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। आँकडो की दृष्टि से इन दोनो को एक माना गया है और इनके बोलनेवालो की सख्या भी सयुक्त दी गयी है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, बाल्ती तथा लदाखी मे वे पुराने प्रत्यय सुरक्षित हैं जो अब परिनिष्ठित तिब्बती से लुप्त हो चुके है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन दोनो बोलियो मे सुर (tones) का विकास नही हो पाया है।

हिमालयवर्ती बोलियाँ

उपर्युक्त बोलियाँ तिब्बती-बर्मी भाषा-समूह की उन बोलियो के रूप है जिन्हें तिब्बती अथवा तिब्बत की भोटिया बोलियो के रूप मे स्वीकार किया गया है। इनमे से कई बोलियाँ हिमालय के पार अब विस्तृत पर्वतमाला के दक्षिण भाग मे बोली जाती है। ये बोलियाँ इधर अपेक्षाकृत बाद मे आयी होगी क्योकि इनके बोलनेवाले आज भी इनका सम्बन्ध तिब्बती से बतलाते है। लेकिन इसी उपपरिवार की कतिपय ऐसी पुरानी भाषाएँ भी हैं जिन्होने तिब्बती भाषा के वर्तमान रूप मे प्रतिष्ठित होने के पूर्व ही उत्तर की ओर से हिमालय को पार किया होगा। इन भाषाओ का, जहाँ कि ये आधुनिक युग मे प्रतिष्ठित है, पृथक् इतिहास भी है। यह तिब्बती से सर्वथा स्वतत्र है। इन भाषाओ का विकासक्रम भी तिब्बती से भिन्न है, यद्यपि इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता है कि तिब्बती से इनका बहुत पुराना सम्बन्ध है। ये भाषाएँ 'हिमालयवर्ती तिब्बती-बर्मी भाषाएँ' कहलाती है और इनकी सामान्य विशेषताओ का प्रो० कोनो ने निम्नलिखित शब्दो मे वर्णन किया है।[1]

"ये भाषाएँ सम्यक् रूप से तिब्बती-बर्मी हैं, यद्यपि इनमे से अनेक भाषाओ मे हम कई ऐसी विशेषताएँ पा सकते है जो तिब्बती-बर्मी भाषाओ के सिद्धान्तो के प्रतिकूल हैं। यहाँ सजीव तथा निर्जीव वस्तुओ को अभिहित करनेवाले शब्दो

१. ख० ३, भा० १, पृ० १७९ यत्किचित् परिवर्तन के साथ।

मे स्पष्ट रूप से भेद है। बडी सख्याओं की गणना यहाँ तिब्बती, बर्मी, चीनी, स्यामी आदि की भाँति दाशमिक पद्धति से नही होती अपितु बीस-बीस के हिसाव से होती है। पुरुषवाचक सर्वनाम के बहुवचन के साधारण रूपो के साथ-साथ, इन भाषाओ मे, द्विवचन के रूप भी मिलते हैं। उत्तमपुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के यहाँ दो-दो रूप मिलते हैं। एक प्रकार के रूप मे बोलनेवाला सम्मिलित नही होता, किन्तु दूसरे प्रकार के रूप मे वह भी सम्मिलित रहता है। अनेक बोलियो मे, कर्तारूप मे, उत्तम, मध्यम तथा अन्यपुरुष का पता, क्रियापदो मे अन्तर्भुक्त सर्वनामीय प्रत्ययो से चलता है। ऐसे क्रियापदो के नियमित रूप भी चलते हैं।"

न विशेषताओ के साथ ऊपर की बोलियो ने अपने विकास के लिए पृथक् मार्ग का अनुसरण किया है और इनके विकास के सिद्धान्त तिब्बती-बर्मी तथा तिब्बती-चीनी भाषाओ के सिद्धान्त से भिन्न है। यही कारण है कि इन भाषाओ की पूरी रूपरेखा ही बदल गयी है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इस अवस्था का कारण यह है कि प्राचीन काल मे यहाँ भिन्न भाषा बोलनेवाले लोग रहे होगे और उनकी भाषा का प्रभाव आज की इन भाषाओ एव बोलियो पर पडा होगा। प्राचीन काल के आदिवासी लोग किसी अन्य परिवार की भाषा बोलते होगे और यहाँ बाद मे बसनेवाले लोगो की भाषा मे जो परिवर्तन हुए उसका कारण यह होगा कि इनकी भाषा पर आदिवासियो की भाषा का प्रभाव पडा होगा और प्राचीन भाषा के नियम एव सिद्धान्त इन नवीन भाषाओ पर आरोपित हो गये होगे। विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिमालय-वर्गी भाषाएँ जिन बातो मे तिब्बती-बर्मी भाषाओ से भिन्न है उन बातो मे ये मुण्डा भाषाओ मे पूर्ण साम्य रखती हैं। अतएव इस बात की सम्भावना प्रतीत होती है कि प्राचीन काल मे मुण्डा अथवा उसी से सम्बन्धित कोई अन्य जाति हिमालयप्रदेश मे रहती थी और आज यहाँ जो भाषाएँ बोली जाती है उन पर उनकी भाषा की छाप है।

ऊपर की गैरतिब्बती-बर्मी विशेषताएँ एक ही अथवा एक ही प्रकार की भाषाओ मे नही मिलती और कतिपय बोलियो मे तो इनका सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर, इनमे से कतिपय विशेषताएँ, जैसे उत्तमपुरुष सर्वनाम के बहुवचन के दो रूप, जिनमे से एक वक्तासहित तथा दूसरा वक्तारहित होता है, इस क्षेत्र मे बहुत आगे, पश्चिमी तिब्बत की बोलियो तक मे मिलती है। यदि हम क्रिया-

रूपो को लें तो तिब्बती-वर्मी भाषाओ की मुख्य विशेषता, जिसके कारण हागसन ने उन्हे सर्वनामीय एव असर्वनामीय भाषाओ के रूप मे वर्गीकृत किया है,[1] हिमालयवर्ती सभी वोलियो मे उपलब्ध होती है। आगे हम हिमालयवर्ती वोलियो के सम्वन्ध मे असर्वनामीय एव सर्वनामीय, इन दो शीर्षको के अन्तर्गत विचार करेगे।

सर्वनामीय भाषाओ को भी दो उप-समूहो मे विभाजित किया जायगा। इनमे से एक उप-समूह के अन्तर्गत नेपाल की घाटी के पूर्व मे बोली जानेवाली अनेक वोलियाँ होगी तथा दूसरे उप-समूह मे वे वोलियाँ होगी जो कुमायूँ तथा उसके और आगे पश्चिम मे प्रचलित है।

असर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएँ

असर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएँ मध्य तथा पूर्वी नेपाल और उसके आगे पूर्व मे सिक्किम तथा भूटान मे प्रचलित है। चूँकि इनमे से अधिकाश वोलियाँ

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
गुरुग		५,२११
मुर्मि	३६,८४८	३८,५१२
सुन्वार	५,३५६	४,१३२
मँगरी	१६,९७९	२०,५३६
नेवारी	५,९७९	१०,१३४
रोग या लेप्चा	३४,८९४	२०,५६९
अन्य	२००	१,४४३

नेपाल मे प्रचलित है अत नीचे जो आँकडे दिये गये है, वे अपूर्ण है। इन आँकडो मे केवल गोरखा सिपाहियो तथा उन नेपालियो की सख्या ही सम्मिलित है जो दार्जिलिंग मे आकर वस गये हैं। इन वोलियो के अधिकाश बोलनेवाले नेपाल मे रहते हैं और उनकी सख्या इन आँकडो मे सम्मिलित नही है। दूसरी ओर नेपाल सरकार

१. एस्से रिलेटिंग् टु इंडियन सबजेक्ट्स् खं० १, पृ० १०५।

की कृपा से इन भाषाओ एव वोलियो मे से अधिकाश के नमूने पूर्णरूप मे उपलब्ध हैं। यही कारण है कि इन भाषाओ के यहाँ सुन्दर विवरण दिये जा सके हैं, यद्यपि इनके वोलनेवालो की सख्या अज्ञात है।

इन भाषाओ पर मुण्डा जैसी प्राचीन भाषाओ का उतना अधिक प्रभाव नही है जितना सर्वनामीय समूह की भाषाओ पर है। फिर भी इन पर मुण्डा भाषाओ का स्पष्ट प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके पूर्व मे वोली जानेवाली तिव्वती एव बोडो भाषाओ का इन पर जैसे-जैसे प्रभाव पडता गया वैसे-वैसे मुण्डा का प्रभाव कम होता गया। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सुन्वार भाषा है। हाग्सन ने जिस समय इसके सम्वन्ध मे लिखा था, उस समय यह सर्वनामीय भाषा थी किन्तु सर्वेक्षण के लिए इधर इसके जो नमूने प्राप्त हुए है, उन पर यदि विश्वास किया जाय तो अव यह सर्वनामीय भाषा नही रह गयी है। हागसन ने अपना निवन्ध सन् १८४७ मे लिखा था। उस समय यह सर्वनामीय भाषा थी। इसके लगभग पचास वर्ष वाद यह सर्वेक्षण हुआ। इन पचास वर्षो मे ही सुन्वार मे यह परिवर्तन हो गया।

यह वात हमे भली-भाँति ज्ञात है कि तिब्वती-वर्मी भाषाओ मे साहित्य का अभाव है और इस कारण अत्यधिक शीघ्रगति से इनमे परिवर्तन हुआ है। अतएव सुन्वार मे थोडे समय मे ही जो परिवर्तन हुआ है उसके कारण हमे आश्चर्य नही करना चाहिए। इसमे सन्देह नही कि आज से दो-तीन शताब्दी पूर्व इन भाषाओ मे मुण्डा भाषाओ की विशेषताएँ आज की अपेक्षा अधिक मात्रा मे वर्तमान थी। दूसरी ओर हम यह भी देखते है कि यह सर्वनामीय भाषाएँ वोडो समूह की भाषाओ से जोडनेवाली कडियाँ हैं। यह वात हमे स्पष्टतया ज्ञात नही है कि ये विशेपताएँ इन भाषाओ मे नैसर्गिक विकास के फलस्वरूप आयी हैं अथवा इन्होने उन्हे पडोस की भाषाओ से ग्रहण किया है। चाहे जो कुछ हो, इन्ही जोडनेवाली कडियो ने हिमालयवर्ती भाषाओ को Y अक्षर के, जिसकी चर्चा गत पृष्ठो पर की जा चुकी है, पश्चिमी भाग से मिलाया है।

गुरुग, मूर्मि, सुन्वार, मगरी तथा नेवारी वोलियाँ मुख्यत नेपाल मे वोली जाती हैं। इस सर्वे के लिए जो नमूने लिये गये वे दार्जिलिग तथा पडोस मे वसे हुए इन भाषाओ के वोलनेवालो से ही उपलब्ध हुए। नेपाल से आकर ये लोग दार्जिलिग तथा उसके पडोस मे वस गये हैं। अन्यत्र, ब्रिटिश-भारत मे इन भाषाओ के वोलनेवाले मुख्य रूप से गोरखा रेजिमेण्ट मे मिलते हैं। इनमे से केवल नेवारी भाषा मे कुछ साहित्य है। गोरखा लोगो के आक्रमण से पूर्व नेपाल मे नेवार लोगो

का ही शासन था। इस जाति का नाम नेवार भी नेपाल का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार सन् १७६९ मे नेवार वश के उच्छेद तक नेवारी नेपाल की राज्यभाषा थी। नेपाल मे बौद्ध धर्म का प्रवेश बहुत पहले हुआ था और यद्यपि बौद्ध धर्म के साथ ही सग्थ पवित्र ग्रन्थो के प्रणयन के लिए सस्कृत का भी प्रवेश हुआ तथापि नेवारी का भी साहित्य मे प्रवेश प्राचीन काल मे ही हुआ। नेवारी मे लिखित पुस्तकें प्राय नेपाल मे प्रचलित बौद्ध धर्मसम्बन्धी ग्रन्थो के अनुवाद तथा भाष्य हैं किन्तु १४वी शताब्दी से नेवारी मे शिलालेख भी लिखे जाने लगे। नेवारी मे कोश, व्याकरण तथा नाटक-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। नाटको मे तो रगमचसम्बन्धी निर्देश भी है। नेवारी की प्राचीनतम पुस्तक १४ वी शताब्दी मे लिखी गयी। यह सन् १०५६ से सन् १३८८ तक नेपाल की मुख्य ऐतिहासिक घटनाओ के सम्बन्ध मे है। नेवारी की अपनी लिपि है। इसका यत्किंचित् अध्ययन जर्मन तथा रूसी विद्वानो ने किया था। केवल हागसन ही एक ऐसे अग्रेज थे जिन्होने इसकी परीक्षा की थी और उन्होने भी इसका विशेष अध्ययन नही किया था।

इस समूह की दूसरी दिलचस्प भाषा रोग है। नेपाली लोग इसे लेप्चा कहते हैं। यह सिक्किम की मुख्य भाषा है। इसकी अपनी लिपि है और इसमे लिखित साहित्य भी उपलब्ध है जिसका सम्बन्ध बौद्धधर्म से है। चूंकि यह दार्जिलिंग के निकट की बोली है अतएव इसने अग्रेज़ विद्धानो का भी ध्यान आकर्षित किया है। यूरोपीय आदर्श पर इसके व्याकरण और कोश की रचना भी हुई है।

सर्वनामीय हिमालयवर्ती भाषाएँ

सर्वनामीय समूह की भाषाओ पर प्राचीन मुण्डा-भाषाओ का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। इस समूह की सभी भाषाओ मे कर्ता तथा कभी-कभी मुख्य और गौण कर्म को प्रदर्शित करने के लिए इसके क्रियापदो मे व्यक्तिवाचक सर्वनाम के लघुरूपो को सयुक्त करने की पद्धति है। जब कभी लिम्बु भाषा-भाषी यह कहना चाहता है कि "मैं उसे मारता हूँ" तो वह "मैं" तथा "उसे" को प्रत्ययरूप मे क्रियापद से सयुक्त कर देता है। इस भाषा मे 'मारना' के लिए 'हिप्', 'उसे' के लिए 'तु' तथा 'मैं' के लिए 'न्ग्' का प्रयोग होता है। इस प्रकार "मैं उसे मारता हूँ" के लिए इस भाषा मे "हिप्तूग" कहा जायगा। यह पृष्ठ ७३ पर दिये गये ठीक सथाली के उदाहरण के समान है। इस समह की कतिपय भाषाओ ने तो वीस के हिसाव से गणना करने की मुण्डा पद्धति को भी

अपनाया है। केवल दो भाषाएं ऐसी हैं जिनमे दस-दस करके गणना करने की तिब्बती पद्धति प्रचलित है, किन्तु अन्य भाषाओ ने तो भारतीय आर्यभाषा के अको को अपनाकर भाषाशास्त्रियो को चक्कर मे डाल दिया है। तिब्बती तथा उससे सम्बन्धित भाषाओ मे, सर्वनामो को व्यक्त करने की पद्धति जटिल है। यहाँ सर्वनामो के रूप, पद तथा मर्यादानुसार होते हैं और प्रत्येक रूप नम्रता के विभिन्न स्तरो को द्योतित करता है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कतिपय पूर्वीय भाषाओ मे अहकारयुक्त "मैं" के स्थान पर "विनीत दास" का प्रयोग होता है। परन्तु इन सर्वनामीय भाषाओ मे, यद्यपि सर्वनामो के अनेक रूप मिलते है तथापि इनके आधार सर्वथा भिन्न हैं। ठीक मुण्डा की भाँति ही यहाँ प्रत्येक (उत्तम, मध्यम तथा अन्य) पुरुष मे एक, द्वि तथा वहुवचन के अलग-अलग रूप मिलते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ "मैं" तथा "तू" और "मैं" तथा "वह" के द्विवचन के रूप भिन्न होते है और इसी प्रकार "मैं" तथा "तुम" एव "मैं" और "वे" के वहुवचन के रूप भी अलग-अलग होते हैं। पश्चिम की कतिपय वोलियो मे तो ऐसा प्रतीत होता है मानो मुण्डा से शब्द तक उधार ले लिये गये हैं और अन्तिम व्यञ्जनो के उच्चारण मे यहाँ मुण्डा तथा मानख्मेर उच्चारण के अवशेष उपलब्ध होते हैं। इन उच्चारण के सम्बन्ध मे पिछले पृष्ठ ७३ तथा १००, १०१ मे लिखा जा चुका है।

पूर्वी सर्वनामीय समूह

धीमाली थामी लिम्बू याखा खम्बू [१६ वोलियो सहित]	राइ या जिम्दार वायु छेपाग कुसूण्ड भ्रामु थाक्स्य

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये सर्वनामीय भाषाएँ दो समूहो मे विभक्त हैं। इनमे से एक पूर्वी तथा दूसरा पश्चिमी समूह है। इनके सम्बन्ध मे जो सामग्री उपलब्ध है, उससे विदित होता है कि ये दोनो समूह एक-दूसरे से, अपेक्षाकृत वहुत दूर पर स्थित हैं। पूर्वी समूह का क्षेत्र पूर्वी नेपाल एव उसके पडोस का प्रदेश है।

इस पडोसी प्रदेश को 'किरान्त' नाम से अभिहित किया जाता है।[1] यही कारण है कि हागसन ने इनका नामकरण "किरान्ती बोलियाँ" किया है। इस प्रदेश मे किरान्त लोग ही रहते हैं और उनमे से कुछ लोगो की ही सख्या ज्ञात है। यह सख्या भी उन लोगो की है जो दार्जिलिग तथा उसके आस-पास वस गये है। इस प्रकार इन बोलियो के बोलनेवालो की सख्या ठीक-ठीक ज्ञात नही है। यही कारण है कि ऊपर की सूची मे इनका नाम तो दिया गया है किन्तु इनके बोलनेवालो की सख्या नही दी गयी है। जो लोग सख्या जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं, वे इस सर्वेक्षण का परिशिष्ट १ देख सकते है। वहाँ भी जो सख्या दी गयी है वे अपूर्ण ही हैं। इन बोलियो मे से कुछ का तो हागसन ने अति सक्षिप्त परिचय दिया है किन्तु अन्य बोलियो, विशेषतया धीमाल, बाहिग (खम्बू बोलियो मे से एक) एव वायु का काफी परिचय दिया है। लिम्बू का तो कर्नल सीनियर ने आधुनिक ढग का पूर्ण व्याकरण लिखा है, किन्तु अन्य बोलियो के सम्बन्ध मे हागसन द्वारा सग्रहीत तथा इस सर्वेक्षण मे दी हुई सामग्री के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सामग्री उपलब्ध नही है।

सर्वनामीय वर्ग के पश्चिमी समूह की भाषाओ के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी अधिक है क्योकि ये सभी ब्रिटिश भारत मे बोली जाती हैं। इनमे मुण्डा भाषाओ की वे सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं जो पूर्वी समूह मे उपलब्ध हैं। इधर कनौरी तथा उसकी पडोसी बोलियो मे अन्तिम व्यञ्जन को रोककर बोला जाता है। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। इन भाषाओ मे कनौरी सबसे महत्वपूर्ण है। इसे कनावरी भी कहते हैं और यह शिमला के उत्तर-पूर्व मे, साठ या सत्तर मील की दूरी पर कनावर प्रदेश मे बोली जाती है। इसका थोडा-बहुत अध्ययन हुआ है और इसके व्याकरण एव शब्दसमूह का अध्ययन यूरोपीय विद्वानो एव उनके प्रोत्साहन से अन्य लोगो ने किया है। बाइबिल का कुछ भाग भी इसमे अनूदित हुआ है। कनाशी विचित्र एकान्तिक भाषा है। यह कनौरी के उत्तर-पश्चिम मे, कुल्लू घाटी के एक दर्रे की बोली है। यह कई बातो मे कनौरी के समान है। चारो ओर आर्यपरिवार की कुल्लुई भाषा से घिरे रहने के कारण इसमे कुल्लुई के अनेक शब्द आ गये हैं किन्तु कनौरी से इसका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर

१. यह नाम सस्कृत साहित्य के कल्पित किरात लोगों का स्मरण दिलाता है। इसी प्रकार याखा नाम से यक्षो का स्मरण हो आता है।

गये। इनमे से सबसे अधिक पूर्व की ओर जानेवालो मे भूटान तथा टोआग के निवासी हैं। इनके पूर्व मे टोआग से लेकर असम प्रदेश के सबसे पूर्वी कोने तक तथा उसके भी और आगे ब्रह्मपुत्र के उत्तर के पहाडो मे चार जातियाँ निवास करती है। जिनकी भाषाओ का ठीक-ठीक वर्गीकरण सदिग्ध है। पश्चिम से पूर्व की ओर बसी हुई क्रमश ये जातियाँ अक, अगक या ह्रुस्सो, डफला, अबोर-मिरी तथा मिश्मी हैं। इनमे से अधिकाश ब्रिटिश क्षेत्र के बाहर निवास करती है, अतएव इनके सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अपूर्ण है और ऊपर की सूची मे उनके बोलनेवालो की जो सख्या दी गयी है वह ठीक नही है, अपितु यह केवल उन लोगो की है जो ब्रिटिश क्षेत्र मे बसे हुए हैं।

अक

अक या अक लोग, जैसा कि उनके पडोसी उन्हे कहते है अथवा ह्रुस्सो जैसा कि वे अपने आपको कहते है, दरग के उत्तर के पहाडो मे, तोवंग और असम के बीच के एक कोने मे मिलते हैं। उत्तरी असम की भाषाओ मे से, इनके सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अत्यल्प है। सर्वेक्षण के लिए इस सम्बन्ध मे अधिक सामग्री प्राप्त करने के लिए उद्योग किया गया, किन्तु इस विषय मे अक जाति के मुखिया ने, जो हमारी सहायता के लिए आया था, भाषा-ज्ञान देने की अपेक्षा अपने पर्वत को उससे स्वतन्त्र रखना ही श्रेयस्कर समझा। वह कार्य सम्पन्न होने के पूर्व ही गायब हो गया और इस प्रकार इस सम्बन्ध का हमारा ज्ञान अधूरा रह गया। सन् १८४१ ई० मे इसके शब्दो की एक सक्षिप्त सूची श्री राबिन्सन ने उपस्थित की। तदुपरान्त सन् १८६८ तथा सन् १८९६ ई० मे श्री हेस्सलमेयर तथा श्री जे० डी० एंडर्सन ने बड़ी एव पूर्ण शब्दसूचियाँ उपस्थित की।[1] बाद की दो सूचियो से पहली सूची सर्वथा भिन्न है। पहली सूची मे भ्रष्ट डफला भाषा के ही शब्द आये हैं। हेस्सलमेयर तथा एडर्सन की अक भाषा निश्चय रूप से तिब्बती-बर्मी है किन्तु उसके ध्वनिसम्बन्धी नियम विचित्र हैं तथा इस शाखा की अन्य भाषाओ से वे अत्यधिक भिन्न हैं। इसके सख्यावाची तथा सर्व-नाम शब्दो तक के भी विशेष रूप मिलते हैं किन्तु दूसरी ओर इसके शब्द-समूह का

१. सर जार्ज कैम्पबेल ने १८७४ मे अक् भाषा की शब्दसूची प्रकाशित की थी, इसमे पुनः अन्तर मिलता है।

डफ्ला से सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। इस सम्बन्ध का कारण उधार लिये हुए शब्द नही प्रतीत होता।

डफ्ला

इन जातियो या डफ्ला लोगो मे से बहुत कम ब्रिटिश राज्य के निवासी हैं। अक लोगो के पूर्व मे डफ्ला लोग, उनके पूर्व मे मिरी लोग और उनके पूर्व मे दिहग नदी के दोनो किनारो पर अबोर लोग रहते है।

अबोर-मिरी

यत्किंचित् विभिन्नता के साथ मिरी तथा अबोर लोग एक ही भाषा बोलते है और इस भाषा का डफ्ला से अति निकट का सम्बन्ध है। अबोर-मिरी तथा डफ्ला के सम्बन्ध मे हमारी पूरी जानकारी है। गत शताब्दी के मध्य भाग मे राविन्सन ने इन दोनो का व्याकरण लिखा था और इनके सम्बन्ध मे यदि साधारण उल्लेखो को छोड भी दे तो इसके बाद श्री नीड्हम ने व्याकरण लिखा था तथा श्री जे० एच० लोरेन ने पहली भाषा का कोश और श्री हैमिल्टन ने दूसरी का व्याकरण लिखा। हम यह देख चुके हैं कि अक तथा डफ्ला भाषाओ के शब्दसमूहो मे पारस्परिक सम्बन्ध है और इस श्रृखला के दूसरे छोर पर अबोर का अपनी निकट की भाषा मिश्मी से सम्बन्ध है।

मिश्मी चुलिकता

मिश्मी लोग सदिया पर्वत के उत्तर मे निवास करते है। ये चार कबीलो मे विभक्त है तथा तीन सर्वथा विभिन्न बोलियाँ बोलते हैं। इनमे से सबसे पश्चिम के निवासी मिदु (अथवा राविन्सन के अनुसार नेदु) या चुलिकता मिश्मी लोग है जो दिहग नदी के काँठे मे तथा उससे लगे हुए पर्वत मे बस गये है। इनके पूर्व मे मिथुन या बेबेजिया (बहिष्कृत) मिश्मी लोग रहते है। ये लोग एक ही भाषा या बोली बोलते है किन्तु इसके सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अत्यल्प है। सर कैम्पबेल द्वारा संगृहीत इनकी शब्दावली की एक अपूर्ण सूची उपलब्ध है। अथक परिश्रम करनेवाले राविन्सन तक इस भाषा के नमूने प्राप्त करने मे असफल रहे। उन्होंने इसके विषय मे जो कुछ कहा है, इस प्रकार है—"वे लोग एक विचित्र भाषा बोलते हैं किन्तु इसका पडोस में बोली जानेवाली अबोर तथा मिरी से कुछ सम्बन्ध है।"

होता है। मंचाटी, चम्ब लाहुली, वुनन तथा रंगोली वोलियाँ और आगे उत्तर-पश्चिम मे लाहुल, चम्बा तथा काँगडा के पर्वतीय प्रदेशो मे वोली जाती है। लद्दाख-स्थित मिशनरियो ने इनका अध्ययन किया है और मचाटी तथा वुनन मे वाइविल का अनुवाद भी मिलता है। इस समूह की अन्य भाषाएँ कुमायूँ के उत्तर की पर्वत-श्रेणी मे, पूर्व की ओर वहुत दूर तक बोली जाती हैं। सर्वेक्षण मे जो कुछ दिया

पश्चिमी सर्वनामीय हिमालयवर्ती समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
मचाटी	२,९९५	
चम्ब लाहुली	१,३८७	.
वुनन तथा रागोली	२,९८७	.
कनाशी	९८०	५३९
कनौरी	१३,०९९	२२,०९८
रगूकस	६१४	.
दरमिया	१,७६१	७
चौडाग्सी	१,४८५	.
व्याग्सी	१,५८५	.
जग्गली	२००	८९
योग	२७,०९३	२२,७३३[1]

गया है उसके अतिरिक्त इनके सम्वन्ध मे वहुत कम ज्ञात है और सर्वेक्षण की सामग्री अल्प ही है, किन्तु केवल एक अपवाद को छोडकर यह सामग्री यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि ये भाषाएँ इसी समूह की हैं। यह अपवाद जग्गली वोली है और इस वोली के नमूने प्राप्त करने मे सर्वेक्षण को सफलता नही मिल सकी है। इसके नाम से ही इसके वोलनेवालो के जगलीपन का ज्ञान हो जाता है। इसके सम्वन्ध मे, निश्चयपूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह वोली तिव्वती-

१. इन भाषाओं की जनगणनासम्वन्धी संख्या अपूर्ण है, वहुत सम्भव है कि ये लोग तिव्वती समझ लिये गये हो और उन्हीं के साथ इनकी गणना भी हुई हो।

वर्मी उपपरिवार की है। यहाँ अन्य भाषाओ के साथ इसका वर्गीकरण केवल इसकी भौगोलिक स्थिति के कारण ही किया गया है।

ऊपर के उल्लेखो के साथ-साथ हिमालयवर्ती तिब्बती-वर्मी शाखा की बोलियो का हमारा सर्वेक्षण समाप्त हो जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन भाषाओ एव वोलियो पर प्राचीन मुण्डा का प्रभाव अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके कारण ही लाहुल, चम्वा तथा कनावर की वोलियो का मध्य भारत की मुण्डा भाषाओ से एव उनके द्वारा असम प्रदेश की खासी तथा भारत के वाहर की मॉनख्मेर भाषाओ से सम्वन्ध स्थापित होता है। अन्तिम भाषाओ का सम्वन्ध ही हिन्द-एशिया तथा पॉलिनेशिया होते हुए हमे ईस्टर द्वीप तक ले जाता है। मोटे तौर पर हम आस्ट्रिक-परिवार की भाषाओ को ८०° पूर्व देशान्तर से ११०° पश्चिम देशान्तर तक फैली हुई पाते हैं। इस प्रकार इनके विस्तार का योग १७०° है जो ससार का आधा है। केवल भारोपीय परिवार की भाषाओ को छोडकर (जिनका आजकल यूरोप से अमेरिका तक प्रसार है) पृथ्वी की अन्य परिवार की भाषाओ की अपेक्षा इस परिवार की भाषाएँ अधिक क्षेत्रव्यापी हैं।

उत्तरी असमियाँ शाखा

तिव्वती-बर्मी जातियो के निष्क्रमण की गतिविधि पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि साँपू नदी के साथ तिव्बत मे प्रवेश करने के उपरान्त

उत्तरी असमियाँ शाखा

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
अक या ह्रुस्सो	२०	७१
अवोर	१७०	१३,३१७
मिरी	३५,५१०	६५,२८९
डफला	९९०	९५९
मिश्मी	२२०	८४६
योग	३६,९१०	८०,४८२

इस जाति के कुछ लोग हिमालय को पार कर उसके दक्षिण ढाल की ओर चले

दिगारू, मीजू

वेवेजिया के पूर्व मे दिगारू नदी के उस पार, तेयिंग या दिगारू मिश्मी वोली वोली जाती है। इससे और पूर्व ल्हासा के एक भाग दजयूल की लामा घाटी मे मीजू मिश्मी बोली का क्षेत्र है। राविन्सन ने इन दोनो का व्याकरण एव शब्दसमूह प्रस्तुत किया है। श्री नीड्हम ने भी दिगारू शब्दावली लिखी है। ये दोनो वोलियाँ या भाषाएँ बहुत भिन्न हैं।

उत्तरी असमशाखा के सम्बन्ध मे सामान्य विचार

तिब्बती-वर्मी भाषाओं की उत्तरी असम-शाखा वस्तुत विविध भाषाओं का आकस्मिक सग्रह मात्र है जिन्हे भाषाशास्त्रीय आधार पर नही अपितु भौगोलिक आधार पर वर्गीकृत किया गया है। इनके सम्वन्ध मे निश्चयात्मक रूप से एक ही विचार प्रकट किया जा सकता है और वह भी नकारात्मक है। वह विचार यह है कि इन भाषाओ को न तो तिब्बती-हिमालय और न असम-वर्मी समूहो के रूप मे ही वर्गीकृत किया जा सकता है, यद्यपि इन दोनो से इनका सम्वन्ध है। सच तो यह है कि इस भू-भाग मे तिब्बती-वर्मी निष्क्रमणकारियो के एक के वाद दूसरे दल आते रहे और यहाँ की भाषा पर अपनी छाप छोडते गये। यही कारण है तिब्वती-वर्मी भाषाओ की दो अन्य शाखाओ मे से किसी न किसी से ये भाषाएँ कई वातो मे समानता रखती है। मोटे तौर पर ये तिब्वती-हिमालयवर्ती भाषाओ को असम-वर्मी वोडो, नागा, कुकिचिन तथा काचिन भाषाओ से जोड़नेवाली कड़ियाँ हैं।

असम-वर्मी शाखा

तिब्वती-वर्मी भाषाओ की असम-वर्मी शाखा बोलनेवाले लोगो के इतिहास की एक झलक पिछले पृष्ठों मे दिखलायी गयी है। यहाँ इनके सम्वन्ध मे कुछ अधिक विवरण उपस्थित किया जायगा। यह शाखा आगे और समूहो मे विभक्त हो गयी है। ये हैं—वोडो, नागा, काचिन, कुकिचिन, वर्मा, लोलो-मोसो तथा सक या लूई। इनमे से इस सर्वेक्षण मे समग्र रूप मे केवल दो समूहो, वोडो तथा नागा का ही परीक्षण किया गया है। काचिन, कुकिचिन, सक तथा वर्मा-समूहो की भाषाओ का केवल आशिक रूप मे परीक्षण हुआ है। क्योकि इनमे से कतिपय भाषाएँ तो इस सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। किन्तु इन चार समूहो मे से अधिकाश की भाषाएँ वर्मा की हैं और उन्हे सर्वेक्षण मे विलकुल नही लिया गया है। अन्त मे लोलो-मोसो समूह

की भाषाओ का भी सर्वेक्षण से कोई सम्बन्ध नही है। इस सर्वेक्षण मे जो त्रुटि रह गई है उसकी पूर्ति वर्मा के भाषा-सर्वेक्षण के वाद आगे होगी और जव तक यह कार्य सम्पन्न नही हो जाता तब तक, जहाँ तक यहाँ की भापाओ का सम्वन्ध हे, मैं सक्षेप मे उनका उल्लेख करने तथा मौजूदा अपूर्ण ज्ञान के आधार पर उनके किये गये वर्गीकरण को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ नही कर सकता। यह वहुत सम्भव है कि वर्मी भापाओ के सम्बन्ध मे अनुसन्वान-कार्य सम्पन्न हो जाने के वाद इस वर्गीकरण

असम-बर्मी शाखा

समूह	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
बोडो	६,१८,६५९	७,१५,६९६
नागा	२,९२,७९९	३,३८,६३४
काचिन	१,९२०	१,५१,१९६
कुकिचिन	५,६७,६२५	७,९६,३१४
वर्मा	६२,६५२	९३,३५,५९५
लोलोमोसो		७५,६८६
सक (लूई)		२५,१४५
योग	१५,४३,६५५	१,१४,३८,२६६

मे वहुत वडा परिवर्तन करना पडे। बोडो, नागा तथा कुकिचिन समह की कतिपय भाषाओ के सम्वन्ध मे हमारे पास पर्याप्त सामग्री है और इनका अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया जायगा। वर्तमान ज्ञान के आधार पर इन सभी समूहो के विषय मे यह कहा जा सकता है कि बोडो तथा नागा समूहो का तिव्वती-हिमालयवर्ती भापाओ से अति निकट का सम्बन्ध है किन्तु कुकिचिन तथा वर्मा-भाषासमूहो की अपनी अलग विशेषताएँ है। इन दोनो के वीच मे काचिन तथा लोलो-मोसो समूहो की भाषाएँ आती है। इनमे से प्रथम भाषा का कुकिचिन से सम्वन्ध है और द्वितीय का वर्मी से। एक (लूई) समह के विषय मे पृथक् विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पर सबसे पहले आनेवाले तिव्वती-वर्मी लोगो का प्रभाव है।

असम प्रदेश की अनार्य जातियो मे, सख्या तथा महत्व की दृष्टि से वोडो तथा वड जाति का विशेष स्थान है। भाषासम्वन्धी साक्ष्य के आधार पर यह विदित होता

है कि किसी समय, खासी तथा जैन्तिया पर्वतो को छोडकर, जहाँ खासी-भाषा-भाषी निवास करते हैं तथा जो एक अन्य—आस्ट्रोएशियाटिक—परिवार की भाषा है, ये लोग वर्तमान समस्त प्रदेश मे, मनीपुर के पश्चिम तथा नागा पर्वतो मे फैले हुए थे। खासी पर्वत के उत्तर मे, लगभग समस्त ब्रह्मपुत्र के काँठे पर इनका अधिकार है। पश्चिम मे इन्होंने गारो पर्वतमाला को अधिकृत किया है। दक्षिण मे ये लोग कचार

बोडो समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
काचारी या बोडो	२,७२,२३१	२,७१,६१२
लालुग	४०,१६०	१०,३८३
दीमा-सा	१८,६८१	११,०४०
गारो	१,३९,७६३	२,१६,११७
कोच	१०,३००	१६,१६५
राभा	३१,३७०	२२,५४५
तिपुरा	१,०५,८५०	१,६३,७२०
चुटिया	३०४	४,११३
मोरान	.	१
योग	६,१८,६५९	७,१५,६९६

मैदान तथा उसके आगे वर्तमान टिप्परा के पर्वतीय राज्य मे फैले हुए हैं। पूर्व मे इनके प्रभाव का क्षेत्र मनीपुर तथा नागा पर्वत की जगली जातियो तक सीमित था। नागा तथा खासी पर्वतो के बीच, इनकी एक महत्वपूर्ण जाति उत्तरी कचार के पर्वतो मे बस गयी थी। इसी जाति की एक प्रसिद्ध शाखा, कोच ने अपनी शक्ति बढाकर समस्त उत्तरी बंगाल को, पुर्निया तक रौंद डाला था।

कई शताब्दियो तक बोडो लोगो को बाहरी आक्रमण का सामना करना पडा, सन् १२२८ मे, पूर्व से ताई जाति के 'अहोम' लोगो ने आक्रमण करना आरम्भ किया था। उन्होंने ब्रह्मपुत्र के काँठे को अधिकृत कर लिया और जब तक यह प्रदेश ब्रिटिश राज्य मे मिला नही लिया गया तब तक ये यहाँ शताब्दियो तक शासन करते रहे।

पडोस मे हमे 'कोच' लोगो का शक्तिशाली राज्य केवल पश्चिमी असमिया प्रदेश तथा 'कूच' या 'कोचविहार' मे मिलता है। पूर्व मे वोडो लोग समाप्तप्राय हो गये। इस ओर पर्वतीय प्रदेश के कारण जहाँ ये अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण भी रख सके हैं वहाँ ये केवल कुछ शतको की सख्यावाले समूहो मे ही मिलते है।

दक्षिण से भी वोडो प्रदेश पर आक्रमण हुए। ये आक्रमण भी गत दो शताब्दियो के भीतर ही हुए थे। अपने समान-जातिवाले से दवाये जाने पर पीडित होकर 'कुकि' लोगो के समूहो को 'लुशाई' तथा 'चिन' पर्वतो को छोडना पडा। ये लोग उत्तर की ओर चले गये और मनीपुर तथा कचार के मैदान और विशेषतया उत्तरी कचार के पर्वतीय प्रदेश मे जा वसे। अव यहाँ वोडो तथा 'कुकि' लोगो की मिश्रित आवादी है।

किन्तु इधर सवसे महत्वपूर्ण आक्रमण पश्चिम से आर्यसस्कृति का हुआ। आर्य लोगो ने अपनी भाषा के साथ ढाका, सिलहट तथा कचार को अधिकृत कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि गारो पर्वतमाला के वोडो लोग 'टिप्परा' पर्वतमाला के अपने भाइयो से पृथक् हो गये, क्योकि इनके वीच आर्य-भाषा-भाषी लोग आ वसे। यही वात व्रह्मपुत्र के काँठे मे भी हुई। अव यहाँ के लोग पूर्ण रूप से आर्य-भाषा-भाषी हो गये हैं और इधर धीरे-धीरे वोडो भाषा समाप्त हो रही है। अव कूचविहार के प्राचीन राज्य की भाषा वँगला हो गयी है और पुरानी वोडो भाषा यत्र तत्र विच्छिन्न क्षेत्रो की भाषा रह गयी है। कामरूप राज्य की राजधानी कामरूप एव ग्वालपाडा मे आर्यभाषा के, असमियाँ और वँगला वोलनेवाले लोग सैकडो की सख्या मे निवास करते है किन्तु वोडो वोलनेवाले लोग दस-पाँच से अधिक नही हैं।

'कोच' शव्द का वास्तविक अर्थ भी अव लोग भूल गये है। अव इस शव्द का प्रयोग 'वोडो' जाति के उन लोगो के लिए किया जाता है जो हिन्दू हो गये है और जो अपनी मूल भाषा एव भोजन का परित्याग कर चुके है। जो वोडो आज भी अपनी भाषा से चिपटे हुए है वे प्राय तीन भाषाएँ वोलते है। इनमे से अनेक लोग असमियाँ भाषा वोलते है। इसके अतिरिक्त वे केवल अपनी सुन्दर एव शुद्ध योगात्मक वोडो भाषा का ही प्रयोग नही करते अपितु वे एक ऐसी मिश्रित भाषा भी वोलते है जिसके शव्द तो वोडो के है, किन्तु क्रियापद सर्वथा भिन्न भाषा असमियाँ के हैं।

कोच भाषा

ऊपर यह कहा जा चुका है कि कोच शव्द का मूल अर्थ अव समाप्त हो गया है और इससे हिन्दू 'वोडो' का वोध होता है। फिर भी ढाका तथा मैमनसिंह की सीमा

पर स्थित मधुपुर के जगल, गारो पर्वतमाला तथा असम घाटी के पडोस के जिलो मे 'पानि' अर्थात् 'लघु कोच' नाम के कुछ लोग मिलते है, जो आज भी वोडो परिवार की भाषा वोलते हैं। किन्तु इसमे सन्देह है कि ये लोग कोच हैं भी अथवा नही । कुछ लोगो के अनुसार ये लोग 'गारो' जाति के है और अव तक पूर्ण रूप से हिन्दू नही हो सके है। इन लोगो ने 'गोमास' खाना छोड दिया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जो लोग पूर्ण रूप से हिन्दू कोच वनकर सीमा पर शक्तिशाली हो गये थे उन्हे प्रसन्न करने के लिए ही इन लोगो ने अपने को 'लघु' अथवा निम्न श्रेणी का कोच कहा है। इनकी भाषा के जिन नमूनो को मुझे देखने का अवसर मिला है, यदि ये शुद्ध हैं तो यह भाषा 'गारो' और प्रधानतया असमियाँ भाषा का ही सम्मिश्रण है। आजकल यही भाषा 'कोच' के नाम से प्रख्यात है।

इस भाषा के वोलनेवालो की परम्पराएँ इस जाति का सम्वन्ध गारो लोगो से नही वताती। उनका विश्वास है कि ये लोग उत्तर-पश्चिम के उस स्थान से आये जहाँ पर कोच राजा राज्य करते थे। यहाँ से ये नितान्त सरलतापूर्वक अपने इस वर्तमान स्थान मे आ पहुँचे ।

काचारी, वड़ या वोड़ो

वास्तविक कोच जाति के प्रतिनिधि काचारी लोग है। ये लोग नौगाँव, कामरूप, ग्वालपाडा, कूचविहार तथा उसके पडोस के प्रदेश मे वसे हुए हैं। इसके पूर्व के क्षेत्र मे ये लोग अपने को वड कहते हैं जो प्राय अशुद्ध उच्चारण के रूप मे वोडो हो जाता है। इधर की समस्त भाषाओ का यही नाम पड गया है जो ठीक नही है क्योंकि वोडो इस समूह की केवल एक भाषा है। पश्चिम मे ये लोग 'मेचे' कहलाते हैं, किन्तु कतिपय स्थानीय विशेषताओ को छोडकर, सर्वत्र भाषा का रूप एक ही है। इनकी भाषा पूर्ण रूप से समृद्ध है और इसमे कई धातुओ को सयुक्त करके केवल एक शव्द के द्वारा गहनतम विचारो को प्रकट किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप 'जाओ' और 'लो' तथा 'देखो' और ध्यानपूर्वक 'निरीक्षण करो' को काचारी भाषा मे, केवल एक शव्द मे वोला जा सकता है। इस समूह की सभी भाषाओ से यह ध्वन्यात्मक रूप मे अत्यधिक विकसित है और यत्र-तत्र इसके शव्दरूपो को सम्पन्न करने के लिए विभक्तियो का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया है। वास्तव मे योगात्मक भाषाओ के क्षेत्र मे यह एक विचित्र वात है। दूसरी दिलचस्प वात जो इस भाषा मे हम लोगो के देखते ही देखते उत्पन्न हो गयी है, यह है कि ध्वन्यात्मक क्षय के कारण, इस परिवार

की भाषाएँ द्विअक्षरात्मक से एकाक्षरात्मक हो रही है और इस प्रकार हिन्द-चीनी भाषाओ की भाँति से अयोगात्मक बनती जा रही है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। इसमे 'सा' का अर्थ 'व्यक्ति' होता है और 'फि' उपसर्ग है। इन दोनो के सयोग से सामासिक शव्द 'फि-सा' वनता है, जिसका अर्थ है 'निर्मित व्यक्ति' अर्थात् 'वालक'। तिव्वती-वर्मी भाषा-भाषी वालक शव्द के भावात्मक रूप को समझने मे असमर्थ है और वह 'वालक' को पिता के सम्बन्ध से ही सोच पाता है क्योंकि उसी ने उसे उत्पन्न किया है। किन्तु यही स्वराघात आ जाता है। यह सामासिक शव्द के दूसरे अक्षर "इ" पर पडता है और इसके फलस्वरूप हम 'फि' के 'इ' को कठिनाई से सुन पाते हैं। इस व्याख्या से सम्वन्धित अन्य भाषाओ मे व्यवहृत 'वालक' शव्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पडता है। यह शव्द 'फ्सा' 'ब्सा' अथवा इसी प्रकार के अन्य रूपो मे एकाक्षर वन जाता है। यदि काचारी भाषा हमारा मार्ग-प्रदर्शन न करती तो हम इस एकाक्षर शव्द का वास्तविक अर्थ ही न जान पाते। यही नही, काचारी मे भी गौणरूप से एकाक्षर शव्द इसी प्रकार सम्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ 'रान्' का अर्थ 'सूखना' होता है किन्तु 'फ्रान' का अर्थ जो वास्तव मे 'फि-रान्' का सक्षिप्त रूप है, सुखाना हो जाता है।

वोडो भाषा काफी प्रसिद्ध है। स्कूली पुस्तको के अतिरिक्त श्री एडल ने परि-निष्ठित वोडो वोली का व्याकरण लिखा है तथा श्री एडर्सन ने इसकी लोककथाओ का अच्छा सग्रह किया है। श्री स्क्रेपस्वुड ने 'मेच' भाषा का व्याकरण लिखा है।

लालुंग, दीमा-सा

काचारी से अत्यधिक सम्बन्धित 'लालुग' भाषा है जो नौगाँव के दक्षिण-पश्चिम तथा उसके पडोस मे बोली जाती है। यह काचारी तथा दीमा-सा के बीच की कडी है। यह अन्तिम (अर्थात् दीमा-सा) वोडो भाषा है तथा उत्तरी कचार के पर्वतीय प्रदेश मे वोली जाती है। जिस प्रदेश मे यह भाषा वोली जाती है, उसके नाम पर इसका नाम 'पर्वतीय काचारी' पड गया है। इस नाम मे एक असुविधा यह है कि इसके कारण ही प्राय लोगो को यह विश्वास करने का अवसर मिलता है कि यह तथा कामरूप की 'मैदानी काचारी' दोनो, एक ही भाषा की विभिन्न वोलियाँ है।[1] वास्तव

१. सन् १५४० तक जब आहोम लोगों ने दिमासा लोगो को जीतकर उस

मे इन दोनो का उतना भी सम्बन्ध नही है जितना फ्रेंच तथा स्पेन की भाषाओ का। इन दोनो का सम्बन्ध एक ही भाषा-परिवार से है और निस्सन्देह दोनो की पूर्वज भाषा भी एक ही है किन्तु वर्तमान समय मे ये दोनो एक दूसरी से सर्वथा भिन्न भाषाएँ हो गयी है। आज 'पर्वतीय काचारी' नाम सर्वोत्तम है किन्तु इसके बोलनेवाले इसे 'दीमा-सा' कहते हैं। चूँकि सर्वेक्षण मे इसका विवरण दिया गया था, अत. श्री डु:स महोदय ने इधर इसका व्याकरण भी लिखा है तथा इसकी शब्दावली भी तैयार की है।

होजै, चुटिया

इसकी अपनी बोली भी है जो 'होजै' कहलाती है तथा नौगाँव के दक्षिण मे बोली जाती है। असमघाटी मे और आगे बढने पर बोडो भाषाओ की सबसे पूर्वी बोली 'चुटिया' मिलती है जो बडी तेजी से समाप्त हो रही है। इसके बोलनेवाले कतिपय देवरी लोग है जो चुटिया जाति के पुरोहितवर्ग के है। कई विदेशी जातियो के बीच मे रहते हुए भी इन्होने अपनी भाषा, अपने धर्म तथा उन रीति-रिवाजो को सुरक्षित रखा है जिन्हे वे सदिया के पूर्व प्रदेश से, आज से सौ वर्ष पहले अपने साथ लाये थे तथा जिसे वे अपेक्षाकृत अपरिर्वातत रूप मे, असम मे अहोम आक्रमण से पूर्व ही ग्रहण कर चुके थे। आजकल ये शिवसागर जिले के मजुलि द्वीप मे तथा उत्तरी लखीमपुर मे डिकरंग नदी के आसपास निवास करते हैं। चूँकि बोडो समूह की सभी भाषाओ मे इसका धर्म से अधिक सम्पर्क रहा है अत इसमे प्राचीनतम विशेषताएँ सुरक्षित हैं और यह लगभग उस मूल भाषा के समान ही है जिससे इस समूह की सभी भाषाएँ उद्भूत हुई है। यह तथा काचारी भाषा वस्तुत दो छोरो का प्रतिनिधित्व करती है। इनमे से प्रथम तो अति अविकसित तथा द्वितीय अत्यधिक विकसित भाषा है। काचारी की भाँति ही इसमे भी क्रियापदो के सामासिक रूप, जिनके सम्बन्ध मे पहले

देश को अधिकृत कर लिया, जिनकी राजधानी दीमापुर थी, तथा जो ब्रह्मपुत्र तक धनसिरी घाटी को अधिकृत किये हुए थे; तबतक उत्तरी कछार के दिमासा तथा कामरूप के बोडो लोग एक ही जाति के थे। इसके बाद उन लोगो ने उत्तरी कछार के पर्वतो मे शरण ली। इस प्रकार परिनिष्ठित भाषा बोडो तथा दिमासा का भेद यही से आरम्भ होता है। उस समय तक इन दोनो शाखाओ मे पारस्परिक सम्बन्ध था।

कहा जा चुका है, सरलतया सम्पन्न होते हैं। सम्भवत यह बोडो समूह की सभी भाषाओ की विशेषता है किन्तु इनमे से केवल दो भाषाओ का ही अध्ययन हुआ है, अत अन्य भाषाओ के सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

गारो

पश्चिमी असम प्रदेश की ओर लौटकर हमे गारो भाषा के सम्बन्ध मे विचार करना है। इसके बोलनेवाले इसे माण्डे कुसिक अथवा मनुष्यो की भाषा के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसका मुख्य स्थान गारो पर्वत है किन्तु इसके बोलनेवाले नीचे के मैदानो मे भी फैल गये हैं और ब्रह्मपुत्र को पार कर कूचविहार तथा जलपाइगुडी तक पहुँच गये हैं। परिनिष्ठित गारो मे स्थानीय मिशनरियो द्वारा साहित्य-रचना भी हुई है। बाइबिल के अनुवाद के अतिरिक्त इसमे कोश, स्कूली पुस्तकें तथा धार्मिक एव अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। इसकी कई बोलियाँ हैं और एक बोली दूसरी से अत्यधिक मिलती-जुलती है किन्तु जब कोई विदेशी इनके बोलनेवालो से बातचीत करने का अभ्यास करता है तो स्पष्ट रूप से अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसकी आतोग या कुचु बोली अन्य बोलियो की अपेक्षा बहुत पृथक् है। यही कारण है कि गारो पर्वत के विभिन्न भागो के लोग, आतोग प्रदेश को छोडकर चाहे जहाँ जाँय, एक दूसरे की बोली समझ लेते हैं। आतोग या कुचु बोली सोमेश्वरी घाटी के निचले भागो मे, जो गारो पर्वतमाला के दक्षिण-पूर्व तथा मैमनसिह जिले के उत्तर-पूर्व मे स्थित हैं, बोली जाती है। यह लगभग उस मूल भाषा के निकट की प्रतीत होती है जिससे इस परिवार की अन्य बोलियाँ प्रसूत हुई हैं। दूर के विच्छिन्न प्रदेशो मे बोली जानेवाली यत्किंचित् भ्रष्ट गारो बोलियो तक मे आतोग की मुख्य विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

राभा

गारो से अत्यधिक सम्बन्धित राभा भाषा है। इसके अधिकाश बोलनेवाले ग्वालपाडा जिले मे रहते हैं, किन्तु यह भाषा अब समाप्तप्राय हो रही है। जाति के लिए राभा हिन्दू नाम प्रतीत होता है और इसके अधिकाश लोग विशुद्ध काचारी हैं। किसी समय ये लोग बोडो वश की युद्धप्रिय जातियो मे से थे तथा गोरखो के पूर्व तीन असमियाँ रेजिमेण्टो मे भर्ती थे।

टिपुरा

वोडो समूह की अवशिष्ट महत्वपूर्ण भाषा टिपुरा है। इसके वोलनेवाले टिप्परा के पर्वतीय राज्य तथा उससे सलग्न चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र मे बसे हुए है, किन्तु इसके वोलनेवाले ढाका, सिलहट तथा कचार मे भी मिलते हैं। चटगाँव के पर्वतीय प्रदेश के लोग इसे म्रुग' कहते है। यह दीमा-सा तथा गारो भाषाओ से कई वातो मे सम्वन्वित है और साधारण रूप से जिस समूह की यह भाषा है उसकी समस्त विशेषताएँ इसमे मिलती हैं। एक दिलचस्प वात यह है कि इसमे 'मनुष्य' के लिए 'बरक' शब्द का प्रयोग होता है जो वस्तुत 'वड' शब्द का ही प्रतिरूप है। कामरूप तथा उसके पडोस के काचारी लोग भी अपने को 'वड' ही कहते हैं।

मोरान्

इस समूह की भाषाओ के सर्वेक्षण को पूरा करने के लिए मोरान् भाषा का उल्लेख किया जा सकता है। अव यह भाषा समाप्त हो चुकी है। अहोम लोगो ने पटकोई की ओर से जव असम प्रदेश पर आक्रमण किया था तो उन्होने सर्वप्रथम मोरान् लोगो को ही विजित किया था। ये लोग अपने विजेताओ के लिए जलाने की लकडी ढोने का काम करते थे और ये आज भी शिवसागर तथा लखीमपुर मे पाये जाते हैं। इनकी भाषा भी वोडो परिवार की ही है किन्तु ये लोग अव प्राय अपनी भाषा को छोडकर असमियाँ को अपना चुके हैं।

नागा समूह

जहाँ नाना समूह की भाषाओ के वोलनेवाले लोगो की सख्या वोडो भाषा-भाषियो की संख्या की आधी से कम है वहाँ नागाभाषाओ की संख्या वोडो से चौगुनी है। केवल वोलियो की ही नही, अपितु भाजाओ की भी अत्यधिक विभिन्नता, जो पूर्व मे पटकोई पर्वत-श्रेणियो, पश्चिम मे जैन्तिया पर्वतमाला, उत्तर मे ब्रह्मपुत्र के काँठे तथा दक्षिण मे मनीपुर मे मिलती है, भाषा-शास्त्रियो के खोजो के लिए दिलचस्प क्षेत्र है। मुख्य अनमघाटी की दक्षिणी सीमा पर पर्वत है जो इसे सिलहट तथा कचार से पृथक् करते है। इसकी पश्चिमी सीमा के पर्वत अपेक्षाकृत कम ऊँचे हैं। ये गारो की पहाडियाँ हैं और यहाँ के निवासी वोडो-समूह की भाषा वोलते हैं। जव हम और पश्चिम की ओर वढने हैं तो जैन्तिया पर्वतमाला मिलती है जिसकी श्रेणियाँ समुद्र के धरातल से छै हजार फुट ऊँची हैं। इसके वाद कपिली तथा धनसिरी की घाटियो मे ऊँचाई

कम हो जाती है। यहाँ की निम्न पर्वतमाला मे ही उत्तरी कचार का सब-डिवीजन है। पूर्व की ओर और आगे के प्रदेश का धरातल एकाएक ऊँचा होता जाता है। इस क्षेत्र मे ही पटकोई, नौगाँव, शिवसागर तथा लखीमपुर के जिले, समस्त नागा पर्वत एव मनीपुर राज्य के उत्तरी भाग हैं। यहाँ पर कई पर्वत है जिनमे से कुछ तो नौ-दस हजार फुट ऊँचे है। जब हम पूर्व की ओर बढते हैं तो इन पर्वतो की श्रेणियाँ, उत्तर तथा दक्षिण की ओर बढती जाती हैं और पटकोई तथा उसके आगे

नागा समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
नागा-बोडो	३६,३५३	२७,१०९
पश्चिमी	६८,९३०	८८,२६४
मध्य	३८,०००	४८,५५४
पूर्वी	१०,०००	
नागा-कुकि	१,३९,५१६	१,५२,२६६
अवर्गीकृत	.	२२,४४१
योग	२,९२,७९९	३,३८,६३४

की पर्वतमाला के द्वारा हिमालय से जा मिलती है। दक्षिण की ओर ये पर्वत मनीपुर तथा लुशाई की पहाडियो से होकर आगे बढते है और अन्त मे ये नेग्रेस अतरीप के निकट समुद्र मे समाप्त हो जाते है। इसी प्रदेश मे उत्तरी कचार तथा पटकोई के बीच मे मुख्य रूप से नागा भाषाएँ बोली जाती है। प्रदेश की दुर्गमता तथा लोगो की भयकरता के कारण यहाँ की भाषा मे विषमता आ गयी है। यातायात की कठिनाई के कारण यहाँ के पडोस तक की जातियो मे पारस्परिक सम्पर्क बहुत कम होता है। प्राचीन काल मे यहाँ के लोग नरमुडो का उसी प्रकार सग्रह करते थे जिस प्रकार लोग डाक के निकटो का सग्रह करते हैं और यहाँ तब तक कोई लडकी किसी युवक से विवाह नही करती थी जब तक उसके पास ऐसे नरमुड पर्याप्त सख्या मे न हो। यदि कोई अजनबी व्यक्ति इस प्रदेश मे पहुँच भी गया तो वह यहाँ के लोगो से बातचीत नही कर पाता था। ऐसी परिस्थिति मे नागापरिवार

की साहित्यविहीन एव परिवर्तनशील उच्चारणवाली भाषाएँ, जिनमे शब्दो के प्रयोग पर भी नियत्रण था तथा जिनमे साधारण व्याकरणसम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उपसर्गो एव प्रत्ययो का ढीले ढग से प्रयोग होता था, एक दूसरी से स्वतत्र होकर शीघ्रता के साथ परिवर्तित होने के लिए बाध्य थी। यहाँ ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जहाँ एक जाति के लोग अपना मूल स्थान छोड़कर थोडी दूर पर जा बसे हैं और दो-तीन पीढ़ियो मे ही उन्होंने ऐसी भाषा विकसित कर ली जो मूल भाषा के बोलनेवालो के लिए अबोधगम्य बन गयी।[१]

नागा-बोडो उपसमूह

एम्पेओ

बोडो तथा नागा भाषाओ के बीच एक और मध्यस्थ उपसमूह है जिसका सम्बन्ध मुख्य रूप से नागा भाषाओ से है, किन्तु जो कई बातो मे बोडो भाषाओ के समान है।[२] इसमे एम्पेओ भाषा सबसे प्रसिद्ध है। श्री सोप्पिट महोदय ने इसका

नागा-बोडो-उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
एम्पेओ या कच्चा नागा	१०,२८०	९,९५९
कवुइ या कप्वी	११,०७३	१५,६४७
खोइराओ	१५,०००	१,५०३
योग	३६,३५३	२७,१०९

१. देखो—मेक कंवे कृत 'अंगामी ग्रामर' पृ० ४।

२. सर्वेक्षण के खण्ड ३ मे भाग २, पृ० ३७९ तथा उसके आगे मैंने मिकिर को इसी समूह मे सम्मिलित कर लिया है। परन्तु सभी बातो पर पुनः विचार करने के पश्चात् अब मैंने इसे 'नागा-कुकि' उपसमूह के अन्तर्गत रखा है और इसी रूप मे नीचे इसका विवरण भी दिया गया है।

व्याकरण लिखा है तथा इसके शब्दो का भी सग्रह किया है। यह उत्तरी कचार तथा पश्चिमी नागा पर्वतो मे बोली जाती है। इसका सम्बन्ध केवल बोडो से ही नही है अपितु कुकि भाषा से भी इसका सम्पर्क है, यद्यपि मुख्य रूप से यह नागा भाषा ही है।

कबुइ, खोइराओ

कबुइ तथा खोइराओ उत्तरी मनीपुर की बोलियाँ है। जहाँ तक कबुइ का सम्बन्ध है, इस सर्वेक्षण के पूर्व इसके विषय मे इतना ही ज्ञात था कि गत शताब्दी के मध्य मे, मेजर मेककल्लॉच ने इसके शब्दो की एक सक्षिप्त सूची तैयार की थी। खोइराओ के सम्बन्ध मे सर्वेक्षण के पूर्व कुछ भी ज्ञात न था। सर्वेक्षण मे इन दोनो भाषाओ के बोलनेवालो की जो सख्या दी गयी है, उसका आधार अनुमान ही है, जनगणना नही। इस जनगणना के बाद दो और जनगणनाएँ हुईं और सन् १९२१ की जनगणनानुसार जो सख्या दी गयी है, वह सर्वेक्षण मे अकित जनसख्या की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है।

जहाँ तक मुख्य नागा भाषाओ का सम्बन्ध है, हम उन्हे स्वाभाविक रूप से तीन उपसमूहो—पश्चिमी, मध्य तथा पूर्वी—मे विभक्त पाते हैं। पश्चिमी भाषाओ मे सबसे महत्वपूर्ण अन्गामी है।

पश्चिमी नागा-उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
अन्गामी	३५,४१०	४३,०५०
सेमा	२६,४००	३४,८८३
रेंग्मा या उन्झा	५,५००	५,१०३
केझामा	१,६२०	५,२२८
योग	६८,९३०	८८,२६४

अन्गामी

इनकी दो बोलियाँ—तेन्गिमा तथा चक्रोमा—हैं। इनके अतिरिक्त इसकी अनेक उपबोलियाँ हैं जिनमे ड्जुना, केहेना तथा नलि उल्लेखनीय हैं। तेन्गिमा के

विषय मे तो पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। सन् १८५० से इसके अध्ययन का आरम्भ हुआ। तब से अब तक हागसन, ब्राउन, स्टुअर्ट तथा बटलर ने इसके शब्दो की सूचियाँ दी हैं। इनमे से अन्तिम दो विद्वानो का कार्य तो अत्यन्त उच्च स्तर का है। सन् १८८७ मे मेकावे ने इसका व्याकरण लिखा था तथा सन् १९०५ मे श्री रिवेनबुर्ग ने इसके वाक्याशो की पुस्तक तैयार की। बाद मे यह सामग्री सर्वेक्षण मे भी प्रकाशित हुई। सन् १८९१ की असम प्रदेश की जनगणना की रिपोर्ट मे, श्री ए० डब्लू० डेविस ने इस जाति की भाषा, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजो का विस्तृत एव सुन्दर वर्णन किया। इसी रिपोर्ट का कुछ अश सर्वेक्षण के खण्ड ३ भाग २ मे पुन प्रकाशित हुआ था। अन्त मे सन् १९२१ मे श्री जे० एच० हटन कृत "अन्गामी नागा" शीर्षक विवरण प्रकाशित हुआ जो अब तक प्रकाशित सभी विवरणो मे श्रेष्ठ था। इस जाति के सम्बन्ध मे जो कुछ सामग्री उपलब्ध थी उसका साराश उक्त विवरण के पृष्ठ ३०९ तथा इसके आगे के पृष्ठो मे दिया गया है।

केझामा, सेमा, रेंग्मा

अन्गामी के पूर्व के केझामा भाषा और फिर इसके उत्तर मे बर्बर एव जगली बोली 'सेमा' का क्षेत्र है। अन्गामी के उत्तर तथा सेमा के पश्चिम 'रेंग्मा' बोली जाती है। जब तक इस सर्वेक्षण का विवरण प्रकाशित नही हुआ था तब तक किसी भी बाहरी व्यक्ति को केझामा भाषा के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात न था और सामग्री के रूप मे हमारे पास सेमा एव रेंग्मा की शब्दावलियो की केवल अपूर्ण सूचियाँ उपलब्ध थी। किन्तु इसके बाद श्री हटन ने सेमा का व्याकरण लिखा तथा इसके शब्दसमूह का भी सग्रह किया। रेंग्मा लोग अपने को 'उन्ज' नाम से सम्बोधित करते है। वास्तव मे 'उन्ज' इस भाषा की दो बोलियो मे से एक है। इस सम्बन्ध मे यह भी जान लेना आवश्यक है कि लगभग आधी शताब्दी पूर्व, अपनी पडोसी जातियो के निरन्तर आक्रमण के कारण रेंग्मा लोगो को अपने मूल स्थान को छोडने के लिए बाध्य होना पड़ा। ये लोग नौगाँव जिले की मिकिर पर्वतमाला तथा धनसिरि के जगल के बीच की पर्वतमाला मे बस गये। यहाँ बसे हुए लोग अपने पुराने बर्बर रीति-रिवाज भूल गये तथा कुछ अशो मे इन्होने मैदान मे रहनेवाले लोगो के रीति-रिवाजो को ग्रहण कर लिया, किन्तु इनके अन्य भाइयो ने अपनी पुरानी सरल सभ्यता को ही कायम रखा। मध्य नागा-उपसमूह की भाषाओ तथा पश्चिमी

नागाभाषाओ मे मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ पश्चिमी नागाभाषाओ मे नकारात्मक निपात, नकारात्मक बननेवाले शब्द के बाद आता है, वहाँ मध्य उपसमूह मे यह शब्द के पूर्व आता है।

नागाभाषाओ के मध्य-उपसमूह की मुख्य भाषाएँ आओ तथा ल्होता हैं। इस समूह की गौण भाषाओ मे तेन्गस, थुकुमि तथा यचुमि है। स्थानीय मिशनरियो ने आओ एव ल्होता भाषाओ का सुन्दर व्याकरण लिखा है। इसके अतिरिक्त उन्होने इनके शब्दसमूहो का भी सग्रह किया है। आओ भाषा बहुत प्रसिद्ध है और इसके सम्बन्ध मे लिखा भी गया है। किन्तु इसके साहित्य की खोज करना आसान नही है क्योकि कम से कम विभिन्न नौ नामो से इसका उल्लेख हुआ है। उनमे से कुछ

मध्य नागा उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
आओ	१५,५००	३०,१४२
ल्होता	२२,०००	१८,४१२
तेन्गस-नागा	१	.
थुकुमि	१	
यचुमि	१	
योग	लगभग ३८०००	४८,५५४

नाम तो उपयुक्त हैं किन्तु अन्य भ्रमवश ही रखे गये हैं, उदाहरण के लिए अस्सिरिंगिया नाम को लिया जा सकता है। यह नग्न नागा जाति के एक गाँव का नाम है और इस जाति के लोग पूर्वी नागा-भाषा बोलते है। किन्तु आओ लोग अपने मूल स्थान से मैदान की ओर इस गाँव से होकर ही आते है, इसलिए असमियाँ लोगो ने इसका यह नामकरण किया है।

इसी प्रकार आओ लोगो के अन्य नाम इन दर्रों के नाम पर आधारित हैं जिनसे होकर ये लोग मैदान में आते हैं। इस प्रकार जो लोग 'दोप् दुआर्' दर्रे से आते है वे दुप् दोरिअ तथा जो लोग 'हतिगोर दुआर्' से आते हैं वे हतिगोरिय

कहलाते हैं किन्तु इनका नाम के अतिरिक्त कोई अर्थ नही है और इनसे जाति तथा भाषा की कोई विशेषता नही प्रकट होती। आओ की दो विशिष्ट बोलियाँ चुन्लि तथा मान्गसेन् हैं और ये नागा पर्वतीय जिले के उत्तर-पूर्व मे बोली जाती हैं।

ल्होता

आओ के दक्षिण मे इस जिले के लगभग मध्य मे ल्होता बोली बोली जाती है। यहाँ से यह शिवसागर की ओर बोली जाती है। इसके बोलनेवाले साधारण रूप से ल्होता अथवा त्-सोन्त्सु के नाम से विख्यात है किन्तु ये अपने को 'क्यो' कहते हैं और असमियाँ लोग इन्हे 'मिक्लाइ' कहते हैं। इन सभी नामो का उपयोग इस भाषा के लिए भी किया जाता है।

तेन्गस, थुकुमि, यचुमि

तेन्गस, थुकुमि और यचुमि भाषाएँ 'दिखु' के आगे तथा ब्रिटिश राज्य के बाहर बसनेवाली जातियो मे बोली जाती है। इनके सम्बन्ध मे बहुत कम ज्ञात है, किन्तु इनकी शब्दावलियो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आओ' तथा ल्होता से इनका सम्बन्ध है।

पूर्वी नागा उपसमूह के अन्तर्गत आओ प्रदेश के पूर्व के क्षेत्र की अन्य सभी नागा जातियो की भाषाएँ आ जाती हैं। इस क्षेत्र की सीमा पूर्व मे कचिन प्रदेश तथा दक्षिण मे पटकोई पर्वत-श्रेणी है। इस सीमा के अन्तर्गत अनेक जातियाँ हैं। इनमे से कतिपय तो कुछ गाँवो मे ही रहती हैं, किन्तु इन सभी जातियो की भाषाएँ परस्पर अबोधगम्य हैं। बीस मील के भीतर ही कभी-कभी ऐसी पाँच या छ बोलियो बोली जाती हैं। इस क्षेत्र की भाषाओ के विषय मे बहुत कम सामग्री उपलब्ध है, किन्तु जहाँ तक इनका ज्ञान है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमे एक दूसरे से बहुत निकट का सम्बन्ध है। इस क्षेत्र के नागा लोगो के रीति-रिवाजो मे भी बहुत साम्य है। ये सभी लोग अपने मुर्दो को बाँस की मचानो पर सडने के लिए रख देते हैं। इनमे से ये खोपडी को अस्थिगृह मे सुरक्षित रखते हैं। ऐसा प्राय सभी गाँवो मे होता है। इनकी कई जातियो की स्त्रियाँ पूर्ण रूप से नगी रहती हैं, किन्तु अन्य जातियो मे पुरुषो के नगे रहने की प्रथा है। सन् १९२१ की जनगणना के समय इनकी गणना नही हो सकी है।

पूर्वी नागा भाषाओ की विशेषताएँ

पूर्वी नागा भाषाओ की सबसे महत्वपूर्ण एव मुख्य विशेषता यह है कि ये, प्रसिद्ध कचिन् भाषा, जो नागा भाषाओ के पूर्व तथा दक्षिण मे स्थित है तथा नागा भाषाओ के वीच की कडी हैं, और इन दोनो के बीच मे जो अन्तर है उसे पाटने के लिए पुल के समान है। इनकी दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस समूह

पूर्वी नागा उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
अन्ग्वान्कु } चिन्ग्मेग्नु }	५०००	.
वन्परा } मुतोनिया } मोहोन्गिया }	१६००	.
नम्सन्गिया	१८७०	
चान्ग	?	
अस्सिरिन्गिया	?	
मोशान्ग		
शान्गो	?	
	योग	लगभग १००००

की कम से कम चार भाषाओ—अन्ग्वान्कु, चिन्ग्मेग्नु, चान्ग तथा नम्सन्गिआ के क्रियापदो मे रूपात्मक परिवर्तन होता है। इसके प्रत्येक काल मे कर्ता के पुरुष के अनुसार परिवर्तन होता है। इस प्रक्रिया का नागा-समूह की अन्य बोलियो मे सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार कचिन् तथा वोडो समूह की भाषाओ मे भी यह प्रक्रिया अज्ञात है। नम्सन्गिआ भाषा के क्रियापद वचन के अनुसार परिवर्तित नही होते किन्तु असमियाँ एव बँगला की भाँति ही इसके प्रत्येक काल मे तीन पुरुष (उत्तम मध्यम तथा अन्य) होते है।

अनुग्वांकु, चिग्मेग्नु

इन पूर्वी नागाभाषाओ को पश्चिम से पूर्व की ओर लेने पर सर्वप्रथम हमे अनुग्वान्कु या तव्लेन्ना तथा चिग्मेग्नु या तम्लु भाषाएँ मिलती हैं। मोटे तौर पर प्रत्येक वोली के वोलनेवाले नग्न जगली नागा लोगो की सख्या २५०० है। इन दोनो जातियो के लोग कभी-कभी एक ही गाँव मे रहते हैं। दिखु नदी के, ब्रह्मपुत्र के काँठे मे प्रविष्ट होने के पहलेवाले प्रदेश मे, ये लोग दिखु नदी के दोनो किनारो के पर्वतो मे निवास करते हैं। अनेक तिब्बती-वर्मी जातियो की भाँति ही ये लोग भी अपने को मनुष्य के पर्यायवाची शब्द 'काता' से सम्वोधित करते हैं। अग्रेज लोग इन्हे तव्लेन्ना तथा तम्लु कहते है। वास्तव मे ये लोग इसी नाम के गाँवो मे रहते हैं। अपनी भाषाओ को ये लोग क्रमश. अनुग्वान्कु तथा चिन्मेग्नु कहते हैं। राजनीतिक दृष्टि से इनका मुख्य निवासस्थान नागा पर्वत जिले के सवसे उत्तर-पूर्वी छोर पर है।

चांग

दिखु नदी के उस पार तथा विटिश राज्य के वाहर हमें एक ऐसी भाषा मिलती है जिसे आओ लोग 'मोजुग' कहते हैं, किन्तु इसके वोलनेवाले इसे चाग नाम से पुकारते हैं। इनकी सख्या अनुमानत ६५०० है। आओ लोग दिखु नदी के उस पार के सभी नागा लोगो को "मिरि" कहते हैं। इस प्रकार चांग लोग भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं; किन्तु इससे वचना चाहिए क्योकि इसमे सुवर्णश्री नदी के ऊपरी भाग मे रहनेवाले मिरि लोग भी भ्रमवश सम्मिलित हो जाते हैं।

वनपरा तथा मुतोनिआ

चाग से ही सम्वन्वित 'वनपरा' तथा इसकी वोली 'मुतोनिआ' है। मुतोनिआ वोलनेवाली जातियाँ अनुग्वाकु के पूर्व मे, शिवसागर जिले के पश्चिमी तथा मध्य भागो मे वसी हैं। इस भाषा तथा इसकी वोली के शब्दो की एक संक्षिप्त सूची हम लोगो के पास है। इसी (शिवसागर) जिले के पूर्वी छोर पर 'मोहोगिआ' लोग रहते हैं। ये "वोर्दुअरिआ' तथा 'पानिदुअरिआ' भी कहलाते हैं। सन् १८५१ मे इनकी भाषा के सम्वन्ध मे श्री व्राउन लिखते है कि इनकी तथा 'नम्-सगिआ' लोगो की भाषा एक है किन्तु सन् १८७२ मे श्री पील द्वारा प्रकाशित

प्रथम दस अको के रूप मे इस बोली का जो एकमात्र नमूना प्राप्त है उसके देखने से यह बात सिद्ध नही होती।

नम्संगिआ

शिवसागर की सीमा को पार कर हम लखीमपुर के नागा लोगो के क्षेत्र मे पहुँचते है। ये लोग नम्सगिआ के नाम से विख्यात है किन्तु ये जैपुरिया नागा भी कहलाते है क्योकि इसी नाम के गाँव से होकर ये लोग प्राय मैदान मे आते हैं। पूर्वी उपसमह की अन्य भाषाओ की अपेक्षा हमे इन लोगो की भाषा का अधिक ज्ञान है क्योकि सन् १८४९ मे श्री राविन्सन ने इसके व्याकरण तथा इसकी शब्दावली को प्रकाशित किया था। ओवेन, हागसन, पील, सर जार्ज कैम्पवेल तथा वटलर ने भी इस भाषा के शब्दो की छोटी-वडी सूचियाँ हमे दी हैं। इसके बाद इन भाषाओ के सम्वन्ध मे कुछ भी कार्य नही हुआ है। वास्तव मे आज के स्थानीय यूरोपियन लोग अपनी दो पीढी पूर्व के यूरोपियन लोगो की अपेक्षा शिवसागर तथा लखीमपुर की भाषाओ के विषय मे वहुत कम जानते हैं। सर्वेक्षण तक को इनके सम्वन्ध मे अतिरिक्त विवरण प्राप्त करने मे सफलता नही मिली है।

मोशांग, शांग्गे

पूर्वी नागा भाषाओ की यह सूची 'मोशाग' एव 'शाग्गे' भाषाओ के उल्लेख से पूर्ण हो जायगी। ये दोनो पटकोई के दक्षिण जगली प्रदेश की दो जातियो की भाषाएँ हैं। इसके और आगे पूर्व तथा दक्षिण मे कचिन प्रदेश है जहाँ 'कचिन' अथवा सिगफो भाषा बोली जाती है। एक ओर यह नागा एव तिव्वती भाषाओ के बीच की कडी है तो दूसरी ओर वर्मी के बीच की। यही भाषा हमे मनीपुर की मेईथेई, नागा एव तिव्वती भाषाओ से होते हुए कुकिचिन भाषासमूह की ओर ले जाती है।

नागा-कुकि उपसमूह

इसके अतिरिक्त, नागा एव कुकि मे सम्बन्ध की एक अन्य कडी नागा-कुकि उपसमूह की भाषाएँ हैं। इनका दूसरी ओर नागा-बोडो उपसमूह से भी सम्वन्ध है। नागा-वोडो उपसमूह का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनमे सबसे महत्वपूर्ण भाषा सिकिर है।

नागा-कुकि उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ को जनगणनानुसार
मिकिर	८९,५१६	१,०९,१२३
सोप्वोमा	१०,०००	१३,०९६
मराम्	२,५००	३,५२२
मियाग्खाग्	५,०००	..
क्वोइरेंग्	५,०००	.
ताग्खुल	२६,०००	२४,१७०
मरिंग	१५००	२,३५५
योग	१,३९,५१६	१,५२,२६६

मिकिर

इसका मुख्य स्थान, असम प्रदेश के नौगाँव जिले मे इसी नाम का पहाड़ है। यह यत्किंचित् भिन्नता के साथ कामरूप के दक्षिण, खासी तथा जैन्तिया पर्वतो, उत्तरी कचार तथा नागा पर्वत मे बोली जाती है। इस जाति की छोटी टुकड़ियाँ अन्य स्थानो मे भी मिलती हैं। इसमे सन्देह नही कि प्राचीन काल मे मिकिर लोगो का आज की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार था। यह क्षेत्र निचले पहाडो तथा उससे सटे हुए उस निचले मध्य भाग की श्रेणियो तक था जो गारो पर्वत से पटकोई तक फैली हुई हैं। अन्य स्थानो की भाँति ही मिकिर लोग अपने को मनुष्यवाची शब्द "आरलेंग" से सम्बोधित करते है। जो मिशनरी लोग इनके बीच मे काम करते हैं उन्होने इनकी भाषा का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। इसकी एक शब्दसूची तथा इसमे लिखित कतिपय छोटी पुस्तिकाएँ उपलब्ध है। सर चार्ल्स लायल ने इसका एक सुन्दर व्याकरण भी लिखा है। इसमे इस भाषा के चुने हुए पाठ भी मिलते हैं। सर्वेक्षण के खड ३ भाग २ मे, मैंने मिकिर का नागा-बोडो उपसमूह के अन्तर्गत वर्गीकरण किया है। इसका बोडो से सम्बन्ध हैं किन्तु बाद की खोजो मे यह प्रमाणित होता है कि इसका कुकि से और घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत नागा-कुकि उपसमूह के अन्तर्गत ही इसका वर्गीकरण होना चाहिए जहाँ इसका यत्किंचित् स्वतत्र स्थान है।

अवशिष्ट नागा-कुकि भाषाओ का मुख्य क्षेत्र मनीपुर राज्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस राज्य मे कुकि-चिन जाति के लोग, दक्षिण की ओर से, पीछे मुडनेवाली धारा के रूप मे आये। यहाँ उन्हे पहले से बसे हुए नागा लोग मिले। इस प्रकार इस प्रदेश मे, एक ओर हम कुकि जाति के लोगो को विभिन्न भाषाएँ बोलते, इधर-उधर बसे हुए पाते है तो दूसरी ओर उसी रूप मे नागा जाति के लोगो को भी यत्किंचित् अपभ्रष्ट नागा भाषा बोलते हुए यत्र-तत्र बसे हुए पाते है। उत्तरी मनीपुर के पर्वत, अगामी नागा प्रदेश से सटे हुए दक्षिण की ओर स्थित है और स्वाभाविक रूप मे यहाँ नागा की विशेषताएँ अत्यधिक मात्रा मे मिलती है।

सोप्‌वोमा

इस प्रदेश मे, कोहिमा से बीस मील दक्षिण ओर, मनीपुर-नागा पर्वत की सीमा पर, आओ प्रदेश के चारो ओर (जहाँ नागा लोग आओ नागा कहलाते हैं) 'सोप्-वोमा' भाषा प्रचलित है। इसी उपसमूह की भाषा वास्तविक पश्चिमी नागा भाषा के बहुत निकट पहुँच जाती है। इसके अत्यधिक निकट की भाषा 'केझामा' है।

मराम

आओ के दक्षिण 'मराम' लोग रहते हैं। ये लोग एक बडे गाँव मे निवास करते हैं। इन दोनो जातियो का मूल एक ही है किन्तु इनमे सदैव पारस्परिक शत्रुता रहती है। ब्राउन तथा मेकलॉच, दोनो ने इनकी भाषाओ की शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं।

मियांग् खाग्, क्वोइरेंग्

मराम के सम्बन्ध मे ही 'मियाग् खाग्' या 'मयग् खाग्' का उल्लेख किया जा सकता है। श्री डैमण्ड ने मराम् तथा सोप्‌वोमा के साथ इसका वर्गीकरण किया है। यही पर हम क्वोइरेंग् या लियाग् भी जोड़ सकते है। ब्राउन तथा मेकलॉच ने इसकी भी शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं। इस भाषा को बोलनेवाली जाति के लोग मनीपुर शहर के उत्तर तथा मनीपुर राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा बनानेवाली बरेल पर्वत-श्रेणी के दक्षिण बसे है। ठीक इनके उत्तर 'कबुइ नागा' लोगो का निवासस्थान है। इनकी भाषा नागा-बोडो उपसमूह के अन्तर्गत आती है। यह नागा-बोडो तथा नागा-कुकि के बीच की कडी है। 'क्वोइरेंग्' के सर्वनाम नागा-कुकि

से अत्यधिक साम्य रखते हैं। यही कारण है कि इसका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, अन्यथा भौगोलिक दृष्टि से इसका स्थान नागा-बोडो भाषाओ के अन्तर्गत होना चाहिए था। इस जाति के लोग अध्यवसायी हैं और ये अगामी तथा ब्रिटिश राज्य के सीमान्त जिलो से व्यापार करते हैं।

तांग्खुल

बहुसख्यक एव महत्वपूर्ण ताग्खुल जाति का निवासस्थान मनीपुर राज्य के उत्तर-पूर्व मे है। इन्हे कभी कभी लुहुपा या लुप्पा नाम से भी पुकारते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति लुहुप् से हुई है। यह एक विचित्र प्रकार की बेंत की टोपी है जिसे इस जाति की उत्तरी शाखा के लोग युद्ध मे जाते समय पहनते हैं। किन्तु यह नाम भ्रामक है क्योकि इसी प्रकार की टोपी 'माओ' नागा लोग भी पहनते हैं। ताग्खुल बोलियों की सख्या बहुत है। इसके भीतरी भाग के प्रत्येक गाँव की बोली पृथक् है, इनमे से प्रतिनिधिस्वरूप तीन बोलियो को ले सकते हैं। ये हैं—मुख्य ताग्-खुल (जो उक्रुल् गाँव मे तथा उसके आसपास बोली जाती है), फडांग् तथा खगोइ। श्री ब्राउन ने ताग्खुल भाषा की तीन सक्षिप्त शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं और इस सर्वेक्षण को भी इसके सक्षिप्त व्याकरण तथा शब्दावली प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त सख्या मे इसके नमूने प्राप्त करने मे सफलता हुई है। सर्वेक्षण की सामग्री के प्रकाशित हो जाने के बाद रेवरेन्ड डब्लू० पेटिग्रू ने ताग्खुल का एक विशिष्ट व्याकरण लिखा और उसके शब्दो का भी सग्रह किया। इस जाति का मुख्य स्थान 'उक्रुल' मे है। यह मनीपुर शहर के उत्तर-पूर्व मे ४० मील तथा माओ-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व उतनी ही दूरी पर स्थित है।

फडांग्, खन्गोइ

श्री मेककलाक् ने फडाग् तथा खन्गोइ बोलियो के शब्दो की सूचियाँ प्रस्तुत की है। इनमे से फडाग् बोली की ताग्खुल से समानता है। किन्तु खन्गोई का बहुत कुछ स्वरूप 'कुकि' जैसा है।

[illegible]

खन्गोइ से हम [illegible] भाषा की ओर बढ़ते हैं। यह [illegible] पर्वतश्रेणी के कतिपय छोटे गाँवों की जनता की भाषा है। [illegible]

जो मनीपुर को अपर-बर्मा से पृथक् करती है। इसका एक छोटा उपनिवेश मनीपुर की घाटी मे भी है। यह उपनिवेश राजधानी से २५ मील दक्षिण की ओर स्थित है। यह नागा-कुकि भाषाओ मे से एक है जो कुकि-चिन् समूह के अति निकट तक पहुँच जाती है।[1] इसके उत्तम-पुरुष के सर्वनाम 'कुकि' के समान हैं। ब्राउन तथा मेक-कलाच् ने मरिंग भाषा की शब्द-सूचियाँ प्रस्तुत की हैं और सक्षिप्त व्याकरण लिखने के लिए इस सर्वेक्षण को भी इसकी पर्याप्त सामग्री सग्रह करने मे सफलता मिली है।

कचिन् समूह

कचिन् समूह की भाषाओ से हमारा कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि इसके बोलनेवाले लोग बर्मा मे रहते है। यही कारण है कि कचिन् भाषा के विविध रूपो का वर्णन बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण मे किया जायगा।

कचिन् समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
कचिन्	१९२०	१,५१,१९६

फिर भी कतिपय कचिन् भाषा-भाषी असम मे मिलते हैं। इसी नाते मैं नीचे इस समूह के सम्बन्ध मे कुछ विवरण दे रहा हूँ। जब तक बर्मा का भाषासर्वेक्षण प्रकाश मे नही आता तभी तक के लिए मेरे ये विचार मान्य समझे जायँ। कचिन् लोगो को बर्मा मे चिंग्-पा तथा असम मे सिंग-फो कहते है। इन दो शब्द-रूपो मे इस शब्द का अर्थ है 'कचिन् जाति का मनुष्य'। किन्तु केवल मनुष्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। कचिन् लोग चिन्दविन् तथा इरावदी नदियो के विस्तृत ऊपरी भाग मे, जो असम-प्रदेश के पूर्व तथा अपर-बर्मा के उत्तर-पूर्व तथा

१. कतिपय लेखको ने सँबु लिखा है, जो सम्भवतः छापे की अशुद्धि है।

उत्तर-पश्चिम मे स्थित है, निवास करते हैं। गत शताब्दी के तीन चौथाई वर्षों मे, ये लोग दक्षिण की ओर, उत्तरी शान् राज्य तथा 'भामो' और 'कथ' जिलो मे फैल गये।

यदि अपर वर्मा ब्रिटिश राज्य मे न मिला लिया गया होता तो ये लोग और भी आगे वढ गये होते। वास्तव में आज भी कचिन् लोगो के कई छिट-पुट गाँव दक्षिणी शान्-राज्य मे, सालवीन नदी के आगे तक भी मिलते हैं। इनके उपनिवेशो के वहुत लोग असम-प्रदेश मे भी जा घुसे और एक शताब्दी पूर्व यहाँ ये 'सिग्-फो' नाम से विख्यात थे। जो भी हो, इनकी भाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहुत दिनो तक वर्मा के लोगो के सम्पर्क मे रहने के पश्चात् ही ये लोग इवर आये होंगे। भाषाशास्त्र तथा उनकी जातीय परम्परा, दोनो से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका मूल-स्थान कही इरावदी नदी के उद्गम की ओर था। यहाँ से ये लोग नदी के वहाव के साथ साथ क्रमश आगे वढे और मार्ग मे ये अपने से पहले वसे हुए वर्मी तथा शान् लोगो का उच्छेद करते गये। चूकि कचिन् लोग वहुत विस्तृत प्रदेश मे फैले हुए है अतएव इनकी भाषा मे भी अत्यधिक भिन्नता है। ये लोग मुख्य रूप से पर्वत-निवासी हैं और प्रत्येक पर्वत की अपनी विशिष्ट भाषा है, फिर भी हम लोग इनकी वोलियो को तीन वर्गो मे विभाजित कर सकते है। ये हैं उत्तरी, क्ओरी तथा दक्षिणी कचिन् बोली। उत्तरी वोली के सम्बन्ध मे हमारा सवसे अच्छा ज्ञान है, इसे असम प्रदेश के सिग्-फो लोग वोलते हैं। इसके व्याकरण का ढाँचा श्री लोगन्, मेजर (जो बाद मे व्रिगेडियर जनरल हो गये थे) मैक्-ग्रेगोर तथा श्री नीडहम् ने प्रस्तुत किया है। दक्षिणी कचिन् वोली भामो जिले मे वोली जाती है। इसके सम्वन्ध मे श्री हर्टज तथा हैन्सन् ने सामग्री उपलव्ध की है। क्ओरी भाषा वस्तुत 'क्ओरी लेपै' लोग वोलते हैं। ये लोग भामो के पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व मे वसे हुए हैं। इस वोली की आधारभूत सामग्री डॉ० कुशिग ने उपलव्ध की है। जहाँ तक कचिन् एव अन्य तिव्वती-वर्मी भाषाओ के पारस्परिक सम्वन्ध का विषय है यह कहा जा सकता है कि इन भाषाओ का यत्किंचित् स्वतत्र स्थान है। भाषासम्वन्धी विशेषताओ के कारण यह एक ओर तो तिव्वती से सम्बन्धित है, दूसरी ओर इसका नागा तथा कुकि-चिन् भाषाओ एव वर्मी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नागा भाषाओं मे भी इसका पूर्वी उपसमूह से अति निकट का सम्बन्ध है। 'कुकि-चिन्' समूह की भाषाओ मे इसका मेइथेइ से विचित्र साम्य प्रतीत होता है। वर्मी भाषाओ मे इनका असदिग्ध रूप से सम्बन्ध है। इस सर्वेक्षण की प्रगति के दौरान मे इसके

सम्बन्ध मे जो खोजें हुई हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि कचिन् भाषा का एक ओर तिब्बती भाषा से सम्बन्ध है तो दूसरी ओर यह नागा मेइथेइ तथा बर्मी भाषा से भी सम्वन्धित है।

कुकि-चिन उपसमूह

जिस प्रदेश मे कुकिचिन लोग निवास करते हैं वह उत्तर मे नागा पर्वत, कचार तथा पूर्वी सिलहट से लेकर, नीचे की ओर दक्षिण मे वर्मा के सडोवे जिले तक विस्तृत है। दूसरे शब्दो मे पूर्व मे कियत्था नदी से लेकर पश्चिम मे लगभग वगाल की खाडी तक यह प्रदेश है। यह समस्त भूभाग पहाड़ियो एव पर्वत से आवृत है और कहीं-कही दो पहाडो को पृथक् करनेवाली गहरी घाटियाँ भी है। इस जाति के लोग मनीपुर की घाटी तथा कचार के मैदानो एव सिलहट के छोटे-छोटे उपनिवेशो मे मिलते है। इनके दोनो नाम, कुकि तथा चिन इनके पडोसियो द्वारा दिये गये है। कुकि वस्तुत असमियाँ या बँगला का शब्द है। इसका प्रयोग

कुकि-चिन उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
मेइथेइ	२,४०,६३७	३,४२६५४
उत्तरी चिन्	६०,३४५	८३,०३३
मध्य चिन्	१,०७,६०४	१,४१,६६८
पुरानी कुकि	४८,८१४	२६,२४५
दक्षिणी चिन्	१,१०,२२५	३५,२०६
अनिर्णीत	.	१,६७,५१७
योग	५,६७,६२५	७,९७,३१४

पडोस की सभी पहाडी जातियो के लिए होता है। चिन् या ख्यँग् वर्मी भाषा का शब्द है। इसका प्रयोग बर्मा तथा असम प्रदेश के बीच में रहनेवाले लोगो के लिए किया जाता है। अपने को सम्बोधित करने के लिए ये जातियाँ स्वय इन दोनो शब्दो मे से किसी का प्रयोग नही करती। इस समूह के लोगो तथा भाषाओ का

कुकिचिन् नाम वस्तुत व्यावहारिक है, क्योंकि समस्त रूप से इसे द्योतित करने के लिए कोई देशी नाम नहीं है। ये सभी भाषाएँ दो मुख्य उपसमूहो मे विभक्त हैं जिन्हे व्यावहारिक रूप मे हम मेइथेइ तथा चिन कह सकते है। हम लोग पहले यह देख चुके हैं कि किस प्रकार सम्भवत इस वर्ग के लोग, उत्तर अथवा उत्तर-पूर्व से, मनीपुर की घाटी की ओर चले गये और वही बस गये। इसी वंश की एक दूसरी शाखा दक्षिण की ओर और आगे बढी तथा उसने लुगाइ एव चिन पर्वतो मे अपना निवासस्थान बनाया। यदि यह बात थोडी देर के लिए मान ली जाय कि इसी जाति का स्थानान्तरण वास्तव मे इसी रूप मे हुआ तो मेइथेइ मनीपुर मे बसनेवाले आदि अथवा मूल निवासियो की भाषा होगी तथा चिन् और भी दक्षिण ओर बसनेवालो की। इन दक्षिणवालो की भाषा कुछ तो प्राकृतिक और कुछ बर्मा के लोगो के सम्पर्क के कारण बड़ी तेजी से विकसित हुई। दूसरी मनीपुर की भाषा मेइथेइ का विकास स्वतन्त्र रूप मे, मन्द गति से हुआ।

मेइथेइ

मनीपुरी लोगो का उल्लेख सन् ७७७ ईसवी के शान लोगो के इतिहास मे मिलता है। अत बाद मे मनीपुरी साहित्यिक भाषा के रूप मे विकसित हुई, अत-आधुनिक मनीपुरी मे पुरातन भाषा की झलक मिलती है। इसकी अपनी लिपि भी है जो आज से दो सौ वर्ष पूर्व बगाल से आयी थी। इसी लिपि मे इस राज्य के अनेक ऐतिहासिक ग्रथ लिखे गये हैं। इनकी सबसे पुरानी सामग्री सन् १४३२ ई० तक की है। अब पुरानी मनीपुरी लिपि समाप्त हो चुकी है और उसके स्थान पर आधुनिक बँगला-लिपि का व्यवहार होने लगा है। ऐतिहासिक ग्रथो की भाषा भी अब पुरानी पड गयी है और इसे विज्ञ लोग ही पढ पाते है। श्री हाडसन कृत 'मेइ-थेइ' पुस्तक मे, पुरानी भाषा का एक लम्बा विवरण प्राप्त है। इसके साथ ही आधुनिक मेइथेइ मे उसके प्रत्येक शब्द का प्रतिरूप भी दिया गया है। कतिपय शता-ब्दियो मे ही एक तिब्बती-बर्मी भाषा मे कितनी तेजी के साथ परिवर्तन हुआ है उसे प्रदर्शित करने के लिए इससे बढकर अन्य उदाहरण मिलना कठिन है। यहाँ हमे बिल्कुल दो विभिन्न भाषाओ के दर्शन होते हैं, जिनमें एक शब्द की भी समानता नहीं मिलती और यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि दूसरी भाषा की उत्पत्ति पहली भाषा से हुई है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी भी यूरोप-निवासी ने पुरानी मेइथेइ का अध्ययन नहीं किया है और यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से यह अनावश्यक

है तथापि वैज्ञानिक दृष्टि से इसके व्याकरण की रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। उसकी इसलिए भी आवश्यकता है कि बर्मा तथा तिब्बत के बीच में मेइथेइ ही एक ऐसी तिब्बती-बर्मी भाषा है जिसका कम से कम दो सौ वर्षों का इतिहास है। आधुनिक मेइथेइ का एक सुन्दर एवं पूर्ण व्याकरण रेवरेण्ड डब्लू० पेटिग्रू द्वारा लिखा गया है। यह मेइथेइ शाखा के सर्वेक्षण के प्रकाशन के समय ही प्रकाश मे आया है। इस दिलचस्प भाषा के विषय मे और भी अधिक जानकारी आवश्यक है। आज हमे यह ज्ञात नही है कि इसकी अन्य बोलियाँ भी हैं और यह सम्भव है कि इस सम्बन्ध मे और खोज करने से कतिपय ऐसी बोलियो का भी पता चले जो वास्तव मे मेइथेइ तथा कुकिचिन् के बीच की भाषाएँ हो। आज इतना तो निश्चित है कि आधुनिक मेइथेइ मे प्राचीन ध्वनि-सम्बन्धी जो सामग्री सुरक्षित है वह मुख्य कुकिचिन् भाषा की अपेक्षा बर्मी भाषा के अधिक और तिब्बती तक के निकट सम्पर्क की है और इसके समान है। दूसरी ओर कुछ बातो मे यह नागा भाषाओ के समान है और इस प्रकार यह इन भाषाओ तथा दक्षिण की अधिक विकसित भाषाओ को जोडनेवाली कडी है।

चिन् भाषाएँ

चिन् भाषा के अन्तर्गत लगभग चालीस विभिन्न भाषाएँ आती है। इन्हे उत्तरी चिन्, मध्य-चिन्, प्राचीन कुकि तथा दक्षिणी उपसमूहो मे विभक्त किया जा सकता है। प्राचीन कुकि भाषाओ का मध्य चिन् उपसमूह से अति निकट का सम्बन्ध है किन्तु ऐतिहासिक कारणो से इसके सम्बन्ध मे सर्वप्रथम विचार करना सुविधाजनक होगा। इनकी सख्या सोलह है और इनमे से अधिकाश मनीपुर, कचार (विशेषतया उत्तरी सबडिवीजन), सिलहट तथा टिप्परा पर्वत मे आजकल रहनेवाली जातियो द्वारा बोली जाती हैं। अपने वर्तमान स्थान मे ये लोग गत तीन शताब्दियो के भीतर, विभिन्न समयो मे, अपने मूल स्थान लुशाई भूमि के आस-पास से आये हैं। केवल एक जाति ह्मार अपने मूल स्थान मे ही रह गयी और आज इसकी भाषा मे लुशेइ का अत्यधिक सम्मिश्रण है। लुशाई लोगो के अप्रत्यक्ष दवाव के कारण ही से मुख्य स्थानान्तरण उत्तर की ओर हुआ। लुशाई लोगो ने थाडो लोगो को दक्षिण से दबाया और थाडो लोगो ने प्राचीन कुकि लोगो को उत्तर की ओर इनके वर्तमान निवासस्थान की ओर जाने को बाध्य किया। इस समय थाडो लोग प्राचीन कुकि लोगो के पुराने स्थान को अधिकृत किये हुए हैं, किन्तु लुशाई लोग अबाधगति

से निरन्तर उत्तर की ओर बढते जा रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन लोगो को थाडो लोग पहले बेदखल कर चुके थे, उन्ही का वे उसी प्रदेश मे अनुसरण कर रहे हैं। चूंकि ये लोग इधर बाद मे आये थे अत ये तथा इनके सहयोगी 'नूतन कुकि' कहलाने लगे। क्योंकि पुराने आये हुए लोग 'प्राचीन कुकि' थे। 'प्राचीन कुकि' मे एक ही प्रकार की कई जातियो के एक समूह का बोध होता है, किन्तु

प्राचीन कुकि उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणना
लांग जांग	८,४५०	६७१
हल्लाम	२६,८४८	३,१३१
लैंग्रोग	६,२६६	
ह्मार	२,०००	८,५८३
क्यौ या चव		३५१
अन्य	५,२५०	१३,५०६
योग	४८,८१४	२६,२४५

'नूतन कुकि' से केवल एकमात्र थाडो लोगो का ही बोध होता है। वास्तव मे थाडो लोग उन पाँच सम्बन्धित जातियो मे से एक है जिनमे से चार आज भी लुशाई एवं चिन् पर्वतो मे निवास करती हैं। अत 'नूतन कुकि' शब्द का परित्याग कर इन पाँच जातियो के समूह को उत्तरी चिन् के नाम से ही अभिहित करना सर्वथा उपयुक्त है। लुशाई लोग आज प्राचीन कुकि लोगो के पुराने स्थान तथा इसके अनन्तर थाडो लोगो के स्थान मे निवास कर रहे हैं। थाडो लोगो को बेदखल करने के पश्चात् लुशाई लोगो ने और उत्तर की ओर बढने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप उन्हे ब्रिटिश शक्ति का कोपभाजन बनना पडा।

इस प्रकार हम देखते है कि कुकिचिन् जाति का देशान्तरगमन प्रत्यावर्तित लहरो के रूप मे हुआ है जिसका परिणाम यह है कि मनीपुर मे हम केवल मेइथेइ भाषा बोलनेवाले लोगो को ही निवास करते हुए नही पाते, अपितु यहाँ ऐसी अन्य जातियाँ भी हैं जिनकी भाषाएँ उसी प्रकार प्राचीन हैं तथा उनका स्वतत्र रीति से विकास भी हुआ है। साहित्य के अभाव मे इस प्रदेश की सुदूर दक्षिण की भाषाएँ तो और तीव्रगति से विकसित हुई हैं।

ह्लांग्खोल, हल्लाम्, लाग्रोग्

मुख्य कुकिचिन् भाषाएँ 'ह्लाग्खोल', 'हल्लाम' एव 'लाग्रोग्' है।[1] इनमे से ह्लाग्खोल अपनी बोली 'वेते' के साथ टिप्परा पर्वत तथा उत्तरी कचार मे, हल्लाम सिलहट एव टिप्परा पर्वत मे तथा लाग्रोग् टिप्परा राज्य मे बोली जाती है। श्री सोप्पिट द्वारा लिखित ह्लाग्खोल का व्याकरण उपलब्ध है किन्तु इस सर्वेक्षण के पूर्व अन्य भाषाओ के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात न था।

मनीपुरी भाषाएँ

मनीपुर राज्य के प्राचीन कुकि बोलनेवाले छोटे-छोटे उपनिवेशो के लोग ग्यारह भाषाएँ बोलते हैं।[2] ये हैं—'एमोल' (जनगणना-सख्या ३८७), 'चिरु' (१,५७७), कोल् रेन् (६००), कोम् (२,८५५), चोते (२६४), मुन्तुक (अज्ञात), करुम् (अज्ञात), पुरुम् (१,१३२), अनाल् (३,०६५), हिरोइ-लम्गॉग् (७१४) तथा वैफेइ (२८८२)। चिरु तथा अनाल् भापाओ का उल्लेख तो मनीपुर के सोलहवी शताब्दी के मध्य मे लिखित इतिहास तक मे मिलता है और एमोल लोगो का सर्वप्रथम उल्लेख सन् १७२३ मे मिलता है। अन्य लोगो एव भाषाओ के सम्बन्ध मे कोई सूचना प्राप्त नही है।

ह्मार, चव्

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ह्मार भाषा आज भी लुशाई प्रदेश मे बोली जाती है तथा ह्मार लोगो ने लुशाई लोगो का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया है। अन्त मे, सुदूर दक्षिण, कोलडयने नदी के तट पर, चाव लोग चाव भाषा बोलते हुए मिलते है। ये लोग प्राचीन कुकि दासो के वशज है। आज से तीन शताब्दी पूर्व अराकान प्रदेश की एक धार्मिक रानी ने इन्हे एक स्थानीय बौद्ध-मन्दिर (पगोडा) को दान कर दिया था।

१. इसे राग्खोल् तथा ह्लाचल भी लिखा है, किन्तु इसका शुद्ध रूप ह्लाग्खोल है।

२. कर्नल शेक्सपियर कृत 'लुशेइ कुकि क्लैन' मे पृ० १५१ पर इससे भिन्न केवल दस कबीलो अथवा जातियो की सूची दी हुई है।

उत्तरी चिन उपसमूह

उत्तरी चिन् के अन्तर्गत अपनी खोंग्‌जाइ, लैंगूट्‌ग्, जंग्‌शेन् तथा सैरंग् बोलियों सहित थाडो एवं सोक्ते, सियिन् राल्ते तथा पैते बोलियाँ आती हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, थाडो लोगों को 'नूतन कुकि' कहकर भी सम्बोधित किया जाता है। इन लोगो ने प्राचीन कुकि, ह्लाग्‌खोल् तथा वेते जातियो को निष्कासित करके कुछ दिनो तक लुशाई एवं चिन् पर्वतमाला को अपना निवासस्थान बनाया था। आगे चलकर लुशाई लोगों ने अपने मूल स्थान से इधर आकर धीरे धीरे इनका उच्छेद कर डाला और तब ये लोग सन् १८४० तथा १८५० ई० के बीच कचार तथा नागापर्वत में जाकर बस गये। अठारहवी शताब्दी के मध्य मे, चिन् पर्वतमाला के थाडो लोगो पर सोक्ते लोगो ने विजय प्राप्त की और इन्हें उत्तर मे मनीपुर के दक्षिणी पर्वतों की ओर ढकेल दिया। आजकल ये लोग इसी स्थान पर हैं। स्थानीय लोग इन्हें खोंग्‌जाइ के नाम से अभिहित करते हैं। चिन् पर्वतमाला मे अब थाडो लोगों के बहुत कम गाँव बच पाये हैं।

उत्तरी चिन् उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
थाडो	३१,४३७	३३,२५८
सोक्ते	९,००५	३०,६३३
सियिन्	१,७७०	३,१४३
राल्ते	१८,१३३	५,५३९
पैते	..	१०,४६०
योग	६०,३४५	८३,०३३

सोक्ते, सियिन्

सोक्ते जाति के लोग, जिनमें मुख्य रूप से सोक्ते एवं कमूहोव् (वर्मा के लोग इन्हें कन्‌होव कहते हैं) लोग सम्मिलित हैं, चिन् पर्वत के उत्तरी भाग को अधिकृत किये हुए हैं तथा सियिन् लोगों का निवास, ठीक इनके पूर्व में, सफेद किले के चारों ओर है। अन्तिम दो जातियाँ वास्तव मे वर्मा की हैं और वर्मा के भाषा-सम्बन्धी

सर्वेक्षण मे इनका विवरण उपस्थित किया जायगा। केवल उत्तरी चिन् लोगो की कहानी पूरी करने के लिए इनका यहाँ उल्लेख किया गया है।

राल्ते

राल्ते लोग मुख्य रूप से लुशाई पर्वत के पश्चिमी भागो मे पाये जाते हैं किन्तु आजकल इनके अनेक समूह कचार के मैदानो एव पहाड़ो मे बस गये है।

पैंते

पैंते लोग लुशाई पर्वत पर चारो ओर फैले हुए हैं और यहाँ के प्रत्येक गाँव में इस जाति के कुछ न कुछ लोग अवश्य मिल जाते है। इन्होने 'दुलिएन' लोगो की प्रभुता स्वीकार कर ली है किन्तु बोलते ये अपनी ही भाषा है। राल्ते की भाँति ही इनकी भाषा मे भी लुशेई का अत्यधिक सम्मिश्रण है।

मध्य चिन् उपसमूह

मध्य चिन् भाषाओ के अन्तर्गत शुन्कल या तशो, लै, लुशेई या दुलिएन्, वजोगी तथा पाखु भाषाएँ आती हैं। ये सभी भाषाएँ उत्तरी उपसमूह से घनिष्ठ

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
शुन्कल	४१,२१५	२०,७५४
लै	२४,५५०	४३,७३१
लुशेई	४०,५३९	७७,१८०
वजोगी	८००	३
पाखु	५००	
योग	१,०७,६०४	१,४१,६६८

रूप से सम्बन्धित हैं किन्तु प्राचीन कुकिचिन् भाषा से इनका और भी अधिक सम्बन्ध है। तशो लोग अपने को शुन्कल कहते है। ये लोग सियिन् तथा सोल्के लोगो के प्रदेश के दक्षिण मे निवास करते हैं। इनका प्रदेश बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण की

सीमा के अन्तर्गत आता है। केवल सूची पूरी करने के लिए ही इनका यहाँ उल्लेख किया गया है। इनकी जाति शक्तिशाली है तथा चिन् पर्वत प्रदेश मे अन्य जातियो की तुलना मे इनकी आवादी सवसे घनी है। इस भाषा की कई वोलियाँ हैं और इनमे से केवल एक ही बोली, ज़्हुओ या यहोव् ऐसी है जिसके सम्वन्ध मे हम नाम के अतिरिक्त कुछ अधिक जानते हैं।

लै

शुन्कल की भाँति ही लै लोगो का क्षेत्र भी वास्तव मे वर्मा ही है किन्तु इनके ऐसे उपनिवेश भी है जिनकी भाषा इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत आती है। लै लोग चिन् पर्वत के मध्य भाग के निवासी हैं। 'लै' शब्द का अर्थ भी मध्य ही होता है। अपने सिर के आगे ये वालो का जूडा वाँधते हैं इसीलिए वर्मी लोग इन्हें 'वौग्श' कहते है। पडोस की जातियाँ लै की कई वोलियो को वोलती है किन्तु प्राय सभी इसके परिनिष्ठित रूप को समझ जाते है। ठीक यही वात शुन्कल के सम्वन्ध मे भी है। शासन के लिए लै एक महत्वपूर्ण भाषा है और मेजर न्यूलैंड ने इसका सुन्दर व्याकरण लिखा है।

लखेर्

लै की एक वोली 'लखेर्' लुशाई पर्वत के दक्षिण मे वोली जाती है। चिन् लोग इसके वोलनेवालो को 'ज़ओ' या 'ज़ो' कहकर सम्वोधित करते हैं। ये लोग 'त्लन्त्लग (वर्मी लोग इन्हे क्लग-क्लग् कहते है) लै लोगो की एक शाखा हैं। अग्रेज लोगो की, इनसे सर्वप्रथम भेट अराकान तथा चटगाँव की सीमा पर हुई थी। वहाँ ये लोग 'शेंडू' कहलाते थे।

लुशेई

जिस प्रकार चिन् पर्वत मे लै पारस्परिक व्यवहार की भाषा है, उसी प्रकार लुशाई पर्वत मे 'लुशेई' है। यह क्षेत्र अनेक देशान्तर-गमन करनेवालो का अड्डा रहा है। यहाँ समय-समय वरावर विभिन्न जातियाँ आती रही हैं तथा उन्होंने अपने पूर्वनिवासियो को पश्चिम एव उत्तर की ओर जाने के लिए वाध्य किया है। आजकल इस क्षेत्र मे मुख्य रूप से लुशाई लोग रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे, दक्षिण-पूर्व से आगे वढने लगे। सन्

१८४० तथा १८५० के बीच इन्होंने उत्तरी लुशाई पर्वत से अपने पूर्वनिवासी थाड़ो लोगो को कचार की ओर भेजकर उस पर अन्तिम रूप से अपना अधिकार जमा लिया और इस प्रकार ये सर्वप्रथम अग्रेजो के सम्पर्क मे आये। इसके परिणामस्वरूप इनकी उत्तर की ओर की प्रगति सर्वदा के लिए रुक गयी। इसके बाद से, इनका, अग्रेजी राज्य से सम्बन्ध इतिहास की वस्तु है। इनके नाम की वर्तनी लुशाई है किन्तु इनकी भाषा 'लुशेई' कहलाती है। ये अपने को दुलिएन तथा अपनी भाषा को 'दलिएन तोग' कहते हैं। इसकी कई बोलियाँ हैं जिनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध 'डेव्ते' है। इसे दक्षिण लुशाई पर्वत मे, देमगिरि के पड़ोस के गाँवो तथा पश्चिमी हाउलाग के गाँवो मे गैर-लुशाई जाति के लोग बोलते हैं। इसकी दूसरी बोली 'फन्नै' है। इसे भी दक्षिण लुशाई पर्वत की पूर्वी सीमा तथा कोलड्यने नदी के बीच की गैर-लुशाई जाति के लोग बोलते हैं। परिनिष्ठित लुशेई भाषा अन्य भाषाओ की अपेक्षा सुविख्यात है। इसके कई व्याकरण लिखे गये हैं जिनमे से आरम्भिक मिशनरियो, लोरेन तथा सैविज द्वारा लिखित व्याकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही इन लोगो ने इसका एक पूर्ण कोश भी लिखा है।

बंजोगी, पांखू

चटगाँव के पर्वत क्षेत्र मे दो अन्य बोलियाँ 'बजोगी' तथा 'पाखू' बोली जाती हैं। इनका कोई विशेष महत्व नही है। इन तीनो मे लुशेई ही ऐसी भाषा है जिसके बोलनेवालो की ठीक-ठीक सख्या ज्ञात है।

दक्षिणी चिन् उपसमूह

दक्षिणी चिन् उपसमूह के रूप मे वर्गीकृत भाषाओ मे से अपवाद स्वरूप दो को छोडकर शेष भाषाएँ भारत के सर्वेक्षण क्षेत्र के बाहर की हैं। ये दो भाषाएँ ख्यग या शो तथा खमि, ख्वेटिम या कुमि हैं। ख्यग या ख्येंग (यह शब्द वस्तुत चिन् का अराकानी उच्चारण है) से हमारा कोई सम्बन्ध नही है क्योकि ये लोग मुख्य रूप से बर्मा के अराकान योमा के दोनो किनारो पर बसे हुए हैं, किन्तु इनमे से लगभग एक सौ मनुष्य चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र मे आ बसे हैं अतएव वे इस सर्वेक्षण की परिधि मे आ जाते हैं। ऊपरवाली सूची मे इनकी ९५,५९९ जो सख्या दी गयी है, वह बर्मा की सन् १८९१ की जनगणना मे ली गयी है। किन्तु जिस समय गणना हुई थी उस

दक्षिणी चिन् उपसमूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
चिन्मे	..	..
वेलौंग	..	..
चिन्वोक्	..	..
यिन्दु	.	१०५
चिन्वोन्		६८३
तौंग्थ	..	६२५३
ख्यग	९५,५९९	१०७
खमि	१४,६२६	२७,३४६
अनु	..	७१२
म्हग	.	..
योग	१,१०,२२५	३५,२०६

समय खमि को छोड़कर इस उपसमूह की सभी भाषाएँ 'ख्यग' के सामान्य नाम के अन्तर्गत ही रखी गयी थी।

ख्यंग

ख्यग लोगो की भाषा ने विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया, जिसके परिणामस्वरूप मेजर फ्रेयर तथा श्री हॉटन ने इसका व्याकरण तथा इसकी शब्दावलियाँ प्रस्तुत की। इनके अतिरिक्त अन्य लेखको ने भी इसकी शब्दसूचियाँ तैयार की। ये लोग आशिक रूप मे ही सभ्य हैं, इसीलिए कभी-कभी ये 'तमे चिन्' भी कहलाते हैं। ये अपने को 'शो' कहकर सम्बोधित करते हैं।

खमि

खमि लोगो को वर्मी लोग ख्वेटिम भी कहते है जिसका अर्थ है 'कुत्ते की दुम'। ये लोग चटगांव के पर्वतीय क्षेत्र तथा अराकान मे कोलड्यने नदी के आस-पास पाये जाते हैं। पहले ये लोग चिन् पर्वत पर रहते थे किन्तु उन्नीसवी नदी के मध्य मे ये अपने वर्तमान स्थान पर चले आये। इनकी भाषा की अनेक शब्दावलियाँ प्राप्त है।

रेवरेण्ड एल० स्टिलसन ने सन् १८६६ ई० मे इनकी भाषा का एक संक्षिप्त व्याकरण भी प्रकाशित किया था। यह भाषा भी मुख्य रूप से बर्मा की ही है। भारत के भाषा-सर्वेक्षण मे इसे सम्मिलित करने का एकमात्र कारण यही है कि इसके कतिपय बोलने-वाले लोग चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र मे मिलते हैं। इस उपसमूह की अन्य भाषाएँ बर्मा मे ही सीमित हैं अतएव बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण मे इनके सम्बन्ध मे विचार किया जायगा। तात्कालिक पूर्णता की दृष्टि से, जो नाम मिल सके हैं उन्हे सूची मे दे दिया गया है, किन्तु न तो मैं निश्चयात्मक रूप से ही यह कह सकता हूँ कि भाषाओ की यह सूची पूर्ण है और न यही कह सकता हूँ कि इनके नाम शुद्ध ही है। अभी तक यह भी निश्चय नही है कि ये सभी भाषाएँ तिब्बती-बर्मी ही हैं।

चिन्मे आदि लोगो की भाषाएँ

चिन्मे लोगो के विषय मे पहले यह कहा जाता था कि ये पूर्वी मॉन नदी के स्रोत की ओर बसे हैं और इनकी भाषा लै एव चिन्बोक के बीच की कडी है किन्तु सन् १९०१ से इन लोगो का कुछ भी पता नही है। ठीक यही दशा 'वेलौंग चिन्' लोगो की भी हुई है। यह प्रसिद्ध है कि किसी समय ये लोग 'म्यित्थ' नदी के ऊपरी भाग के गाँवो मे बसे हुए थे और इनके उत्तर मे लै तथा दक्षिण में चिन्बोक लोग रहते थे। चिन्बोक लोग 'माव्' नदी के निचले भाग मे, सार्चौंग तक के पर्वतो मे निवास करते थे। इनके उत्तर मे लै तथा वेलौंग, पूर्व मे बर्मी, पश्चिम मे अराकान योमा की जातियाँ तथा दक्षिण मे यिन्दु चिन् लोग रहते थे। यिन्दु लोग सलिनचौक की घाटी तथा मॉन घाटी के उत्तरी छोर पर रहते हैं। चिन्बोन लोगो ने मॉनचौग के दक्षिणी छोर को आबाद किया है। ये लोग अराकान योमा से होते हुए मोनचौग तक फैले हुए हैं। ये सभी स्थान बर्मा के पकोक्कु जिले मे है। इसी जिले मे तौग्य लोगो का भी निवासस्थान है। 'अनु' उत्तरी अराकान तथा 'म्हग' अकयाब मे बोली जाती है। म्हग का विस्तार क्योक्प्यु तक है।

कुकिचिन् भाषाओ की सामान्य विशेषताएँ

यहाँ कुकिचिन् भाषाओ की उन विशेषताओ की व्याख्या नही की जायगी जो उन्हे अन्य भाषाओ से पृथक् करती हैं। इस सम्बन्ध की आवश्यक सामग्री सर्वेक्षण के तीसरे खण्ड के तीसरे भाग मे उपलब्ध होगी। किन्तु यहाँ पर मैं उस एक विशे-पता की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिससे तिब्बती-बर्मी भाषाओ की

रचना प्रकृति पर पूर्ण प्रकाश पडता है। यह बात प्राय. सभी लोग जानते हैं कि इन भाषाओ मे से किसी मे भी मुख्य रूप मे क्रिया का विकास नहीं हुआ है। यहाँ क्रिया का व्यापार क्रियावाचक विशेष्य पदों (Verbal Nouns) द्वारा सम्पन्न होता है। ये पद वास्तव मे किसी दशा अथवा कार्य को द्योतित करते हैं। ये संज्ञा-पदों की भाँति ही प्रयुक्त होते हैं और इनमे अनुसर्ग संयुक्त करके अथवा इन्हे ऐसे सामासिक शब्द बनाकर जिनके अन्तिम भाग का अर्थ 'समाप्त करते हुए', 'आरम्भ करते हुए', आदि होता है, हिन्दी कालवाची क्रियापदो के समान रूप बनाये जाते है। चिन् भाषाओ मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इस समूह की अधिकांश भाषाओ के क्रियापद भाववाची रूप मे नही होते, किन्तु हम लोगो के कर्त्तावाची संज्ञापदो की भाँति इनका किसी न किसी अन्य संज्ञापद से सम्बन्ध होता है। यह कार्य सम्बन्धवाचक सर्वनाम को पूर्वपद के रूप मे लाकर सम्पन्न किया जाता है। उदाहरणस्वरूप "मैं जाता हूँ" के स्थान पर यहाँ "मेरा जाना" कहा जाता है। इसी प्रकार जब हम लुशेई मे यह कहना चाहते है कि "मैं हूँ" तो हम कहते हैं 'का नी" जिसका शाब्दिक अर्थ है "मेरा होना", और जब हम कहना चाहते हैं "तू है" तो कहते हैं "इ नी", "तेरा होना"।

सक् (लूइ) समूह

जब तक बर्मा का भाषा-सर्वेक्षण पूरा नही हो जाता तब तक सक् या लूइ समूह की स्थिति स्पष्ट नही हो सकती। लूइ अथवा लोइ निम्न जाति के लोग हैं, ये मनीपुर राज्य के निवासी हैं। मेइथेइ तथा अपनी परम्परा के अनुसार यही लोग इस प्रदेश के आदिवासियो की सन्तान हैं। मेइथेइ जातियो के संघ ने ही इनकी उर्वर-भूमि को अधिकृत किया था।[1] अपने 'मनीपुर घाटी तथा उसकी पर्वतीय जातियाँ' शीर्षक विवरण मे श्री मेककलॉच ने, लूइ जातियो द्वारा बोली जानेवाली तीन भाषाओ—अन्द्रो, सेंगमै तथा चैरेल्—की शब्दावलियाँ प्रस्तुत की हैं किन्तु सर्वेक्षण के लिए कोई सामग्री न प्राप्त हो सकी। बाद के विवरणो से ऐसा ज्ञात होता है कि अब ये योग समाप्तप्राय हैं। मेककलॉच के समय (सन् १८५९) मे ही इन पर मेइथेइ लोगो की प्रभुता कायम होने लगी थी।

१. देखो, टी० सी० हाड्सन 'द् मेइथेइज', पृ० ६५।

सक् (लूइ) समूह

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
लूइ भाषाएँ—		
अन्द्रो तथा सेंगमै		..
चैरेल्		..
कदु		१८,५९४
ङैगनेत्		४,९१५
गनन्		१,०२२
सक् या थेत		६१४
	योग	२५,१४५

अन्द्रो, सेंगमै, चैरेल

'अन्द्रो' तथा 'सेंगमै' प्राय एक ही भाषा है और 'कदु' से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'कदु' की चर्चा नीचे की जायगी। 'चैरेल' इन तीनो से अत्यधिक भिन्न है। यद्यपि तिब्बती-बर्मी उपसमूह से इसका सम्बन्ध स्पष्ट है किन्तु इस समूह की किस भाषा से इसका सम्बन्व है, यह मैं नही समझ पाया। भविष्य मे जब तक बर्मा से इसके सम्वन्ध की सामग्री उपलब्ध नही होती, तब तक अस्थायी रूप से मैंने उसे अन्य दो लूइ भाषाओ के साथ रखा है किन्तु मैं यह बतलाने मे असमर्थ हूँ कि इन दोनो से वास्तव मे इसका क्या सम्बन्ध है।

कदु, गनन्, सक

बर्मा के पडोसी जिलो म्यित्क्यिन, कथ एव अपर चिन्द्विन् मे 'कदु' तथा अन्तिम दो जिलो मे 'गनन्' भाषा बोली जाती हैं। गनन् वस्तुत कदु का ही एक रूप है और इसके तथा कदु के वोलनेवाले अपने को 'अ-सक्' नाम से पुकारते हैं। इसके बाद हम 'सक्' या थेत भाषा की ओर अग्रसर होते हैं। इसका भी सम्बन्ध 'कदु' से है तथा यह सुदूर अकयाब के जिले मे बोली जाती है। श्री टेलर का कथन है कि बर्मा के इतिहास के अनुसार, प्राचीन काल मे सक लोग इरावदी के काँठे के ऊपरी भाग

मे रहते थे।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनमे से कुछ लोग, अपने मूलस्थान उत्तरी वर्मा से चलकर दक्षिण-पश्चिम की ओर अराकान मे आ पहुँचे। श्री टेलर के अनुसार इनमे से कुछ लोग मनीपुर की ओर भी आये होगे। यही लोग अन्द्रो तथा सेगमै जातियो के पूर्वज रहे होगे। इसकी दूसरी सम्भावित व्याख्या यह है कि मूल ल्हुइ-सक लोग उत्तरी वर्मा मे रहते हुए भी मनीपुर मे भी फैल गये तथा जब सक लोग दक्षिण-पश्चिम ओर चले गये, म्यित्चियन जिले तथा उसके पडोस के कडु लोगो की भाँति ही, अन्द्रो एव सेगमै लोग भी पीछे छूट गये। ये लोग निम्न श्रेणी के थे तथा मेइथेइ लोगो ने इन्हे अधिकृत कर लिया था। यह तथ्य इस बात को प्रमाणित करता है कि ये लोग इस प्रदेश के आदिवासी थे तथा जब मेइथेइ लोगो ने इस प्रदेश पर अधिकार किया था, तो ये लोग यहाँ मौजूद थे।

डैंगनेत्

अन्त मे हम लोग डैंगनेत् भाषा की ओर आते है। इसमे भारतीय आर्यभाषा वँगला का अत्यधिक सम्मिश्रण है। ये लोग चिन्द्‌विन् के निचले भाग में रहनेवाले, सक युद्धवदियो के वशज हैं। तेरहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे, अराकान-नरेश मिण्डी ने इन्हे वन्दी वनाया था तथा इन्हे अकयाव जिले मे वसने के लिए वाध्य किया था।[2]

तिब्बती-वर्मी उपसमूह की शेष भाषाएँ वर्मा की हैं और इनके सम्बन्ध मे विचार का भार वर्मा के भाषा-सर्वेक्षण पर छोडना चाहिए। केवल पूर्णता के विचार से अपने वर्तमान ज्ञान के आधार पर, मैं इन भाषाओ की सूची प्रस्तुत करूँगा।

वर्मी समूह

वर्मी समूह के अन्तर्गत, मैं यहाँ केवल वर्मी तथा उससे प्रत्यक्ष रूप से सम्वन्धित भाषाओ को ही न रखूँगा किन्तु उन अनेक भाषाओ की भी गणना करूँगा जो अब तक वर्मी तथा काचिन एव अन्य भाषाओ का सम्मिश्रण कहकर वर्गीकृत की जाती थी।

१. वर्मा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल, खण्ड XII भाग १ (१९२२) मे इसका सन्दिग्ध रूप मिलता है। यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि 'सक' शब्द लिखित रूप मे वहुत पुराना है, किन्तु आजकल बोलचाल की भाषा मे इन्हे 'थेट्' कहा जाता है।

२. १९२१ की वर्मा की जनगणना, परिशिष्ट वी १०।

इनके विषय मे यह भी कहा गया है कि लूइ लोगो की भाँति ही इन भाषाओ की बोलने-वाली जातियाँ भी, उत्तरी बर्मा से देशान्तरगमन करते समय, बर्मी लोगो के अवशिष्ट रूप मे आयी हो अथवा उनकी पूर्वज हो या सम्भवत ये लोग उसी मूल वश के हो जिनके बर्मी लोग थे किन्तु ये लोग उस मूल स्थान से बर्मी लोगो के बाद आये हो। जब तक बर्मा के भाषा-सर्वेक्षण द्वारा इस सम्बन्ध मे कोई निर्णय नही हो जाता तब तक मैंने इन्हे बर्मी समूह के साथ ही रखा है। 'स्जि' या 'अत्सि' तथा लशि या लेची

बर्मी समूह

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
स्जि	५,६६३
लशि	१६,५७०
मरु	२०,५७७
मेंगुथ	३३९
फुन्	२४३
म्रू	२२,९०७
बर्मी	८४,२३,२५६
अराकानी	३,०४,५४९
तौंग्यो	२२,५३२
दनु	७२,९५५
इन्थ	५५,००७
तवोयन्	१,३१,७४८
चौंग्थ	९,०५२
यन्ब्ये	२,५०,०१८
अन्य	१७९
योग	९३,३५,५९५

मूलत मिश्रित जातियाँ हैं। ये लोग बर्मी सीमा के साथ-साथ उत्तर, पूर्व एव भामो के दक्षिण-पूर्व फैले हुए है। इनका सम्बन्ध प्रसिद्ध लेपै-काचिन् जाति से है किन्तु कतिपय विद्वान् इन्हे सकर जाति का मानते हैं। म्यित्कियन तथा भामो मे बोली जानेवाली 'मरु' की भी वही विशेषताएँ है जो स्जि तथा लशि की। श्री ग्लाक

ने इसका व्याकरण लिखा है तथा इसकी शब्दावली भी प्रस्तुत की है। साधारणत: इसके बोलने वाले कचिन रूप मे वर्गीकृत किये जाते हैं किन्तु स्त्रि एव लशि लोगो की भाँति ही ये इस वर्गीकरण को स्वीकार नही करते। इस अस्वीकृति की यथार्थता वस्तुत नृ-विज्ञान तथा भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धानो से सिद्ध हो जाती है।

मैंग्य, फुन, म्रू

ठीक इन तीनो की भाँति मंगय भी है। इसके बोलनेवाले अपने को 'न्ग-चग' कहते हैं किन्तु शान लोग इन्हे 'मुग्स' नाम से पुकारते हैं। यह अन्तिम नाम ही बर्मी लोगो के मुँह मे बिगड़कर 'मंग्य' मे परिणत हो गया है। यह उत्तरी शान-राज्य, युन्नन् तथा उत्तर-पश्चिमी चीन मे बोली जाती है। फुन (बर्मा मे इसकी वर्तनी ह्पुन है) भाषा-भाषी समाप्त हो रहे हैं और अब इसके बोलनेवाले बहुत थोडे लोग रह गये हैं। इस जाति के लोग इरावदी नदी के पुराने सकीर्ण पथ पर, जो भामो तथा म्यित्क्यिन् जिलो को विभक्त करनेवाली रेखा के कुछ मील उत्तर तथा दक्षिण प्रसरित है, रहते हैं। यह भाषा प्राचीन बर्मी भाषा की भाँति दिखाई देती है, किन्तु इसके अनेक शब्द ऊपर की चार भाषाओ के अत्यधिक निकट हैं। म्रू अथवा म्रो, कई बातो में विचित्र भाषा है। यह मुख्य रूप से बर्मी भाषा की ध्वन्यात्मक प्रणाली का अनुसरण करती है किन्तु कही-कही यह कई खास बातो मे उससे भिन्न भी है। इसमे ऐसे रूप भी मिलते हैं जो केवल कुकिचिन् के रूपो के समानान्तर ही नही है अपितु ये बोडो एव नागा भाषाओ के भी समान हैं। यह मुख्य रूप से उत्तरी अराकान तथा अक्याब मे बोली जाती है किन्तु इसके कतिपय बोलनेवाले चटगाँव के पर्वतीय-प्रदेश मे भी मिलते हैं।

बर्मी

जहाँ तक मुख्य बर्मी भाषाओ का सम्बन्ध है, मैं केवल उन्ही का उल्लेख करूँगा जो पहले की जनगणना की रिपोर्ट मे आ चुकी हैं। इन रिपोर्टों मे इन सबको स्वतत्र भाषाएँ बतलाया गया है किन्तु सम्भव है कि बर्मा के 'भाषासर्वेक्षण' मे यह सिद्ध हो सके कि इनमे से अधिकाश या सभी केवल बर्मी भाषा की बोलियाँ मात्र हैं। परिनिष्ठित बर्मी भाषा समस्त प्रदेश मे शिक्षित लोगो द्वारा बोली जाती है। साहित्य मे स्कूलो एव सरकारी कामो मे इसी भाषा का प्रयोग होता है। लिखित भाषा का स्वरूप सर्वत्र समान है किन्तु स्थानीय भाषा मे बहुत अन्तर है।

अराकानी

बर्मी भाषाओ मे अराकानी या रखैंग ही केवल एक ऐसी भाषा है जिसके क्षेत्र की इस सर्वेक्षण मे जाँच की गयी है। बाकरगज, चटगाँव तथा चटगाँव के पर्वतीय क्षेत्रो मे, 'मघी' नाम के अन्तर्गत इसका उल्लेख हुआ है। इन क्षेत्रो मे बर्मा से ही आकर लोग बस गये हैं किन्तु इस बोली का वास्तविक क्षेत्र अक्याब, सैंडोवे तथा बसीन है। मुख्य बर्मी लोगो से अराकानी प्राचीन काल मे ही पृथक् हो गये और बीच मे पहाड़ी क्षेत्रो के आ जाने से इनका पारस्परिक सम्बन्ध भी टूट गया। यही कारण है कि अराकानी का स्वतत्र रूप से विकास हुआ और कई बातो मे परिनिष्ठित भाषा तथा इसमे बहुत अन्तर है। यह बात प्रसिद्ध है कि बर्मी का शुद्ध उच्चारण लिखित रूप मे द्योतित उच्चारण से अत्यधिक भिन्न है। दूसरे शब्दो मे बोलचाल की भाषा का विकास लिखित भाषा की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हुआ है और लिखित भाषा प्राचीन रूपो का प्रतिनिधित्व करती है। इसका एक प्रमाण यह है कि अराकानी भाषा का उच्चारण लिखित बर्मी भाषा से तो मिलता है किन्तु बोल-चाल की बर्मी से वह भिन्न है।

तौंग्यो, दनु

'तौंग्यो' भाषा मेइकतिला एव दक्षिणी शान राज्य मे तथा 'दनु' शान राज्य तथा उसके पड़ोसी जिलो मे बोली जाती है। तौंग्यो लोग अपने को 'तारु' कहते हैं।

इन्थ, तवोयन्

इन्थ भी दक्षिणी शान राज्य की भाषा है और 'तवोयन्' या 'दवे' तवोय मे बोली जाती है। इन दोनो भाषाओ का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्री टेलर ने मुझे सूचित किया है कि इस बात का पक्का प्रमाण है कि इन्थ लोग आज से सात सौ वर्ष पूर्व तवोय छोडकर, अपने वर्तमान निवासस्थान इन्ले झील के पास आये थे। उस समय ये दोनो भाषाएँ एक थी।

चौंय, यन्‍ब्ये

चौंय भाषा अक्याव तथा अराकान् के पर्वतीय क्षेत्र मे बोली जाती है तथा यन्‍ब्ये क्यौक्प्यु एव अक्याब की बोली है।

लोलो-मोसो समूह

लोलोमोसो समूह की भाषाएँ युन्नन तथा उत्तर-पश्चिमी चीन मे बोली जाती है, किन्तु इनके बोलनेवाले कुछ लोग शान राज्य मे जा पहुँचे हैं, अतएव इनका विवरण वर्मा के भाषासर्वेक्षण मे होगा। इस सर्वेक्षण मे इसका इसके अतिरिक्त कुछ भी सम्बन्ध नही है कि इस समूह की भाषाएँ तिब्बती-बर्मी उपसमूह के अन्तर्गत आती

लोलो-मोसो समूह

	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
लोलो	३५,०८५
अ—हि	.
अ—क	३४,२६५
अको	५१
अनिर्णीत	७६९
लिसु	१३,१५२
लिसुअव	
अनिर्णीत	१३,१५२
मो—सो	२६,४१८
लहु	..
क्वि	३,६७६
अनिर्णीत	२२,७४२
अन्य	१,०३१
योग	७५,६८६

हैं तथा कचिन से इनका थोड़ा बहुत सम्बन्ध है। यह समूह इसलिए भी दिलचस्प है कि इसका 'सि-हिअ' भाषा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। सि-हिअ किसी समय, महान् रेगिस्तान की सीमा पर, तौंग्त प्रदेश मे प्रचलित थी, किन्तु कई शताब्दियों से यह मृतक हो चुकी है। इसके नमूने चीनी लेखको की कृतियो मे सुरक्षित हैं तथा डा० लौफर ने "तौंगपओ" के पृष्ठो मे इसका अध्ययन एवं वर्णन प्रस्तुत किया है।[1]

१. सेकेण्ड सीरीज खण्ड XVII नं० १ मार्च, १९१६।

फ्रेंच मिशनरियो ने लोलो भाषाओ का काफी अध्ययन किया है और तिब्बती-बर्मी अन्य असाहित्यिक भाषाओ की अपेक्षा हम लोगो का इनके सम्बन्ध मे अधिक ज्ञान है। निस्सन्देह बर्मा के भाषासर्वेक्षण मे इनका और अधिक अध्ययन होगा। यहाँ पर इस समूह की भाषाओ का नामोल्लेख मात्र ही पर्याप्त होगा। इनके सम्बन्ध मे और अधिक सामग्री सर्वेक्षण के इस खण्ड के द्वितीय भाग मे तुलनात्मक शब्दावली के अन्तर्गत मिलेगी। इसकी मुख्य भाषाएँ लोलो, लिसु तथा मो सो हैं।

लोलो, अ-हि, अ-क, अ-को लिसु, लिस्, अव, मोसो

स्वय लोलो कई भाषाओ का उपसमूह है। इनमे से अ-हि, अ-क (अपर बर्मा गजेटियर मे इनका नाम 'अख' मिलता है) तथा अ-को मुख्य भाषाएँ हैं। अ-क को कभी-कभी कव नाम से भी पुकारते है। युन्नन की लिसु भाषा के सम्बन्ध मे बहुत कम ज्ञात है किन्तु इसकी लिस्, अव बोली की शब्द-सूचियाँ शान राज्य से प्राप्त की गयी हैं। इधर श्री एम० जे० ओ० फ्रेज़र महोदय ने लिसु का व्याकरण भी प्रकाशित कराया है। मोसो (अपर बर्मा के गजेटियर मे यह नाम 'मोस्सो' या 'मुसु' रूप मे मिलता है) का मुख्य स्थान मेखाग नदी के कांठे मे है। यह अपर बर्मा से सलग्न, पूर्व ओर, तथा लि-किआँग के चारो ओर, याग-त्से के कांठे मे स्थित है।

ल्हु तथा ख्वि इसकी बोलियाँ बतलायी जाती हैं।

सातवाँ अध्याय

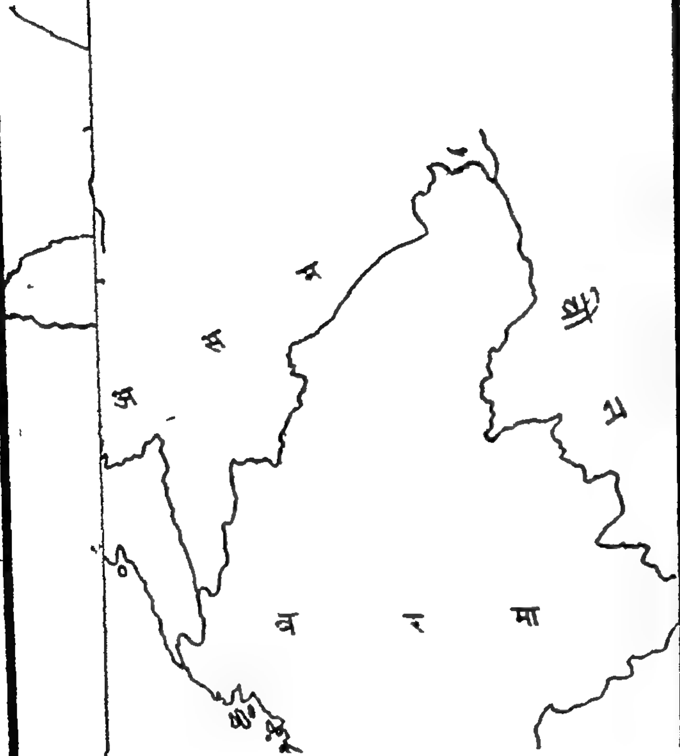
द्रविड़-परिवार

द्रविड़ जाति

द्रविड़ जाति समस्त भारत मे फैली हुई है किन्तु इस परिवार के सभी लोग द्रविड भाषाएँ नही बोलते। उत्तर मे, इनमे से अनेक लोग आर्य बन गये हैं तथा उन्होने आर्य भाषाएँ अपना ली हैं, यद्यपि उनमे उनके वश की विशेषताएँ सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त मध्य एव दक्षिण भारत मे लाखो ऐसे लोग निवास करते हैं जो अपनी शारीरिक गठन के कारण नृ-विज्ञानियो द्वारा द्रविड़ नाम से वर्गीकृत किये गये हैं। वास्तव मे इनके अन्तर्गत दो महत्वपूर्ण परिवारो के लोग आते हैं। इनमे से एक परिवार है मुण्डा तथा दूसरा है मुख्य रूप से द्रविड भाषाएँ बोलनेवाला परिवार। चूंकि इन दोनो परिवारो की भाषाओ के बोलने वाले लोगो की शारीरिक गठन प्राय समान है, अतः कई विद्वानो के अनुसार इन दोनो मे पारस्परिक सम्बन्ध भी है, किन्तु सर्वेक्षण द्वारा विस्तृत अनुसन्धान के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के सिद्धान्त के लिए कोई आधार नही है। चाहे इन दोनो की ध्वनिप्रणालियो को लें या इनके शब्द-धातु-रूपो एवं शब्दावलियों को लें, द्रविड लोगो का मुण्डा भाषाओ से कोई सम्बन्ध नही है। ये दोनो ध्वनि, लिगनिर्देश, सज्ञा की रूप-रचना, कर्म का क्रिया से सम्बन्ध द्योतित करने के ढग, सख्यावाचक शब्दो, क्रियारूपो, नकारात्मक रूपो के निर्देश की प्रक्रियाओ एव शब्दावलियो मे एक दूसरे से भिन्न हैं। कुछ बातो मे इनकी पारस्परिक समानता भी है किन्तु यह समानता तो विश्व मे बिखरी हुई अनेक भाषाओ मे भी वर्तमान है।

एक ही द्रविड़ जाति के, जो वास्तव मे दो विभिन्न परिवारो की भाषाओ का प्रयोग करती है, प्रश्न को नृ-विज्ञानियो के हाथ मे छोड़कर, हम उस भाषा के सम्बन्ध मे यहाँ विचार करेंगे जिसे भाषाशास्त्री द्रविड़ के नाम से अभिहित करते हैं।

क्षेत्र





अन्य भाषाओं से सम्बन्ध

हमे यह ज्ञात नही है कि द्रविड भाषा-भाषी कब से भारत मे रह रहे हैं। इतना तो निश्चय प्रतीत होता है कि आर्यों के आगमन के बहुत पहले से ही ये इस देश मे वर्तमान थे किन्तु यह कहना कठिन है कि ये यहाँ के आदिवासी थे अथवा ये भी यहाँ कही बाहर से ही आये थे। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि उत्तर-पश्चिम प्रदेश मे 'ब्राहुई' नामक एक ऐसी जाति है जिसके बोलनेवालो की शारीरिक गठन तो द्रविड़ लोगो की भाँति नही है किन्तु इनकी भाषा द्रविड परिवार की है। सुदूर उत्तर-पश्चिम मे इस भाषा की स्थिति के कारण विशप काल्डवेल तथा अन्य विद्वानो का यह मत है कि आर्य लोगो की भाँति द्रविड लोग भी उत्तर-पश्चिम के मार्ग से ही भारत मे प्रविष्ट हुए होगे, किन्तु इन विद्वानो के तर्क सारयुक्त नही है। इस मान्यता के अनुसार ब्राहुई भाषा-भाषी लोग उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण करनेवालो की पिछली पक्ति मे होगे किन्तु इसके विपरीत यदि यह मान लिया जाय कि पूर्व अथवा दक्षिण भारत की ओर से राष्ट्रीय आदोलन करनेवालो के ये अग्रगामी दल के लोग हैं तो वास्तविक तथ्य मे कोई अन्तर न होगा। इसके अतिरिक्त इस विषय मे शारीरिक गठन का कोई महत्त्व नही है। बात यह है कि कई शताब्दियो से ब्राहुई लोग ईरानियो के बीच रह रहे हैं और इनसे इनका विवाहसम्बन्ध भी होता है। उधर निकटतम द्रविड भाषा से ये कई सौ मील की दूरी पर है। यदि यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध भी हो जाय कि नृ-विज्ञानी जिस शारीरिक गठनवाले लोगो को द्रविड़ नाम से सम्बोधित करते हैं वह मूल ब्राहुई लोगो की भी थी तो जिस अवस्था मे वे आज रह रहे हैं उसमे वे अपनी मूल विशेषताएँ भी सुरक्षित रखे हुए हैं, इसमे आश्चर्य होगा। यह सिद्ध करने के लिए कि द्रविड भाषाओ का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम भारत के और बहुत आगे की भाषाओ, तुर्की, फिन्नीय तथा हगेरीय से है तथा किसी समय द्रविड लोग सिदियन प्रदेश के निवासी थे, विशप काल्डवेल ने भाषासम्बन्धी बहुत सामग्री एकत्र की। जनसाधारण के लिए लिखित अनेक पुस्तको मे उनके इस सिद्धान्त की चर्चा हुई किन्तु इसे आधुनिक विद्वानो की स्वीकृति प्राप्त न हो सकी।

इस विषय मे पहले लिखा जा चुका है कि मुण्डा भाषाओ से इनका सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो उद्योग किया गया है वह असफल रहा है। अन्त मे आस्ट्रेलिया की भाषाओ से इनके सम्बन्ध का उल्लेख आवश्यक है। इसके अनुसार प्रागैतिहासिक काल मे जब लैमूरियन महाद्वीप स्थित था तब आस्ट्रेलिया तथा भारत मे स्थल-मार्ग द्वारा सम्बन्ध था। इसमे सन्देह नही कि आस्ट्रेलिया की भाषाओ तथा द्रविड

भाषाओ मे कुछ समानता है किन्तु दोनो का भाषा विषयक पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए अभी सामग्री का अभाव है। इस समय इस सम्बन्ध मे हमारा जो कुछ ज्ञान है, उसके आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनमे पारस्परिक सम्बन्ध असम्भव नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व तक, आस्ट्रेलिया की भाषाओं के सम्बन्ध मे यूरोपीय विद्वानो का ज्ञान बहुत अल्प था। सन् १९१९ मे पीटर डब्लू० शिमिट इस महाद्वीप की भाषाओ का वर्गीकरण करने मे सफल हुए।[१] इस सम्बन्ध मे दूसरा कार्य यह है कि न्यूगिनी और तदुपरान्त भारत (दक्षिण भारत) की भाषाओ का अनुसन्धान किया जाय। पीटर शिमिट के तत्त्वावधान मे यह कार्य आरम्भ भी हुआ था[२] किन्तु युद्ध (प्रथम युद्ध) के कारण इस सम्बन्ध मे अभी तक कुछ भी सामग्री प्रकाश मे नही आयी। अभी प्रतीक्षा अपेक्षित है। आशा है कि निकट भविष्य मे इस सम्बन्ध मे इतनी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जायगी कि यह समस्या सदैव के लिए सुलझ जायेगी।

स्थान

वर्तमान समय मे द्रविड भाषाओं का स्थान दक्षिण भारत है। इसके विपरीत उत्तर भारत मे आर्य भाषाओ का क्षेत्र है। दक्षिण की द्रविड भाषाओ की उत्तरी सीमा, मध्यप्रदेश स्थित चाँदा जिले का उत्तर-पूर्वी कोना है। यहाँ से अरब सागर की ओर से होती हुई यह सीमा कोल्हापुर के दक्षिण-पश्चिम ओर जाती है और तदुपरान्त पश्चिमी घाट का अनुसरण करती हुई तथा गोआ से लगभग दो सौ मील नीचे से गुजरती हुई समुद्र से मिल जाती है। चाँदा जिले की पूर्व की सीमा बहुत कुछ अनिश्चित है। इधर के पर्वतो मे मुख्य रूप से द्रविड, यत्र-तत्र मुडा तथा मैदानो मे आर्य भाषाएँ प्रचलित हैं। कन्ध भाषा का क्षेत्र, मुख्य रूप से उत्तर-पूर्व मे है। यह आर्य-भाषा, उडिया से चारो ओर से पूर्ण रूप से घिरी हुई है। इस ठोस क्षेत्र के अतिरिक्त, सुदूर उत्तर मे, मध्यप्रदेश एव छोटा नागपुर तथा गगा के किनारे राजमहल की पहाडियो तक, द्रविड भाषा-भाषियो के द्वीप वर्तमान है। इनमे से अधिकाश, अति

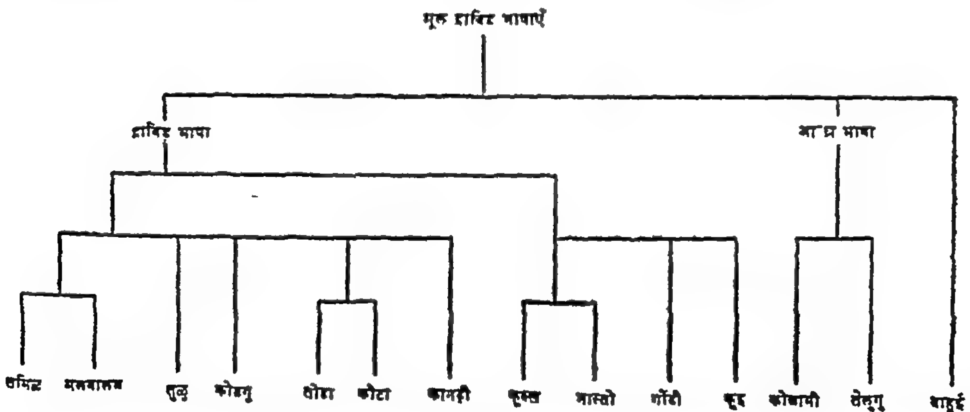
१. Die gliederung der Australischen Sprachen, Vienna 1919 The classification of the Australian languages

२. वही पृ० २२।

शीघ्रता से, आर्य प्रभाव के अन्तर्गत जा रहे है। इधर अधिकाश द्रविड भाषा-भाषी आर्यो की जाति-प्रणाली तथा टूटे-फूटे रूप मे आर्य भाषा को अपना रहे है। इसका परिणाम यह है कि भाषा के द्वारा इनकी वास्तविक स्थिति का पता लगाना कठिन है। अन्त मे सुदूर वलूचिस्तान मे ब्राहुई भाषा मिलती है। इसके सम्बन्ध मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह निश्चय करना कठिन है कि यह द्रविड लोगो के अग्रगामी अथवा पश्चगामी देशान्तरगमन का परिणाम है।

द्रविड़ भाषाओ का पारस्परिक सम्बन्ध

यदि श्री बर्नेल का उद्धरण[1] ठीक है तो दक्षिण की भाषाओ से परिचित सातवी शताब्दी के एक सस्कृत के विद्वान् के अनुसार, इन्हे दो भागो—आन्ध्र तथा द्रविड देश की भाषाओ के रूप मे—विभक्त किया जा सकता है। इनमे से प्रथम भाग तो आधुनिक तेलुगु तथा द्वितीय आधुनिक तमिल एव उससे सम्बन्धित भाषाओ का प्रतिनिधि होगा। ये दोनो विभाग वस्तुत आजकल की उपलब्ध भाषाओ के लिए भी उपयुक्त एव अनुकूल होगे। आन्ध्र की भाषा ही वस्तुत तेलुगु की पूर्वज थी। कुरुख, माल्तो, कुइ, कोलामी तथा गोडी बीच की भाषाएँ हैं और ब्राहुई तथा कतिपय मिश्रित भाषाओ को छोडकर इस परिवार की अन्य भाषाएँ द्रविड से ही प्रसूत हुई है। विभिन्न द्रविड भाषाओ का पारस्परिक सम्बन्ध नीचे की तालिका मे प्रदर्शित किया गया है—



चित्र १०

१. यहाँ इण्डियन एण्टीक्वेरी के प्रथम खण्ड, पृ० ३१० पर बर्नेल द्वारा लिखित

द्रविड़ भाषाओ की तालिका

इस आधार पर हम द्रविड भाषाओ को चार समूहो मे बाँट सकते हैं। इनमे एक जोडा अर्ध द्रविड (मिश्रित) भाषा को और सम्मिलित कर यह सख्या पाँच की जा सकती है। प्रत्येक समूह के बोलनेवालो की सख्या सर्वेक्षण तथा सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार नीचे दी जा रही है। चूँकि इस सर्वेक्षण का क्षेत्र दक्षिण तक नही था, अत द्रविड परिवार की अधिकाश भाषाएँ इस सर्वेक्षण की सीमा के बाहर रही। किन्तु इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत जो द्रविड़ भाषाएँ

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
द्रविडसमूह	३,०९,४०,५५०	३,७२,८५,५९४
मध्यसमूह	२१,८०,८५८	३०,५६,५९८
आन्ध्रभाषा (तेलुगु)	१,९७,८३,९०१	२,३६,०१,४९२
उत्तर-पश्चिमी भाषा ब्राहुई	१,६५,५००	१,८४,३६८
अर्धद्रविड (मिश्रित)	२,४५२	
योग	५,३०,७३,२६१	६,४१,२८,०५२

आयी हैं उनमे सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए इन दक्षिण की द्रविड भाषाओं का उल्लेख आवश्यक है। उधर बर्मा का भाषा-सर्वेक्षण तो आरम्भ हो गया है किन्तु निकट भविष्य मे मद्रास राज्य के सर्वेक्षण की कोई आशा नही है। अतएव इस परिवार की सभी भाषाओ का मैं विस्तार के साथ वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा।

एक लेख का निर्देश है और यहाँ संस्कृत विद्वान् से कुमारिल भट्ट से तात्पर्य है। संस्कृत का जो उद्धरण इस लेख मे दिया गया है उसकी शुद्धता सन्देहास्पद है। देखो श्रीनिवास अयंगर का लेख इण्डियन एन्टीक्वेरी खण्ड ४२, पृ० २०० तथा उसके आगे।

द्रविड भाषाओ की सामान्य विशेषताएँ

द्रविड भाषाएँ अनेकाक्षरात्मक एव सयोगात्मक है किन्तु इनमे सयोगात्मक प्रत्यय उतनी अधिक सख्या मे नही होते जितने कि मुण्डा परिवार की भाषाओ मे। ये भाषाएँ वास्तव मे बाद की अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है, क्योकि यद्यपि ये आज भी योगात्मक हैं तथापि इनके प्रत्यय कही सन्धि, कही वर्णलोप तथा कही स्वर-परिवर्तन के कारण, परिवर्तित होने प्रारम्भ हो गये है। इनके प्रत्यय यद्यपि कही-कही, अपने मूलरूप को छोड चुके हैं, फिर भी ये आज भी स्वतत्र है तथा ये प्रातिपदिक से, जो स्वय अपरिवर्तित रहते हैं; अलग किये जा सकते है। द्रविड भाषाओ की निम्नलिखित मुख्य विशेषताओ का साधारण विवरण, एक-आध परिवर्तन को छोडकर, मद्रास राज्य की शासन-पुस्तिका से लिया गया है—

"द्रविड भाषाओ मे सभी अप्राणिवाचक एव ज्ञानहीन सज्ञापद नपुसक लिग मे होते है। पुल्लिग एव स्त्रीलिंग के भेद यहाँ केवल अन्य पुरुप के सर्वनाम, सर्वनामीय

	सर्वेक्षण	जनसख्या १९२१
तमिल	१५,२७२,८५६	१८,७७९,५७७
मलयालम	५,४२५,९७९	७,४९७,६३८
कन्नडा	९,७१०,८३२	१०,३७४,२०४
कोडगु	३७,२१८	३९,९९५
तुफु	४९१,७२८	५९२,३२५
तोडा	७३६	६६३
कोटा	१,२०१	१,१९२
योग	३,०९४,४०,५५०	३,७३,८५,५९४

प्रत्ययो से निर्मित विशेपणो तथा अन्यपुरुप के क्रियापदो मे प्रत्यक्ष रूप मे मिलते हैं। अन्य सभी अवस्थाओ मे लिंग का निर्देश पुरुप एव स्त्री-वाची शब्दो द्वारा किया जाता है। द्रविड भाषाओ मे सज्ञा के रूप कारकीय प्रत्ययो द्वारा नही सम्पन्न होते अपितु ये अनुसर्गो अथवा ऐसे पदो को सयुक्त करके सम्पन्न होते है जिन्हे अलग किया जा सकता है। इन भाषाओ मे नपुसक सज्ञापदो के बहुवचन के रूप बहुत कम मिलते हैं। द्रविड के सम्प्रदाय (कु, कि अथवा गे) का समता सस्कृत अथवा अन्य किसी भारोपीय भाषा मे नही मिलती। हिन्दी के "को" से इसकी समानता आकस्मिक

है। उपसर्ग के स्थान पर इन भाषाओ मे अनुसर्ग का प्रयोग होता है। सस्कृत मे सज्ञापदो की भाँति विशेषण के रूप भी सम्पन्न होते है किन्तु द्रविड भाषाओ मे विशेषण के इस प्रकार के रूपो का अभाव है। भारोपीय भाषाओ के विपरीत, द्रविड भाषाओ की यह विशेपता है कि इनमे यथासभव भाववाचक सज्ञा अथवा विशेषण के बदले क्रिया के सम्बन्धवाची कृदन्तीय पदो का व्यवहार होता है। द्रविड भाषाओ की एक विशेषता (जो मुण्डा मे भी उपलब्ध है) यह है कि इनमे उत्तमपुरुष सर्वनाम के बहुवचन के दो रूप मिलते हैं। इनमे से एक रूप मे तो बोलनेवाला भी सम्मिलित रहता है किन्तु दूसरे रूप मे उसका अभाव रहता है। द्रविड़ भाषाओ मे कर्मवाच्य का अभाव है। इनमे कर्मवाच्य को 'सहने करने' आदि के भाव को द्योतित करनेवाले क्रियापदो द्वारा द्योतित किया जाता है। भारोपीय भाषाओ के विपरीत, द्रविड भाषाओ मे, क्रियारूपो के निर्माण मे शतृ-पदो का ही अधिक हाथ होता है। द्रविड क्रियापदो मे नकारात्मक एव स्वीकारात्मक वाच्य होते है। यह द्रविड भाषाओ की उल्लेखनीय विशेषता है कि इनमे सम्बन्धसूचक सर्वनाम के स्थान पर सम्बन्धवाची कृदन्तीय सज्ञापद (Relative Participial Noun) का प्रयोग होता है। ये सज्ञापद कृदन्त पदो मे प्रत्यय लगाकर बनते है। इस प्रकार तमिल मे "व्यक्ति जो आया" के लिए "जो—आया" कहते हैं।"

कतिपय फुटकर बोलियो को छोडकर द्रविड़ समूह की केवल एक ही भाषा, कन्नड, इस सर्वेक्षण की सीमा के अन्तर्गत आ पायी है। इसका कारण यह है कि इसके बोलनेवाले अनेक लोग बम्बई प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत रहते हैं। किन्तु इस पर भी इस भाषा के बोलनेवाले इससे दुगुने लोग मद्रास, निजाम राज्य, मैसूर तथा कुर्ग मे रहते है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, यहाँ पर मैं इस समह की प्रत्येक भाषा का सक्षिप्त परिचय देना उचित समझता हूँ।

तमिल

द्रविड भाषाओ मे सर्वाधिक विकसित एव प्रसिद्ध 'तमिल' है। दक्षिण भारत मे मैसूर तथा पश्चिमी घाट तक इसका क्षेत्र है और उत्तर मे यह मद्रास शहर तथा उसके आगे तक प्रचलित है। सीलोन द्वीप के उत्तरी भाग मे भी यह बोल-चाल की भाषा के रूप मे प्रचलित है। तामिल भाषा-भाषी बर्मा, कलिंग की ओर भी गये हैं। कुली के रूप मे ये लोग 'मारिशस' तथा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशो मे भी जा बसे है। घरेलू नौकरो के रूप मे तमिल भाषा-भाषी हिन्दुस्तान

के बडे शहरो मे तथा छावनियो मे फैल गये है। उत्तर भारत के घरेलू नौकरो के विपरीत मद्रासी नौकरो मे खाने-पीने, कपडे तथा धर्म के सम्वन्ध मे कम कट्टरता है और इस प्रकार वे परिस्थितियो के अनुकूल अपने को वदल लेते है। तमिल मे, जो कि कभी-कभी 'मलवर' तथा दक्षिण के मुसलमानो एव पश्चिम भारत के लोगो द्वारा 'उर्व' कहलाती है, पर्याप्त एकरूपता है। इसमे जैसा कि निम्न तालिका मे दिया गया है, केवल कुछ ही साधारण वोलियाँ उपलव्ध है।

'इरुला' तथा 'कसुवा' वोलियो को नीलगिरि की कुछ छोटी सख्यावाली जातियाँ वोलती है। इनका सर्वेक्षण नही हो पाया है। तमिल की वोलियो को वर्गीकृत करने मे मैंने अपने पहले के विद्वानो का अनुसरण किया है, किन्तु उन्हे स्वय इस वात का पता नही है कि 'तमिल' तथा 'कसुवा' मे क्या सवध है। 'कोरव',

तमिल की वोलियाँ

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित-अनिर्णीत	१,५२,०७,२५६
कोरव या येरुकल	५५,११६
इरुला	१,६१४
कसुवा	३१६
कैकाडी	८,२८९
वरगन्डी	२६५
योग	१,५२,७२,८५६

'कैकाडी' तथा 'वरगन्डी' वोलियाँ दक्षिण भारत की कतिपय घुमन्तू जातियो द्वारा व्यवहृत होती हैं। इनमे से कई जातियाँ वम्वई तथा मध्यप्रदेश मे भी मिली, जो इस प्रकार के सर्वेक्षण के अन्तर्गत आ गयी है। इसका विश्लेषण तथा विवरण सर्वेक्षण के चौथे खण्ड मे दिया गया है। तमिल के और क्षेत्रीय एव स्थानीय रूप हैं किन्तु उनके सम्वन्ध मे सर्वेक्षण को कुछ पता नही लगा है। परिनिष्ठित तमिल के भी दो रूप है, इनमे से एक 'शेत्' (पूर्ण अथवा साधु) तथा दूसरा 'कोडुन्' (ग्रामीण अथवा असाधु) है। इनमे से प्रथम साहित्यिक भाषा है तथा कविता मे भी इसका प्रयोग होता है और इसके अनेक कृत्रिम रूप है। 'कोडुन्' तमिल का प्रयोग साधारण जीवन मे होता है।

लिपि

प्राचीन तमिल की अपनी लिपि 'वट्टेलुट्टु' अर्थात् वर्तुलाकार है। आधुनिक तमिल लिपि की उत्पत्ति, अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि से, प्राचीन ग्रथ-लिपि के द्वारा हुई है। प्राचीन ग्रथलिपि का प्रयोग दक्षिण मे सस्कृत लिखने के लिए होता है। आधुनिक तमिल लिपि मे ग्रथ-लिपि के वे सभी वर्ण ले लिये गये है जिनके प्रतिरूप अपूर्ण वट्टेलुट्टु लिपि मे है किन्तु इसमे वट्टेलुट्टु के भी कतिपय ऐसे वर्ण सम्मिलित कर लिये गये है जिनके प्रतिरूप ग्रथ-लिपि मे नही मिलते। वट्टेलुट्टु लिपि की भाँति ही आधुनिक तमिल-लिपि भी आधुनिक युग के शब्दसमूह को अकित करने मे पूर्णतया असमर्थ है।

साहित्य

द्रविड भाषाओ मे तमिल सर्वाधिक प्राचीन, उन्नत एव सगठित भाषा है। इसके शब्द-समूह समृद्ध है और अत्यन्त प्राचीन काल से ही इसमे साहित्य रचना होती रही है। इसमे उच्च एव उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध है। यहाँ पर तमिल-साहित्य का विवरण प्रस्तुत करने के लिए स्थान नही है, किन्तु इसकी एक दो उत्कृष्ट कृतियो का उल्लेख किया जा सकता है। इसमे साहित्य-रचना आरम्भ करने का श्रेय जैन धर्मावलवियो को है। इन जैन लेखको की रचनाएँ आठवी नवी शती से लेकर तेरहवी शती के बीच मे हुई हैं। तिरुवळ्ळुवर कृत 'कुडळ' मे हमे साख्य-दर्शन की शिक्षाएँ उपलब्ध होती है। इसमे १३३० पद्यबद्ध सूत्र हैं जिनका सम्बन्ध आचरण, सम्पत्ति एव आनन्द से है। यह तमिल साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृतियो मे से है। इसका लेखक हरिजन था और इसका समय बिशप काल्डवेल के अनुसार दसवी शताब्दी के बाद का नही हो सकता। आचारसम्बन्धी एक दूसरा ग्रन्थ "नालडियार्" है जिसका सम्बन्ध जैन धर्म से है और कदाचित् यह और भी पुराना है। एक स्त्री लेखिका 'अउवेइयार' अथवा 'श्रद्धास्पद आर्या', दो अन्य ग्रन्थो 'अत्तिसूडि' तथा 'कोनडेइ वेयुन्डन' की रचयिता बतलायी जाती है। ये दो कृतियाँ सक्षिप्त है। लेखिका तिरुवळ्ळुवर की बहन थी और इसकी ये कृतियाँ आज भी तमिल स्कूलो मे पढायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ 'चिन्ता-मणि' का उल्लेख किया जा सकता है। यह किसी अज्ञात् जैन कवि द्वारा लिखित नितान्त सुन्दर एव कल्पनापूर्ण महाकाव्य है। इसी श्रेणी मे कम्बन् कृत 'रामायण' जिनका काव्यसौष्ठव चिन्तामणि के ही समान है तथा पवणन्ति कृत 'नन्नूल'

नामक प्राचीन तमिल व्याकरण है। यहाँ शित्तर अर्थात् सिद्धो या सन्तो द्वारा रचित ब्राह्मणविरोधी तमिल-साहित्य का विशेष रूप से उल्लेख भी आवश्यक है। शित्तर एक तमिल सम्प्रदाय था। ये लोग शिव को ईश्वर का एक रूप मानते थे पर शैव धर्मसम्बन्धी अन्य बातो से ये विरत थे। धर्म के क्षेत्र मे ये लोग निवृत्ति-मार्गी तथा विज्ञान के क्षेत्र मे ये रासायनिक प्रक्रिया के ज्ञाता थे। इनकी रहस्यवादी कविताएँ, विशेषतया "शिव-वाक्यम्" बहुत सुन्दर बतलायी जाती है और कतिपय विद्वानो के अनुसार इन पर ईसाई धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है।

आधुनिक तमिल साहित्य का आरम्भ अठारहवी शताब्दी से होता है। इस युग के लेखको मे सर्वाधिक प्रसिद्ध तायुमानवन् तथा इतालीय देशवासी पादरी बेश्चि (मृत्यु सन् १७४२) हैं। इनमे तायुमानवन् तो विश्वदेववादी हैं और इन्होने १४५३ छन्दो की रचना की है। बेश्चि की तमिलशैली सर्वथा निर्दोष मानी जाती है। इनकी मुख्य कृति 'तेम्बावणि' अथवा 'अम्लान हार' है। इसका एक उदाहरण तासो कृत 'जेरुसलम की मुक्तिकथा' का एक अश है जिसमे सेण्ट जोसेफ को नायक बनाया गया है।

मलयालम

तमिल के अति निकट की भाषा मलयालम है। यह मलबार के तट की भाषा है। इसका नामकरण 'मल' शब्द के आधार पर हुआ है।

'मल' शब्द स्थानीय भाषा मे पर्वत के लिए प्रयुक्त होता है। इस 'मल' शब्द मे सम्बन्धवाची प्रत्यय जोडकर यह शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'पर्वतीय प्रदेश'। इस प्रकार यह शब्द भाषा की अपेक्षा प्रदेशविशेष का वाचक है। मलयालम तमिल की ही एक शाखा है। यह नवी शताब्दी मे तमिल से पृथक् होने लगी थी। सत्रहवी शताब्दी मे इस पर ब्राह्मणधर्म का प्रभाव पडा जिसके परिणाम-स्वरूप इसमे सस्कृत के अनेक शब्द आ गये। इसी समय इसे लिखने के लिए वट्टेलुट्टु के स्थान पर ग्रथलिपि अपनायी गयी। तेरहवी शताब्दी से मलयालम क्रियापदो मे जो पुरुषवाची प्रत्यय लगते थे तथा जो द्रविड भाषाओ की एक विशेषता है, बोलचाल की भाषा से लुप्त होने लगे और पन्द्रहवी शताब्दी तक 'लक्कद्वीप' मे रहनेवालो तथा दक्षिणी कनारा के निवासी मोपला लोगो की भाषा को छोडकर ये प्रत्यय प्राय लुप्त ही हो गये। मोपला मुसलमान है और ये हिन्दुओ की पौराणिक पद्यबद्ध गाथाओ को पढना धर्म के विरुद्ध मानते हैं, अतएव इनकी भाषा प-

ब्राह्मण धर्म का प्रभाव नही पडा है। मोपला लोगो की भाषा मे हिन्दुओ की मलयालम की अपेक्षा सस्कृत के बहुत कम शब्द मिलते हैं और जहाँ मलयालम लिखने के लिए अरबी लिपि का प्रयोग नही होता वहाँ ये लोग वट्टे-लुट्टु लिपि का ही प्रयोग करते है।

मलयालम मे प्रचुर साहित्य है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुख्य रूप से

मलयालम

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	५४,२३,३९२
येरव	२,५८७
योग	५४,२५,९७९

यह साहित्य ब्राह्मण-साहित्य है। इसमे केवल एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रथ केरलोत्पत्ति' है। इसकी केवल एक बोली येरव है जो कुर्ग मे प्रचलित है।

कन्नड

कन्नड भाषा-भाषियो का वास्तविक केन्द्र मैसूर है। ऐतिहासिक कर्नाटक

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
बाम्बे प्रसीडेंसी	३०,१९,७३९	२४,०३,४४८
मद्रास प्रेसीडेंसी	१४,६१,४७७	१५,३३,३४४
निजाम राज्य	१४,५१,०४६	१५,३६,९२८
मैसूर	३६,५५,९७६	४२,५७,०९८
कुर्ग	७६,११५	७३,१६८
अन्य स्थान	१,८१०	५,७०,२१८
योग	९६,६६,१६३	१,०३,७४,२०४

प्रदेश का अधिकाश भाग प्लेटो पर पश्चिमी तथा पूर्वी घाटो पर स्थित था। कन्नड भाषा बम्बई प्रेसीडेंसी के दक्षिण-पूर्वी कोने मे बोली जाती है और समुद्रतट पर

इसकी एक पट्टी तुळु और मराठी के बीच चली गयी है। पश्चिमी तथा पूर्वी घाटो के ऊपर यह भाषा पूर्व मे निजाम राज्य तक तथा-उत्तर मे कृष्णा नदी के उस पार तक बोली जाती है। कन्नड भाषा की लिखावट तथा छपाई के लिए जिस लिपि का प्रयोग होता है वह तेलुगु के अति निकट की लिपि है; किन्तु कन्नड का तमिल से अधिक निकट सम्बन्ध है।

लिपि

तमिल की भाँति ही कन्नड लिपि की उत्पत्ति अशोककालीन ब्राह्मी लिपि से हुई है। यह लिपि सातवी शताब्दी की वेंगी तथा चालुक्य लिपि से होते हुए अस्तित्व मे आयी है। कन्नड की प्राचीन लिपि हल-कन्नड है। तेरहवी शताब्दी मे यह लिपि तेलुगु क्षेत्र मे भी प्रचलित थी, किन्तु इसके बाद कन्नड तथा तेलुगु लिपियो मे अन्तर आने लगा और उन्नीसवी शताब्दी मे मुद्रणकला के साथ-साथ यह अन्तर बहुत अधिक हो गया। प्राचीन वट्टे-लुट्टु लिपि मे जितने वर्ण थे उतने ही वर्ण कन्नड तथा तमिल लिपियो मे आज नही है। ये दोनो लिपियाँ मलयालम की भाँति ही अथवा सस्कृत लिखने के लिए अन्य लिपियो की भाँति ही पूर्ण हैं। ये दोनो लिपियाँ वर्तुलाकार हैं। इनका यह रूप इसलिए हो गया है कि ताडपत्रो पर शलाका से सीधे लिखने से वे फट जाते हैं। हल्-कन्नड मे प्राचीन भाषा के नमूने उपलब्ध होते हैं। ये नमूने साहित्यिक तमिल की भाँति ही हैं और ये उतने ही कृत्रिम भी हैं। सोलहवी शताब्दी तक कन्नड भाषा विदेशी शब्दो के सम्मिश्रण से मुक्त थी, किन्तु इसके बाद इसके शब्द-समूह मे सस्कृत के अनेक शब्दो का सम्मिश्रण हुआ। हैदरअली तथा टीपू सुल्तान के शासनकाल मे तो इसमे मैसूर से, उर्दू के अनेक शब्द आये। उत्तर-पश्चिम मे इसमे मराठी से तथा उत्तर-पूर्व मे तेलुगु से भी शब्द आये हैं।

कन्नड साहित्य

कन्नड इसलिए रोचक भाषा है कि प्रोफेसर हुल्श् ने, दूसरी शताब्दी के मिस्र के पत्र पर लिखित ग्रीक नाटक मे इसके कतिपय वाक्यो को ढूँढ निकाला है। तमिल साहित्य की भाँति ही इसके साहित्य के सर्जन मे जैन लोगो ने पर्याप्त योग दिया है। इसका साहित्य विशाल है और कम से कम गत एक सहस्र वर्षों से यह उपलब्ध है। इसके प्राय सभी प्राप्य ग्रथ या तो सस्कृत के अनुवाद है या सस्कृत

के आदर्श पर लिखे गये हैं। अलंकार, छद तथा व्याकरणसवधी ग्रंथो के अतिरिक्त, इसमे जैन, लिगायत शैव तथा वैष्णवो से सम्वन्वित साहित्य भी है। इनमे लिंगायत-सवर्वी ग्रथ अधिक मौलिक हैं। इसमे वासव-पुराण की अनेक कथाएँ आयी हैं, जिसमे वासव की महिमा का गान किया गया है। वासव वस्तुत: शिव के नदी का अवतार था। सोमेश्वर द्वारा रचित एक शतक भी इसमे उपलब्ध है, जिसकी कन्नड मे वड़ी प्रतिष्ठा है। आधुनिक कन्नड मे विशेष रूप से अनेक रससिक्त लोक-गायाएँ मिलती हैं। इनमे से कतिपय का अनुवाद श्री फ्लीट ने अग्रेजी मे किया है। इनमें से एक गाथा 'इनकम टैक्स से अधिपीड़ित होने पर' प्रार्थना है जो अत्यन्त मनोरजक है। इसमे सुन्दर परिहास के साथ प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार धार्मिक व्यापारी अपनी आयु को कम दिखाते है। कन्नड की 'वडग्', 'कुरुम्व' तथा 'गोलरी' तीन वोलियाँ है।

इनमे प्रथम दो वोलियाँ नीलगिरि पर्वत मे वोली जाती है। प्राचीन इतिहासकारो ने 'वडग्' जाति को वर्घर के नाम से अभिहित किया है। ये जो भाषा वोलते हैं वह कन्नड से वहुत मिलती-जुलती है। कुरुम्व अथवा कुरुमवारी, कुरुम्व अथवा

कन्नड की वोलियाँ

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित कन्नड़	९६,६६,१६३
वडग	३०,६५६
कुरुम्व	१०,३९९
गोलरी	३,६१४
योग	९७,१०,८३२

कुरुव जाति की वोली है। यह जाति जंगल में निवास करती है। यह भ्रष्ट कन्नड भाषा है और इसमे तमिल का सम्मिश्रण है। गोलर अथवा गोलकर घुमन्तू जाति के लोग है और होलिया लोग चर्मकार तथा सगीतज्ञ हैं। ये दोनो जातियाँ मध्यप्रदेश से इधर आयी है। ये लोग गोलरी या होलिया वोली वोलते हैं। अन्य गोलर लोग तेलगू भाषा-भाषी हैं। इनके सम्वन्व मे आगे लिखा जायगा।

कोडगु, तुलु, कोरग, वेल्लर

कुर्ग की प्रधान भाषा कोडगु या कूर्गी है, और कन्नड तथा 'तुलु' की मध्यवर्ती ब यी गयी है। कुछ लोग इसे कन्नड की एक बोली बताते हैं।

	सर्वेक्षण	जनगणना १९२१
कोडगु	३७,२१८	३९,९९५
तुलु	४,९१,७२८	५,९२,३२५

कन्नड के ठीक दक्षिण-पश्चिम तुलु का क्षेत्र है और मद्रास के दक्षिण कनारा जिले तक सीमित है। प्राचीन समय मे चन्द्रगिरि एव कल्याणपुरी नदियाँ इसकी सीमाएँ थी और यह भाषा इस सीमा के बाहर कभी भी प्रसरित नही हुई। यह एक साहित्यिक भाषा है परन्तु इसमे साहित्य का अभाव है। इस भाषा मे कन्नड लिपि का व्यवहार होता है। विशेष काल्डवेल ने इसे द्रविड की एक विकसित भाषा बताया है। जितनी मलयालम तमिल से भिन्न है उसकी अपेक्षा यह मलयालम से अधिक भिन्न है और यह कोडगु के अधिक समीप है। इसकी दो बोलियाँ 'कोरग' और 'वेल्लर' हैं।

तोडा और कोट

द्रविड समूह की शेष भाषाएँ 'तोडा' और 'कोट' हैं, ये दोनो नीलगिरि के जगली कबीलो द्वारा बोली जाती हैं। कुछ लोग इन्हें कन्नड की बोली समझते हैं, लेकिन विशप काल्डवेल भिन्न भाषा मानते हैं। तोडा का अध्ययन विशेष रूप

	सर्वेक्षण	जनगणना १९२१
तोडा	७३६	६६३
कोट	१,२०१	१,१९२

से हुआ है, इसका मुख्य कारण यह है कि इसके बोलनेवाले उटकमण्ड के निकट रहते हैं। कोट एक अन्य कबीला है जो अपने पेशे एव सामाजिक स्तर मे तोड लोगो से निम्न है। तोड और कोट एक दूसरे की भाषा समझ लेते हैं। इन दोनो के

बोलनेवालो की संख्या थोड़ी है और ये दोनो भाषाएँ इसलिए अब तक जीवित है कि इन दोनो जातियो के लोग बहुत एकान्त मे रहते है।

गोंडी

मध्यवर्ती समूह की भाषाएँ द्रविड़ समूह से आगे उत्तर की ओर बोली जाती हैं। इनमे से अधिकाश मध्यप्रदेश एव बरार मे बोली जाती हैं। लेकिन इनमे से कतिपय भाषाएँ उडीसा एव छोटा नागपुर मे प्रचलित हैं। इनमे से एक भाषा माल्तो तो बहुत उत्तर की ओर राजमहल पर्वतमाला तक गगा के तट तक प्रचलित

मध्यवर्ती समूह

	सर्वेक्षण	जनगणना १९२१
गोंडी	१३,२२,१९०	१६,१६,९११
कोलामी	२३,२९५	२३,९८९
कन्धी	३,१८,५९२	४,८३,६६८
कुरुख	५,०३,९८०	८,६५,७२२
मल्हर	.	३४४
माल्तो	१२,८०१	६५,९६४
योग	२१,८०,८५८	३०,५६,५९८

है। इसके बोलनेवाले यत्किचित् पहाडी जाति के हैं। इनमे सबसे महत्वपूर्ण गोंडी बोली है जो मुख्य रूप से मध्यप्रदेश मे बोली जाती हैं, किन्तु इसके बोलनेवाले उडीसा, उत्तर-पूर्वी मद्रास, निजाम राज्य, बरार तथा मध्य भारत के पडोस के क्षेत्रो मे भी मिलते हैं। सर्वेक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि इसका सम्बन्ध तमिल तथा कन्नड भाषाओ से है और अपने पडोस की तेलुगु से भी यह सम्बन्धित है। गोंडी शब्द से गोंड लोगों की भाषा से तात्पर्य है; किन्तु चूंकि अनेक गोंडो ने अपनी मातृभाषा का परित्याग कर अपने प्रदेश की आर्यभाषा को अपना लिया है अतएव केवल गोंडी कहने से किस भाषा का बोध होता है यह कहना कठिन है, उदाहरण-स्वरूप बघेलखण्ड मे कई हजार गोंड बसे हुए हैं। सर्वेक्षण मे इनकी भाषा गोंडी दी हुई है, किन्तु परीक्षण से विदित हुआ कि ये एक प्रकार की टूटी-फूटी बघेली बोलते हैं।

ओझी

इसी प्रकार छिन्दवाडा के गोड ओझा लोग यद्यपि गोड प्रदेश के बीच मे निवास करते हैं, तथापि वे ओझी बोली बोलते है, जो कि बघेली पर आधारित मिश्रित वोली है। अब जब तक गोडी नाम की सभी भाषाओ का नियमानुकूल सर्वेक्षण नही हो पाता तब तक समग्र रूप से गोडी भाषा के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कठिन है। सर्वेक्षण के लिए इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री एकत्र की गयी और इस समय के लिए मोटे तौर पर इस सामग्री के आधार पर जो परिणाम निकले है उन्हे सत्य माना जा सकता है, लेकिन इसके साथ ही यह भी सत्य है कि गोड लोगो की टुकडियाँ कई स्थानो पर बिखरी हुई है और उनकी बोलियो की पूर्ण परीक्षा करने का अवसर नही मिला है। इसमे कोई सदेह नही कि गोड नाम की एक भाषा है। यह द्रविड परिवार की है और इसके बोलनेवालो की सख्या कम से कम सवा दस लाख है। इधर इसका पर्याप्त अध्ययन हुआ है और श्री शेनेव ट्रेंच (Chenevix Trench) ने इसका सुन्दर व्याकरण, शब्दसूची एव पठनीय सामग्री भी उपस्थित की है। इस भाषा की कई बोलियाँ हैं। इनमे से मुख्य बोलियो को यहाँ नीचे दिया गया है। 'गट्टु' अथवा गोत्ते (वास्तव मे गट्टु ही ठीक नाम है)

गोडी बोली

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित एव अनिर्णीत	११,४७,३०३
गट्टु	२,०३३
कोइ	५१,१२७
मडिआ	१,०४,३४०
पर्जी	१७,३८७
योग	१३,२२,१९०

तथा 'कोइ' या कोया, चाँदा, विजगापट्टम तथा गोदावरी जिले मे प्रचलित हैं। कोइ का प्रसार बस्तर तथा निजाम राज्य मे भी है। परिनिष्ठित गोडी तथा इन बोलियो मे नाम मात्र का अन्तर है। प्राय सभी गोड अपने को कोइ नाम से अभिहित करते हैं। माडी या मडिया तथा पर्जी बोलियाँ भी बस्तर राज्य मे प्रचलित है। ये नाम कबीलो के हैं और इनकी भाषा मे कोई अन्तर नही है। इनके सम्बन्ध मे

जो विवरण प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि इनमे कोई भी नाम वास्तव मे बोली का नही है। स्थानीय उच्चारणसम्बन्धी विशेपताओ को छोडकर यथार्यत. गोडी का रूप सर्वत्र समान है और इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि ज्यो-ज्यो हम पूर्व तथा दक्षिण की ओर बढते हैं त्यों त्यो इसमे पडोस की तेलुगु भाषा का सम्मिश्रण होने लगता है। गोडी की कोई अपनी लिपि नही है। इसमे साहित्य का भी अभाव है किन्तु बाइबिल का एक भाग इसमें अनूदित किया गया है। मिस्टर ट्रेन्च ने इसमे जो पुस्तक तैयार की है उसमे यहाँ की परपराओ एव लोककथाओ को प्रस्तुत किया है।

कोलामी

कोलामी लोग पूर्वी बरार तथा मध्यप्रदेश के वर्धा जिले के आदिवासी हैं। प्राय· गोडो के अन्तर्गत उनका वर्गीकरण किया जाता है किन्तु देखने मे गोड तथा उनमे अन्तर है और ये लोग तथा गोड लोग अपने को एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं बतलाते। कुछ बातो मे कोलामी तेलुगु से मिलती-जुलती है किन्तु अन्य बातो मे यह कन्नड तथा उससे सम्बन्धित अन्य बोलियो से भी मिलती-जुलती है। नीलगिरि की तोड भाषा और इस भाषा मे कुछ समता है।

कोलाम लोग भाषाविज्ञान की दृष्टि से या तो इन द्रविड कबीलो के अवशेष है जो कि प्रमुख द्रविड भाषाओ का विकास नही कर सके, या उस कबीले के

कोलामी बोली

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	२३,१००
वासिम की बोली	?
नैकी	१९५
योग	२३,२९५

जो कि आरभ मे द्रविड भाषा नही बोलते थे। छोटे कबीलो द्वारा बोली जानेवाली दो और बोलियाँ हैं जो कि कोलामी से अति निकट हैं और जिन्हे व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस भाषा की बोली कह सकते हैं। बरार के वासिम जिले मे लगभग तीन

या चार सौ भील लोग है। इनमे से अधिकाश लोग भीली भाषा बोलते हैं, जिसका वर्णन 'भारतीय आर्य भाषा' शीर्षक के अन्दर किया जायगा। लेकिन उसी जिले के पसाद तालुके मे कुछ भील लोग हैं जो कि कोलामी के विलकुल समान ही भाषा वोलते हैं। ये लोग सचमुच भील हैं या नही, इस वात का निर्णय हम नृ-विज्ञानियो पर छोडते है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे स्थानीय लोगो द्वारा भील कहे जाते हे और अन्य भाषाओ की तरह स्थानीय लोग इसे भीली भाषा कहते हैं। वासिम के कितने भील लोग इस विशेष भाषा को बोलते हैं, यह बात अज्ञात है, क्योकि सर्वेक्षण मे जिले के अन्य भीलो की सख्या मे ही इनकी भी सख्या सम्मिलित है। जब तक भाषाओ के नमूने नही मिले थे तव तक इस द्रविड बोली के अस्तित्व का सर्वेक्षण को पता नही था।

नैकी

दूसरी बोली नैकी है जो कि चान्दा जिले के कुछ दर्वे गोडो की भाषा है। यह भाषा समाप्तप्राय है। यह गोडी से भिन्न लेकिन कोलामी से कई मुख्य बातो मे मिलती है। नैकी नाम केवल इसी बोली तक सीमित नही है। मध्य-भारत एव वरार मे यह बजारी के पर्य्यायवाची के रूप मे प्रयुक्त होता है और बम्बई प्रदेश मे एक भील बोली का नाम भी 'नैंकडी' है। ये दोनो भारतीय आर्य भाषाएँ है।

कन्धी

कन्धी भाषा के बोलनेवाले लोग तो अपने को एव अपनी भाषा को कुई (इस शब्द से ऊपर के कोइ शब्द को मिलाइए) कहते हैं, लेकिन इसे उडिया लोग कन्धी एव यूरोपवाले खोन्ड नाम से पुकारते हैं। यह उडीसा एव उसके पडोस के खोन्ड लोगो की भाषा है जिन्हे नृ-विज्ञानी मनुष्यबलि-कर्ता के रूप मे जानते हैं। यह भाषा लिखित रूप मे नही है और इसमे साहित्य भी नही है, लेकिन बाइविल का कुछ भाग इसमे अनूदित किया गया है। यह अनुवाद उडिया लिपि में छपा है। यह भाषा गोडी की अपेक्षा तेलुगु के अति निकट है और इसकी क्रियाओ के रूप भी सरल हैं जो कि द्रविड़ भाषाओ की एक विशेषता है। कन्धी केवल उडीसा मे ही नही बोली जाती अपितु मद्रास के गजाम तथा विजगापट्टम जिले, एव इसके पडोस मे भी इसके बोलनेवाले हैं, किन्तु मद्रास से इस सर्वेक्षण का सम्बन्ध नही

है; अतएव इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नही है कि उधर की बोली की क्या कुछ विशेषताएँ भी हैं। इस सर्वेक्षण मे आयी हुई कन्धी की दो बोलियाँ हैं, एक पूर्वी जो कि मद्रास के गुटूर तथा उड़ीसा के समीपवर्ती भाग मे बोली जाती है और दूसरी पश्चिमी जो कि चिन्न-किमेडी की बोली है।

कुरुख

छोटा नागपुर की पहाड़ियो के उत्तर एव उसके दक्षिण मे सम्बलपुर एव रायगढ मे अनेक मुण्डा भाषाओ के बीच फैली हुई, हम द्रविड़ कुरुख भाषा को पाते हैं जो बहुधा ओराओ के नाम से भी प्रसिद्ध है। इससे आगे और उत्तर गगा के किनारे इससे अति सम्बन्धित मान्तो भाषा हमे मिलती है जिसे राजमहल के मालेर लोग बोलते हैं। अपनी परपराओ के अनुसार इन दोनो भाषाओ के बोलनेवालो के पूर्वज मूलत कर्नाटक मे रहते थे, जहाँ से उत्तर मे वे लोग नर्मदा तक आये और सोन नदी के किनारे बिहार मे बस गये। मुसलमानो द्वारा यहाँ से खदेड़े जाने पर इस जाति के दो समूह हो गये। इनमे से एक गगा के बहाव के साथ आगे बढ़ते हुए अन्त मे राजमहल के पर्वतो में जा बसा। दूसरा समूह सोन नदी के ऊपरी भाग की ओर बढा और इसने छोटा नागपुर अधित्यका (प्लेटो) के उत्तर-पश्चिमी भाग को अधिकृत कर लिया।

इनमे से दूसरे समूह के लोग कुरुख लोगो के पूर्वज, एव प्रथम समूह के लोग मालेर लोगो के पुरखे थे। यह बात इन दोनो बोलियो के विवरण से सिद्ध हो जाती है और इनसे यह भी पता चलता है कि गोडी की भाँति ही ये बोलियाँ भी उसी मूल द्रविड़ भाषा से प्रसूत हुई हैं जिससे तमिल और कन्नड़ भाषाएँ उद्भूत हुई हैं।

बेर्ग ओराओं

मध्य प्रदेश मे कुरुख भाषा प्रायः 'किसान' अर्थात् भूमि के जोतनेवालो या 'कोडा' अर्थात् भूमि गोडनेवालो के नाम से अभिहित की जाती है। कोडा नाम से भ्रमवश उस कोडा भाषा को न समझना चाहिए जो छोटा नागपुर मे कभी-कभी मुण्डा-खेरवारी की एक बोली कही जाती है। कुरुख मे साहित्य का अभाव है और बाइबिल के कुछ भागो के अनुवाद तथा मिशनरियो द्वारा लिखित कतिपय पुस्तिकाओं के अतिरिक्त इसमे कुछ भी नही है। इसकी कोई बोली भी नही

है, किन्तु इसका एक भ्रष्ट रूप गंगपुर रियासत में प्रचलित है, इसे बेर्ग-ओराओ कहते हैं।

होरोलिआ झगर

राँची शहर के आसपास कुरुख लोग अपनी मातृभाषा छोड चुके और वे एक भ्रष्ट मुण्डारी भाषा 'होरोलिया'-झगर' का प्रयोग करते हैं ।

मल्हर

जब द्रविड समूह का सर्वेक्षण समाप्त हो गया, तो सर्वप्रथम सन् १९०१ की जनगणना की रिपोर्ट मे, छोटा नागपुर मे, एक मल्हर नाम की भाषा का उल्लेख हुआ। बेर्ग ओराओ की भाँति ही इसके नमूने को देखने से ऐसा ही जान पडता है कि यह एक प्रकार की भ्रष्ट कुरुख भाषा है।

माल्तो

इन मध्यवर्ती भाषाओ मे से अतिम भाषा माल्तो या मालेर है। इसके बोलनेवाले मालेर जाति के लोग हैं जो गगा के पास राजमहल पर्वतमाला के निवासी हैं। ऊपर कुरुख के अन्तर्गत इसकी परम्परा एव तमिल एव कन्नड से इसके सम्वन्ध के विषय मे कहा जा चुका है ।

व्याकरण मे यह द्रविड भाषा से वहुत सम्वन्वित है, किन्तु इसके शब्दसमूह मे पडोस की भारतीय आर्यभाषाओ के अनेक शब्द आ गये। ऐसा प्रतीत होता है कि पडोसी सथाली भाषा से भी इसमे शव्द आ गये हैं। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि राजमहल की पहाडियो मे बसनेवाले आर्यभाषा-भाषी लोगो की भ्रष्ट वगाली भाषा को भी माल्तो कहा जाता है। मालेर लोग अपने को सौरिया भी कहते हैं और यूरोपीय लोग उनकी भाषा को 'राजमहाली' भी कहते हैं। बाइविल के कुछ भाग के अनुवाद के अतिरिक्त माल्तो मे कोई साहित्य नही है ।

आन्ध्र भाषा तेलुगु

आन्ध्र समूह वस्तुत बोलियो का एक समूह है क्योकि इसकी एक ही भाषा तेलुगु है। आधुनिक भाषा के रूप मे यह विस्तृत क्षेत्र मे फैली हुई है और इसके

बोलनेवालों की सख्या तमिल से अधिक है। उत्तर मे यह मध्यप्रदेश के चांदा जिले तक पहुँची हुई है और समुद्र के किनारे बगाल की खाडी से लेकर 'चिकाकोले' तक प्रसरित है। यहाँ पर यह भारतीय आर्यभाषा उडिया से मिलती है। पश्चिम मे यह निजाम राज्य के आधे भाग मे फैली हुई है। इस प्रकार से अधिकृत भाग प्राचीन सस्कृत भूगोल के अनुसार आन्ध्र के अन्तर्गत आता है और इसे मुसलमान लोग तेलिंगाना कहते हैं। इस भाषा के बोलनेवाले मैसूर के स्वतन्त्र राज्य तथा तमिल के क्षेत्र मे भी मिलते है। केवल पश्चिमी किनारे पर उनका सर्वथा अभाव है। द्रविड भाषाओ मे सस्कृत तथा समृद्ध शब्दसमूह की दृष्टि से तमिल के बाद ही तेलुगु अथवा तेलिंग भाषा का स्थान है। यह तमिल की अपेक्षा अधिक श्रुतिमधुर है। इसका प्रत्येक शब्द स्वरान्त होता है और अपने माधुर्य के कारण यह पूर्व की इटालीय भाषा कहलाती है।

आन्ध्र-भाषा—तेलुगु बोली

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित एव अनिर्णीत	१,९७,३५,८४०
रोमटाउ	३,८२७
सालेवारी	३,६६०
गोलरी	२५
बेरडी	१,२५०
वडरी	२७,०९९
कामाठी	१२,२००
दासरी	१
योग	१,९७,८३,९०१

पुर्तगाली मे इसका नाम 'जेन्टू' भाषा भी था। यह शब्द पुर्तगाली जेन्टाइल शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'प्रतिमापूजक', किन्तु आधुनिक लेखक अब इस भाषा के लिए इस नाम का व्यवहार नहीं करते।

साहित्य

इसकी अपनी लिपि है जो प्राय वही है जो कन्नड की है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कन्नड भाषा का विवरण देते समय लिखा जा चुका है। इसके शब्दसमूह

मे सस्कृत के शब्द स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं और इसका साहित्य समृद्ध है। इसका प्राचीनतम साहित्य बारहवी शताब्दी तक का उपलब्ध है। इसी के अन्तर्गत नन्नप्पा-कृत 'महाभारत' भी आता है। किन्तु इसमे इसके महत्वपूर्ण ग्रथो की रचना चौदहवी तथा उसके बाद की शताब्दियो मे हुई। सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे विजयनगर के कृष्णराय का दरबार विद्या के लिए प्रसिद्ध था और यहाँ साहित्य की विभिन्न शाखाएँ विकसित हुईं। इसका राजकवि 'अल्लसानी पेद्दन' था। इसे तेलुगु कविता का 'पितामह' कहते हैं। इसने तेलुगु भाषा मे मौलिक रचनाएँ की जब कि अन्य लेखक केवल सस्कृत के अनुवादक मात्र थे। इसकी सर्वोत्कृष्ट कृति 'स्वरोचिष-मनुचरित' है, जिसका आधार मार्कण्डेय पुराण की एक कथा है। स्वय कृष्णराय 'आमुक्तमाल्यद' का लेखक बतलाया जाता है। उसके दरबार का एक अन्य कवि 'नन्दी तिम्मन' था। उसने 'पारिजात अपहरण' की रचना की थी। 'सूरन' ने जिसका समय १५६० है 'कलापूर्णोदय' की रचना की। इसमे नलकूबर तथा कलभाषिणी की प्रेमकथा है। इसने अन्य ग्रथो की भी रचना की है। तेलुगु का सबसे प्रसिद्ध लेखक तथा कवि 'वेमन' था। इसका समय सोलहवी शताब्दी है। यह वास्तव मे जनकवि है। इसने कविता मे बोलचाल की भाषा अपनायी। इसके परिहासपूर्ण काव्य मे जातिवाद तथा स्त्रियो पर व्यग्य मिलते हैं। तेलुगु के लेखको मे यह सर्वाधिक प्रिय है और इसके नाम की अनेक कहावतें तथा सूक्तियाँ प्रचलित हैं।

बोलियाँ

तेलुगु भाषा पूर्णतया इस सर्वेक्षण क्षेत्र के भीतर न आ सकी और इसकी बोलियो के सम्बन्ध मे कोई सूचना न प्राप्त हो सकी। जहाँ तक मैं पता लगा सका हूँ, वास्तव मे इसकी अपनी कोई बोली नही है। हाँ, यदि बोली शब्द से हम कबीलो द्वारा परिनिष्ठित भाषा के भ्रष्ट किये हुए रूप को लें, तो बात ही दूसरी है।

कोमृटाउ, सालेवारी, गोलरी

ऐसी भ्रष्ट बोलियो मे कोमृटाउ, सालेवारी और गोलरी को लिया जा सकता है। इन सभी बोलियो का नामोल्लेख मध्यप्रदेश के चाँदा जिले से आया है। कोमृटाउ, तेलुगु का वह रूप है जिसे कोम्टी अथवा दुकानदार लोग बोलते है। इसी प्रकार सालेवारी को सालेवार अथवा बुनकर लोग बोलते हैं और गोलरी

को चाँदा जिले के गोलर लोग बोलते हैं। गोलर लोग एक प्रकार की घुमन्तू जाति के लोग हैं, जो अपने पशुओ को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते रहते हैं। अन्य स्थानो मे गोलर लोग कन्नड की एक बोली बोलते हैं।

बेरडी

बेरडी तेलुगु की वह भाषा है जिसे बम्बई प्रदेश के बेलगाँव के बेराड लोग बोलते है। ये लोग कुख्यात चोर हैं, किन्तु गाँव मे विश्वस्त चौकीदार भी हैं और ये गाँवो की अपने जाति के भयानक चोरो से रक्षा भी करते हैं। ये साधारण तेलुगु बोलते हैं और इसमे कन्नड़ भाषा का किञ्चित् सम्मिश्रण भी रहता है।

वडारी, कामाठी, दासरी

वडारी बोली को बम्बई प्रदेश की पत्थर खोदनेवाली घुमन्तू जातियाँ बोलती हैं। यह गँवार तेलुगु बोली है। इसी प्रकार की कामाठी बोली को बम्बई तथा उसके प्रदेश मे ईंटो का काम करनेवाले लोग बोलते है और दासरी बोली को दासरू लोग बोलते-हैं। दासरू लोग बेलगाँव जिले के भिखमगे हैं जिनमे से कुछ कन्नडभाषी हैं।

लघाडी, भरिया

यहाँ लघाडी तथा भरिया, केवल दो बोलियो का नामोल्लेख भर किया जाता है। यह मध्यप्रदेश की मिश्रित बोलियाँ हैं। यह उन लोगो की बोलियाँ हैं जो पहले गोंडी बोला करते थे। अब ये आर्य-भाषी बन गये हैं, और एक प्रकार की भ्रष्ट हिन्दी बोलते हैं।

ब्राहूई

द्रविड भाषाओ के क्षेत्र से बहुत दूर धुर उत्तर-पश्चिम की ओर जाने पर पूर्वी बलूचिस्तान के बीच ब्राहूई भाषा मिलती है। इसके बोलनेवाले औसत मझोले कद से कुछ छोटे होते हैं। उनका मुंह अण्डे के आकर का, आँखे गोल तथा नाक[1]

१. देखो, ब्रेकृत 'ब्राहूई लेंग्वेज्' पृ० ४।

ऊँची उठी हुई एव पतली होती है। नृ-विज्ञान की दृष्टि से उनकी शारीरिक विशेषताएँ द्रविड लोगो से बिलकुल नही मिलती, किन्तु उनकी भाषा मूलत द्रविड है, यद्यपि इसके शब्दसमूह मे पडोस की फारसी, बलोची तथा सिन्धी भाषाओ के अनेक शब्द आ गये हैं। द्रविड़ भाषाओ के सर्वेक्षण के प्रकाशन के बाद श्री 'ब्रे' ने ब्राहूई लोगो तथा उनकी भाषा के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है उससे इनके सम्बन्ध मे जो कुछ विवाद है उसका अन्त हो गया है। ब्राहूई लोग पशुचारण-जीवन बिताते हैं। इनकी जीविका इनके पशु हैं। ये प्राय विनम्र, भद्र तथा सत्कारशील होते हैं। ये लोग अन्य कबीलो के साथ भी विवाह-सम्बन्ध कर लेते है और इस प्रकार के सम्मिश्रण के कारण प्रत्येक ब्राहूई द्विभाषी होता है। श्री 'ब्रे' के अनुसार कलात के खान अपनी माता से ब्राहूई भाषा तथा पिता और भाइयो से बलूची भाषा मे सम्भाषण करते थे। ब्राहूई लोगो के कुछ कबीले बिलकुल ब्राहूई भाषा नही बोल पाते। इस प्रकार मीरवारी लोग यद्यपि यथार्थत. ब्राहूई है किन्तु इनमे से कोई भी व्यक्ति बलोची के अतिरिक्त और भाषा नही बोलता। ब्राहूई मे लिखित साहित्य का अभाव है। लिखने मे प्राय फारसी लिपि का प्रयोग होता है, किन्तु यूरोपीय लोग प्रायः रोमन लिपि को ही पसन्द करते है।

आठवाँ अध्याय

भारोपीय-परिवार

आर्य शाखा

मूल स्थान

आज हम जिस जनसमूहो को भारोपीय के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं उस परिवार का मूल स्थान, जहाँ से वह यूरोप तथा पश्चिमी-दक्षिणी एशिया के कुछ भागो मे फैला, वर्षों तक विवाद का विषय वना रहा। हम अग्रेज लोग स्वर्गीय प्रोफेसर मैक्समूलर द्वारा सावधानी से व्यक्त किये गये इस मत से प्राय. अधिक परिचित हैं कि वह स्थान एशिया मे कही था। यद्यपि उन्होने हमे इसके लिए वार-वार सचेत किया था कि भारोपीय भाषाओ के किसी भी परिवार के अस्तित्व से हमे यह परिणाम नही निकालना चाहिए कि कोई भारोपीय जाति भी वर्तमान थी, तथापि इस सम्वन्ध मे अन्वेषण करनेवाले विद्वानो का ध्यान इस ओर नही गया। आरम्भिक अनुसन्धानकर्त्ताओ के निष्कर्ष प्रधानतया भाषाविज्ञान पर ही आधारित थे और उस समय प्राय सभी इस वात से सहमत थे कि मूल स्थान की खोज के लिए काकेशस अथवा हिन्दूकुश की ओर जाना चाहिए। तव से अव तक इस समस्या को सुलझाने मे अन्य विद्वान् भी प्रवृत्त हैं और समय-समय पर इतिहास, नृ-विज्ञान, ज्योतिष, भूगोल तथा भूतत्त्वशास्त्र आदि से भी सहायता ली गयी है। कुछ समय तक इस कार्य के लिए भाषाविज्ञान को असफल माना गया और वाद की विचार-धारा से, जो नृ-विज्ञान पर आधारित थी, इस परिणाम पर पहुँचा गया कि उस स्थान की खोज के लिए पश्चिमोत्तर यूरोप की ओर अग्रसर होना आवश्यक है। इसके और वाद ज्योतिषशास्त्र का सहारा लेकर इसे आर्कटिक प्रदेश मे माना गया किन्तु कतिपय देशभक्त भारतीय विद्वनो ने तो अपनी मातृभूमि को ही भारोपीय परि-वार का मूल निवासस्थान माना। इसके पश्चात् इस सम्वन्ध मे जो अनुमान किये गये उन्होने एक वार पुन हमे पुराने सिद्धान्त पर पहुँचा दिया और हम आर्मेनिया

तथा आक्सस और जक्सरटीज नदियो के आसपास के भू-भाग को वह स्थान मानने लगे। पिछले बीस वर्षों तक प्रोफेसर ओहो श्रेडर का मत प्राय सबको स्वीकृत रहा। उनके अनुसार यह स्थान, सम्भवत दक्षिणी रूस के घास के मैदान में, एशिया तथा यूरोप की सीमा पर था। वस्तुत इस स्थान पर रहनेवाले जन-समूह की प्राचीनतम भाषा ही अन्ततोगत्वा विविध भारोपीय भाषाओ के रूप मे विकसित हुई। ये लोग यायावर थे। उनमे से कुछ लोगो ने कृषि-कर्म को अपनाया और यही से वे पूर्व तथा पश्चिम की ओर गये। वाद मे, मूल स्थान के सम्वन्ध मे, एक दूसरा सिद्धान्त वनस्पतियो तथा पशुओ के वितरण के आधार पर निर्धारित किया गया। इन वनस्पतियो और पशुओ के नाम, आदिम काल से, भूतत्त्वशास्त्र के इतिहास मे तथा एशियामाइनर की नवीन खोज रिपोर्टों मे वर्तमान है। कैम्ब्रिज हिस्ट्री[1] (कैम्ब्रिज से प्रकाशित होनेवाले भारत के इतिहास) मे, सर्वप्रथम पी० जाइल्स ने इसे सामने रखा। उनके अनुसार वह केन्द्र-स्थान जहाँ से भारोपीय लोग फैले, निश्चित रूप से, प्रो० श्रेडर के प्रस्तावित स्थान से दूर, उत्तर-पश्चिम मे कही रहा होगा। सम्भवत वह स्थान एक ऐसा क्षेत्र रहा होगा जो साधारण-तया आधुनिक आस्ट्रिया-हगरी के सदृश होगा। अन्ततोगत्वा स्वर्गीय जे० डी० मार्गन ने अपनी एक पुस्तक मे, जव कि यह ग्रथ यत्रस्थ था, साइवेरिया प्रदेश को आर्यो का मूल स्थान माना, यद्यपि गौण रूप मे आस्ट्रिया-हगरी को भी यह स्थान स्वीकार करने मे आपत्ति न थी।

कतम् (केण्टुम्) तथा शतम् (सतेम) भाषा-भाषी

भारोपीय भाषा-भाषियो का प्रथम महत्वपूर्ण वर्गीकरण कतम् तथा शतम् समूहो मे हुआ। अधिकाश[2] कतम् भाषा-भाषी वस्तुत पश्चिम की ओर बढे। आगे चलकर इनकी वोलचाल की भाषा से ही ग्रीक, लैटिन, केल्टिक तथा ट्यूटनिक अथवा जर्मेनिक आदि भाषाएँ प्रादुर्भूत हुई। वस्तुत लैटिन केन्टुम् सस्कृत शतम् (हिन्दी—सौ) शव्द का ही प्रतिरूप है। यहाँ शतम् भाषा वोलनेवालो से ही

१. खण्ड १, पृष्ठ ६५ तथा उसके आगे।

२. सभी नहीं। केण्टुम समूह की प्राचीन भाषा के अवशेष हाल ही मे मध्य-एशिया के रेगिस्तानी प्रदेश मे मिले हैं।

हमारा विशेष प्रयोजन है। ये मुख्यत. पूर्व मे ही बसे। इन्ही की भाषा से वे भाषाएँ विकसित हुई जिन्हे हम आर्य, आर्मेनीय, फ्रिजीय, ग्रीक, आल्बनीय तथा बाल्तो स्लोवेनीय नाम से पुकारते हैं। यहाँ हमे केवल इन्हीं की भाषाओं के सम्बन्ध मे विचार करना है।

आर्य शब्द का अर्थ

यह दुःख की बात है कि आर्य शब्द को प्राय अंग्रेज विद्वान् व्यापक रूप मे भारोपीय के अर्थ मे प्रयुक्त करते हैं। आर्य वस्तुत शतम् समूह के अन्तर्गत एक विशेष वर्ग है। इस वर्ग के लोग अपने को आर्य नाम से सबोधित करते थे। इस पुस्तक मे इसी विशेष अर्थ मे इसका प्रयोग किया जायगा और अन्य शतम् भाषाएँ इसके अन्तर्गत नही आयेंगी। इसी प्रकार इग्लैण्ड मे कभी-कभी अंग्रेजी, लैटिन तथा जर्मन को 'आर्यभाषा' नाम से अभिहित किया जाता है, किन्तु इस ग्रंथ मे इनके लिए इस नाम का प्रयोग न होगा। मूलत 'आर्य' शब्द आर्यभाषा का ही है और आर्यों ने अपने लिए ही इस शब्द का प्रयोग भी किया है। इसके जो अर्थ दिये गये हैं उनमे से एक अर्थ उच्चवर्गीय तथा अभिजात भी है। भारत तथा ईरान के लोग भारोपीय वश के हैं अतएव उन्हे अपने को आर्य कहने का पूर्ण अधिकार है, किन्तु हम अंग्रेजो को नही।[1]

१. समग्र भाषा-परिवार को व्यक्त करने के लिए ऊपर मैंने इंडो-यूरोपियन (भारोपीय) नाम दिया है, किन्तु यह सन्तोषजनक नहीं है। इसके लिए 'इंडो-जर्मेनिक', 'इंडो-ट्यूटानिक', 'इंडो-केल्टिक', 'इडो क्लासिक', 'जैफेटिक', 'मेडि-टरेनियन', 'आर्य' तथा 'विरॉस' आदि नाम प्रस्तावित हुए हैं और इनमे भी 'इंडो-जर्मेनिक' का प्रयोग विशेष रूप से होता है। इन सभी नामो के पक्ष-विपक्ष मे कुछ न कुछ कहा जा सकता है। मैंने इनमे से 'इडो यूरोपियन' नाम इसलिए चुना है कि यह सबसे कम आपत्तिजनक है। कतिपय प्रसिद्ध विद्वानो के अनुसार 'आर्य' शब्द का सम्बन्ध समस्त भारोपीय भाषाओ से है और यूरोप की केल्टिक भाषाओं, विशेषत पुरानी आयरिश मे यह 'आयर' (Aire) अर्थात् राजकुमार के अर्थ मे विद्यमान है। यह ठीक भी हो सकता है किन्तु इस बात के लिए विश्वसनीय प्रमाण

आर्यों का संचरण

प्रोफेसर श्रेडर के सिद्धान्तानुसार आर्य लोग, किसी अज्ञात युग मे, रूस के घास के मैदानवाले प्रदेश से, सम्भवत कैस्पियन सागर के उत्तर स्थित किसी मार्ग द्वारा आगे बढे। वहाँ से सयुक्त जनसमूह के रूप मे तुर्किस्तान से होते हुए वे अन्तत. वर्तमान कोहकन्द और बदखशा के आस-पास जा पहुँचे। यहाँ वे तितर-वितर हो गये। इनमे से एक दल ने काबुल की घाटी से होकर भारत मे प्रवेश किया तथा दूसरा दल पश्चिम से होता हुआ उस प्रदेश की ओर अग्रसर हुआ जो वर्तमान युग मे मर्व और पूर्वी फारस कहलाता है। इस मार्ग के स्वीकार करने मे बहुत बडी कठिनाई हैं। प्रो० गाइल्स ने कैस्पियन सागर के उत्तरी प्रदेश के भूतत्त्वशास्त्र के इतिहास की ओर सकेत करते हुए इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित विचार उपस्थित किया है—

"कैस्पियन एक ऐसा अन्तर्देशीय समुद्र है जो धीरे-धीरे अधिक छिछला एव सकुचित होता जा रहा है। यदि हम यह मान भी लें कि आज की अपेक्षा वह पहले थोडा ही अधिक विस्तृत रहा होगा, तब भी इसके तथा अरल सागर के बीच से होता हुआ जो मार्ग तुर्किस्तान को जाता होगा, वह उस्ट उर्ट के भयानक रेगिस्तान से होकर ही जाता होगा। प्राचीन युग के लोगो के लिए अपने परिवार तथा पशुओ के झुडो के साथ इस रेगिस्तान को पार करना, उस समय, असम्भव ही रहा होगा। किन्तु यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि अधिक समय नही हुआ जब कैस्पियन सागर आज की अपेक्षा उत्तर मे अधिक विस्तृत था। इसके आगे दलदल तथा रेतीली भूमि का क्षेत्र था। प्राचीन काल मे आर्यों के देशान्तर गमन के समय तो इस दलदल तथा रेगिस्तान क्षेत्र का विस्तार पूर्व मे बहुत दूर तक था और अरल सागर तथा इसके आगे का निचला मैदान भी इसके अन्तर्गत था। इस प्रकार प्राचीन युग मे इस मार्ग से तुर्किस्तान मे प्रवेश करना सरल न रहा होगा। सच बात तो यह है कि इस सम्बन्ध मे कोई भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नही है जिससे यह

नहीं हैं कि भारोपीय भाषा भाषियो के लिए कभी भी 'आर्य' अथवा पी० गाइल्स द्वारा व्यवहृत 'विरास' शब्द का प्रयोग किया गया हो। इसके सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि यह सुविधाजनक शब्द है और इसीलिए विस्तृत अर्थ मे यह भारोपीय के पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त होता है।

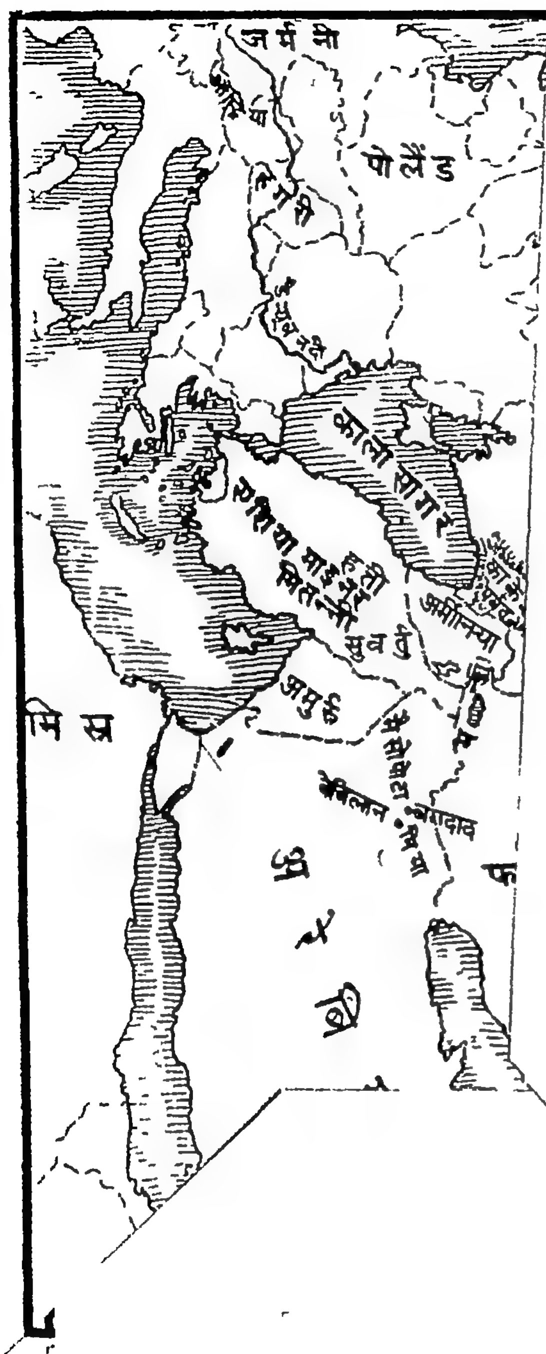
सिद्ध किया जा सके कि ईरानियो, अफगानो तथा हिन्दुओ के पूर्वज तुर्किस्तान के मार्ग से होकर गुजरे भी थे।"

दूसरी ओर यदि हम यह स्वीकार कर ले कि आर्यों का मुख्य अथवा गौण प्रसारकेन्द्र (देशान्तर-गमन-केन्द्र) आस्ट्रिया-हगरी था, तो यहाँ से पूर्व की ओर का स्वाभाविक मार्ग, जिधर से एक के बाद दूसरे समूह गये होंगे, एशिया माइनरस्थित दानियाल के दर्रे[1] से होकर रहा होगा। इसी प्रकार फारस की ओर जानेवाला मार्ग उत्तरी मेसोपोटेमिया से होकर रहा होगा। इस प्रकार के देशान्तरगमन का कार्य केवल एक समूह द्वारा सम्पन्न न हुआ होगा, अपितु एक के बाद दूसरे दल बराबर आते रहे होगे और "विरास" लोगो को (जो प्रोफेसर गाइल्स के अनुसार भारोपीय भाषा बोलने वालो के मूल पुरुष थे) विजय प्राप्त करने के लिए इधर के आदि-वासियो से घोर सघर्ष करना पडा होगा। प्रो० गाइल्स के अनुसार आरम्भिक दलो का आगमन सम्भवत २५०० वर्ष ई० पू० हुआ होगा। वस्तुत. आर्य लोग इन्ही की सन्तान होगे। इसी प्रकार आर्मनीय, फ्रिजीय, मायसोनीय एव विथिनीय लोग बाद मे आनेवाले लोगो के वशज होगे।

मंडा समूह

२५०० ई० पू० के लगभग हम उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी ईरान (जो आजकल मीडिया के नाम से प्रख्यात है) मे भारोपीय परिवार के मडा लोगो को पाते हैं। ये शतम् भाषा-भाषी थे। इनके पश्चिम मे भारोपियेतर लोगो से आबाद सुबर्तु प्रदेश था। बेबिलोन के उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम का भू-भाग ही वस्तुत

१. इस मार्ग से भी पशुओं के झुंड के साथ देशान्तर गमन मे कठिनाइयां हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उनके साथ पशु थे ही। यह बहुत सम्भव है कि जिन लोगो ने उत्तर की ओर से दानियाल के दर्रे को पार किया था वे बर्बर आक्रमणकारी थे और लहर की भाँति एक के बाद उनका दूसरा समूह आता रहा। वस्तुतः लूट-पाट मे ही वे अपना जीवन व्यतीत करते थे। यदि यह भी मान लिया जाय कि वे जन्मत. पशुपालक थे तो भी इस बात को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि जब वे पूर्व की ओर बढ़े होगे तो मार्ग मे उन्होंने भेडों तथा अन्य पशुओ को भी लूटा होगा।



१. ऊपर का [illegible] Ungnad's Die ältesten Völker wande-



इस प्रदेश की सीमा थी। उत्तरी सीरिया का मितन्नी राज्य भी इसी प्रदेश के अन्तर्गत था। उसके और भी पश्चिम, एशिया-माइनर के कप्पादोसिया प्रदेश मे खत्ती अथवा हत्ती लोगो की राजधानी थी। वर्तमान बोगाजकुई के निकट ही यह स्थान था। २००० ई० पू० के लगभग भारोपीय आक्रमणकारियो के एक अन्य दल ने इस प्रदेश को विजित किया था। ये हत्ती[1] नाम से प्रसिद्ध थे और कतम् (केण्टुम्) भाषा-भाषी थे। इस प्रकार इतिहास के इस प्राचीन युग मे, पूर्वी एशिया मे, भारोपीय लोगो के दो उपनिवेश मिलते हैं। इनमे से एक तो पहले का मीडिया-स्थित शतम् भाषा-भाषी उपनिवेश था और दूसरा था बाद का, कप्पादोसिया-स्थित कतम् (केण्टुम्) भाषा-भाषी उपनिवेश। इन दोनो को पृथक् करनेवाला भारोपियेतर सुबर्तु प्रदेश था।

२००० ई० पू० के आस-पास मडा लोगो ने मितन्नी सहित सुबर्तु प्रदेश को अधिकृत कर लिया और तब हत्ती लोगो से उनका सम्बन्ध यत्किंचित् कटु हो चला। मितन्नी राज्य के द्वारा वे मिस्रवासियो के सम्पर्क मे भी आये और फेरोहा राजाओ तथा उनके बीच जो पत्रव्यवहार हुआ वह नील नदी के तटवर्ती तेल-एल्-अमर्ना नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। लगभग १४०० ई० पू० के इस पत्रव्यवहार मे अनेक मितन्नी राजकुमारो के नामो के उल्लेख मिलते हैं जो स्पष्ट रूप से भारोपीय भाषा के हैं। दूसरी ओर बोगाज़कुई की हत्ती शाखा के अवशेषो मे हमे मितन्नी के देवताओ के नामो के उल्लेख मिलते हैं। यही नाम मित्र, इन्द्र, वरुण तथा दो नासत्यो के रूप मे, बाद मे, भारत मे भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त रथो की दौड से सम्बन्ध रखनेवाले शब्द भी मूल भारोपीय जैसे ही हैं। ये शब्द इसी रूप मे शतम् भाषा-भाषियो द्वारा प्रयुक्त किये जाते रहे होंगे। अन्ततोगत्वा १२०० ई० पू० के लगभग, भारोपीय आक्रमणकारियो के एक अन्य दल—ग्रैको-फ्रिजीय—के द्वारा हत्ती लोग पूर्णतया विनष्ट कर दिये गये। प्राय इसी समय मितन्नी प्रदेश पर असीरियावालो का आधिपत्य हो गया और इस प्रकार इन दोनो राज्यो का अन्त हो गया।[2]

१. मूल हत्ती बोलनेवालो की भाषा सर्वथा भिन्न थी। उसे 'प्राग्-हत्ती' के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

२. ऊपर का लेख प्रो० [A. Ungnad's Die attesten Volker wande-

यहाँ हमे पुन. मडा लोगो के सम्बन्ध मे विचार करना है। इनका आदि निवास-स्थान मीडिया मे अथवा उसके आसपास था। हमे इस बात की कोई जानकारी नही है कि ये वहाँ किस प्रकार पहुँचे। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रो० गाइल्स के अनुसार शतम् भाषा-भाषी मडा लोग बहुत पहले आनेवाले भारोपीय आक्रमणकारियो के वशज थे। आस्ट्रिया-हगरी से चलकर इन्होंने दानियाल के दर्रे को पार किया तथा पूर्व की ओर एशिया माइनर और उत्तरी मेसोपोटेमिया होते हुए ये मीडिया पहुँचे। हत्ती लोग बाद मे आये और ये कप्पा-दोसिया से बहुत आगे न बढ सके।

मडा लोगो के उद्गम के सम्बन्ध मे अन्य सिद्धान्त

मुख्य विषय को छोडकर मैं यहाँ मडा लोगो के उद्गम के सम्बन्ध मे अन्य सिद्धान्तो को प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। इसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। ऊपर मैंने इस सम्बन्ध मे प्रो० गाइल्स द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विवरण दिया है। यदि प्रो० गाइल्स की कल्पना को सिद्ध करने के लिए हम यह स्वीकार कर ले कि मंडा लोगो के प्रसार का केन्द्र डैन्यूब नदी का मैदान ही था और वे लोग आर्य अथवा आर्यशाखा के थे तथा पहले उन्होने फारस (ईरान) तथा बाद मे भारत पर आक्रमण किया तो हमे यह भी स्वीकार करना पडेगा कि सम्भवत उनका भी मार्ग वही था जिसे बाद मे हत्ती लोगो ने अपनाया था। वे एशिया माइनर होते हुए मेसोपोटेमिया पहुँचे होगे और तदुपरान्त उसे पार करके वे उस स्थान पर पहुँचे होगे जहाँ के प्राचीनतम अभि-लेखो मे उनका उल्लेख मिलता है। विद्वानो ने काले सागर के उत्तर-पूर्व का एक अन्य वैकल्पिक मार्ग भी सुझाया है किन्तु इधर काकेशस पर्वत ऐसा दुर्लघनीय है कि पशुपालक लोगो के लिए इसका पार करना कठिन था।

यद्यपि मडा लोगो का इस नाम से उल्लेख नही मिलता तथापि उत्तरी ईरान के भारोपीय रूप मे इनकी चर्चा अन्य रूपो मे मिलती है।[1]

rungen Vorderasiens Breslau, 1923] The oldest race migration of farther Asia] ए० उनानद के लेख 'एशिया की प्राचीन जातियो का निष्क्रमण' पर आधारित है।

१. इनमे से जो अधिक महत्वपूर्ण हैं उनका एक सक्षिप्त विवरण आर० डी०

एशियाई उद्‌गमसम्बन्धी सिद्धान्त

प्रो० ई० कीथ, प्रो० ई० मेयर की इस बात से सहमत हैं कि मितन्नी एव उसके समीपवर्ती प्रदेश मे प्राप्त भारोपीय नाम एव शब्द 'आर्य-शब्द' हैं। यहाँ आर्य-शब्द का तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। वस्तुत ये नाम तथा शब्द न तो भारतीय आर्यभाषा के हैं और न ईरानी के ही, वरन् इनका सम्बन्ध उस मूल आर्यभाषा से है जिससे इन दोनो की उत्पत्ति हुई है। इस सम्बन्ध मे यदि मैं अपना विचार प्रकट करूँ तो मुझे भी यह निश्चयात्मक रूप से प्रतीत होता है कि वास्तविक स्थिति यही थी और कुछ आगे बढकर तो मैं यह भी कहूँगा कि बहुत सम्भव है कि ऋग्वेद की उन कतिपय प्राचीनतम ऋचाओ की रचना जिन्हें साधारणतया भारत मे निर्मित माना जाता है, मूलत. इसी आर्य भाषा मे हुई होगी। इन ऋचाओ की बहुत दिनो तक, पीढी-दर-पीढी, मौखिक परम्परा चली होगी और अन्त मे, भारत मे, इन्हें वर्तमान रूप मिला होगा।[1] परन्तु भारोपीय का प्रसार-केन्द्र कहाँ था, इस प्रश्न के हल करने मे प्रो० कीथ का प्रोफेसर गाइल्स से मतभेद है। उनका यह दृढ मत है कि वह स्थान एशिया मे ही था तथा शतम्-भाषी आर्य मीडिया मे पूर्व से ही आये थे, पश्चिम से नही। अन्य भारोपीय भाषा-भाषियो मे कतम् भाषा-भाषी ही अधिक थे तथा उन्होंने अरल एव कैस्पियन सागर के उत्तर स्थित मार्ग द्वारा ही यूरोप मे प्रवेश किया। इसे स्वीकार करने के पूर्व, शब्दो-समूहो पर आधारित प्रो० गाइल्स के उन तर्कों पर भी विचार कर लेना चाहिए जिनके कारण वे डैन्यूब के मैदान को ही शतम् एव कतम् भाषा-भाषियो का मूल उद्‌गम-केन्द्र मानते हैं।

भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० ८१ तथा उसके आगे प्रो० कीथ के लेख 'इण्डो-इरानियन' मे मिलेगा। इस सम्बन्ध मे प्रो० जैकोबी, ओल्डेनबर्ग तथा कीथ मे जो वाद-विवाद हुआ, वह सन् १९०९ के जे० आर० ए० एस० (जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी) के पृ० ७२० तथा आगे, पृ० १०९५ तथा उसके आगे, पृ० ११०० तथा और फिर सन् १९१० के अंक के पृ० ४५६ तथा उसके आगे, ४६४ तथा आगे देखा जा सकता है।

१. वेद के प्राचीनतम मंत्रों की मूल भाषा के सम्बन्ध मे ११वें अध्याय के शुरू की पादटिप्पणी ३ देखें।

साइवेरीय उद्गमसम्बन्धी सिद्धान्त

इसके अतिरिक्त एक अन्य नवीन सिद्धान्त प्रो० जे० डे० मार्गन द्वारा प्रतिपादित किया गया है।[1] यह न तो भाषा पर आधारित है और न नृ-शास्त्र पर ही, अपितु इसका आधार यूरोप के हिम-युग का इतिहास है। इस के अनुसार मूल प्रसार-केन्द्र साइबेरिया था, क्योकि जिस युग मे उत्तरी यूरोप हिम से आच्छादित था उस युग मे इस प्रदेश का जलवायु कुछ-कुछ गर्म था। हिम-युग के अन्त मे, जलवायु-सम्बन्धी परिवर्तनो के कारण यूरोप निवास करने योग्य बन गया किन्तु साइबेरिया मे जीवन-निर्वाह कठिन हो गया अतएव इसके निवासी विभिन्न दिशाओ मे प्रसरित होने के लिए बाध्य हो गये। धीरे-धीरे भारोपीयो के पूर्वज कम से कम दो दिशाओ मे फैले। इनका एक समूह जो मुख्यत. कतम् भाषा-भाषी था, पश्चिम दिशा मे यूरोप की ओर गया। प्रोफेसर गाइल्स के अनुसार यही डैन्यूब का मैदान इनका गौण प्रसार-केन्द्र बना। दूसरा समूह जिसमे अधिकाशत शतम् भाषा-भाषी थे, दक्षिण-पश्चिम की ओर ईरान तथा निकटवर्ती प्रदेशो मे जा बसा। प्रोफेसर गाइल्स मडा लोगो की उपस्थिति मीडिया तथा ईरानियो के पूर्वजो की उपस्थिति ईरान के प्लेटो मे इसी रूप मे मानते हैं। यद्यपि इन दोनो समूहो मे आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध था, तथापि ये स्वतन्त्र रूप मे ही इधर प्रसरित हुए। ये दोनो समूह मिलकर ही 'आर्य' नाम से अभिहित हुए। ये लोग डैन्यूब के कॉठे से चलकर, दर्रे दानियाल को पार कर, एशिया माइनर मे प्रविष्ट होनेवाले हत्ती लोगो के वस्तुत चचेरे भाई थे, सहोदर भ्राता नही। यह सिद्धान्त आकर्षक तो है किन्तु अभी तक अन्य विद्वानो ने इसके सम्बन्ध मे पूर्णतया विचार नही किया है।[2]

१. अपने लेख "The origin of the Semetics and the home of the Indo European, in the Revue de Synthese Historique" खण्ड XXXIV NO 100-102 में इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

२. ओरिएन्टल-स्टडी की बुलेटिन के खण्ड ४ (१९२६) के पृष्ठ १४७ तथा उसके आगे के पृष्ठो मे डा० शारपेन्टियर ने डीमार्गन के इस मत से कि भारोपीय लोगो का मूल स्थान मध्य एशिया मे था, अपनी सहमति प्रकट की है। इस सम्बन्ध मे सीऑत्रा का' लाग्रेसेएत्‌ल-ओरियन्ट एन्शियन' शीर्षक 'बेबिलोनिका' के खण्ड ८ (१९२४) पृ० १२९ तथा उसके आगे के पृष्ठो मे उल्लेखनीय एवं

मडा प्रदेश से आर्यो का प्रसार

भारतीय आर्य भाषाओ के इतिहास के लिए ऊपर का विवाद विषयान्तर-पूर्ण एव व्यर्थ है। यहाँ यह जानकारी अवश्य महत्वपूर्ण है कि मडा लोग भारोपीय थे तथा उनका समय ईसा पूर्व २५०० वर्ष है। जिन विद्वानो का अन्य प्रश्नो के सम्बन्ध मे मतभेद है वे भी इस वात मे सहमत है कि मडा लोग आर्य थे। इस प्रकार हमे घटनाक्रम-सम्बन्धी एक प्रवल तथ्य की उपलब्धि होती है और वह यह है कि २५०० ई० पूर्व, शक्तिसम्पन्न आर्य उत्तरी एव उत्तर-पश्चिमी ईरान मे वस गये थे। मूलत चाहे वे कही से भी आये हो, किन्तु इस बात के हमे कोई भी प्रमाण नही मिलते कि वे दक्षिण अथवा दक्षिण-पूर्व से आये थे। इसके अतिरिक्त इस वात का भी कोई प्रमाण नही है कि वे दक्षिणी ईरान मे गये थे, अथवा (जैसा कि कुछ लोगो का विचार है) वे भारतवर्ष से गये थे। सर्वप्रथम हम उन्हे मीडिया तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रो मे पाते है। वही वे शक्तिसम्पन्न वने तथा जैसा कि हम देख चुके हैं, उन्होने सुवर्तु प्रदेश पर विजय प्राप्त की। हमारे लिए यह तात्कालिक दिलचस्पी की बात है कि उनके देवताओ के नाम वाद मे हम भारतवर्ष मे भी पाते हैं तथा वे शतम् भाषा-भाषी थे और उनकी भाषा प्राचीन वैदिक सस्कृत के अत्यधिक निकट थी। हम यह देख चुके है कि पश्चिम मे असीरियावालो ने उन्हें भगा दिया था, किन्तु मीडिया मे अपने उन भाइयो के साथ वे अपना अस्तित्व वनाये रखने मे समर्थ रहे जो ईरान की अधित्यका (प्लेटो) मे वस गये थे तथा जिनके अवशेषाश का पता इधर हाल मे ही डी० मार्गन ने खोज निकाला है। इतिहास के इस युग मे हम मीडीय तथा ईरानीय लोगो के सम्मिलित रूप को आर्य नाम से जानते हैं। इनमे से कुछ आर्य तो ईरान मे ही रह गये, किन्तु अन्य लोगो ने अपनी जययात्रा आगे की ओर जारी रखी और अन्ततोगत्वा, वे एक दिशा मे अपनी साहसिक यात्रा की सीमा, भारत मे प्रविष्ट हुए। यहाँ आकर कुछ हद तक वे अफगानिस्तान के पहाडी प्रदेश तथा हिन्दूकुश पर्वत के कारण अपने भाइयो से बिलग हो गये।

द्रष्टव्य है। इस लेख मे विद्वान् लेखक ने यह विचार प्रकट किया है कि मैसोपोटामिया की प्राचीन भाषा सुमेरियन तथा आर्यों की प्राचीन भाषा मे पारस्परिक सम्बन्ध था।

ऐसी दशा मे, जैसा कि प्राय होता आया है,[१] परदेशी लोगो के मध्य, पृथक् वसे हुए आर्यों की भाषा मे प्राचीन भाषा के रूप अक्षुण्ण रहे, किन्तु सापेक्षिक दृष्टि से ईरान मे वसनेवाले आर्यों की भाषा से ये रूप पहले ही लुप्त हो चुके थे। ऊपर हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्यो के देवताओ के नाम अव तक वही थे जो कप्पादोसिया-स्थित बोगाज़कुई मे अन्य आर्यों के साथ रहते समय थे। ईरान से ये नाम वहुत पहले ही विलुप्त हो चुके थे। इस प्रकार आर्यो की इन दोनो (भारतीय तथा ईरानी) शाखाओ की भाषाएँ स्वतत्र रूप से विभिन्न स्तरो पर विकसित होती रही। वस्तुत. ईरान की अपेक्षा भारत मे विकास की गति अधिक मन्द थी।

भारतीय आर्य तथा ईरानी

भारत मे आगत आर्यों की भाषा ही वास्तव मे भारतीय आर्य भाषाओ की जननी बनी। इसी प्रकार आर्यों की ईरानी शाखा की भाषा से आधुनिक ईरानी कुल की भाषाएँ विकसित हुई।[२]

१. प्रो० गाईल्स ने इसी के समानान्तर एक अवस्था का उदाहरण दिया है। यह स्पेन मे बोली जानेवाली तथा मैक्सिको एवं पेरू में बोली जानेवाली स्पेनिश का उदाहरण है। स्पेनिश के बोलनेवाले जो लोग मैक्सिको तथा पेरू गये, उनकी भाषा मे १६वीं शताब्दी के प्राचीन स्पेनिश भाषा के रूप मिलते हैं, क्योकि वे मूल स्थान से वहुत दूर जा बसे थे और उनके चारों ओर वहाँ के आदिवासी लोग थे। किंतु स्पेन मे बोली जानेवाली भाषा में परिवर्तन होता गया और उसमे प्राचीनता के चिह्न भी विलुप्त हो गये। इस सम्वन्ध मे पास का दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है; वह यह है कि आयरलैंड में निम्न स्तर के लोग जो अंग्रेजी बोलते हैं, वह आधुनिक अंग्रेजी का भ्रष्ट रूप नहीं है अपितु वह एलिजावेथ के समय की अंग्रेजी है।

२. सच वात तो यह है कि जैसे हम इण्डो-एरियन (भारतीय आर्य) शब्द का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार दूसरे भाषा-उपसमूह को हमें ईरानो-एरियन (ईरानी आर्य) कहना चाहिए। किन्तु विना एरियन (आर्य) कहे हुए ही ईरानियन (ईरानी) (ईरानी) कहना सक्षिप्त है और इस शब्द से किसी प्रकार का भ्रम भी उत्पन्न नहीं

जहाँ तक ईरानी लोगो की भाषा का सम्वन्ध है, इनकी तथा उस समय के इनके उन भाइयो की भाषा, जो एक के वाद दूसरे समूहो मे भारत की ओर प्रस्थान करते रहे, एक ही है। किन्तु जो लोग ईरान मे रह गये थे उन्ही की भाषा धीरे-धीरे ईरानी के रूप मे विकसित हुई। इस अवस्था के पूर्व भारतीय तथा ईरानी लोग जो भाषा वोलते थे उसे हम "प्राचीन ईरानी" कह सकते हैं। यह भारत तथा ईरानवालो की सम्मिलित भाषा थी। इसमे भारत मे प्रविष्ट होनेवाले आर्यों की भाषा की सभी विशेषताएँ तो थी ही, ईरानी भाषा की भी कतिपय विशेषताएँ इसमे मौजूद थी। ईरानी लोगो का एक अन्य समूह अपने पूर्वजो की भाँति ही पूर्व की ओर वढा, किन्तु इसने और भी उत्तर स्थित मार्ग को ग्रहण किया और हिन्दूकुश के उत्तर के मार्ग से पामीर के क्षेत्र मे प्रवेश किया।

दर्दीय समूह

यहाँ से उन्होने हिन्दूकुश को पार कर उस क्षेत्र मे पदार्पण किया जो दर्द-प्रदेश के रूप मे वर्तमान है। सम्भवत यही उन्हें आधुनिक वुरुशस्की लोगो के पूर्वज मिले थे। यहाँ या तो इन्होने उन्हें विजित कर उद्वासित कर दिया अथवा उन्ही के मध्य वस-कर उन पर अपनी भाषा को आरोपित किया। ईरान से भयकर पर्वत-श्रृखलाओ से विच्छिन्न इस वर्वर-प्रदेश मे 'प्राचीन ईरानी भाषा' स्वतत्र रूप स विकसित होती हुई आधुनिक दर्दीय-भाषाओ मे परिणत हो गयी। आज भी इसकी गठन आशिक रूप मे ईरानी तथा आशिक रूप मे भारतीय है।[1]

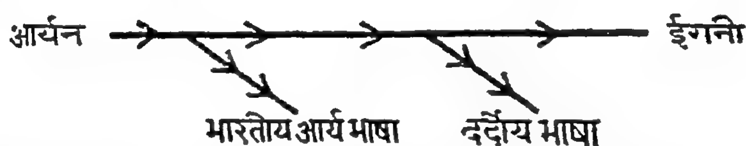
होता। जहाँ तक भारत का सम्वन्ध है, यहाँ वात दूसरी है। यहाँ अनेक ऐसी भारतीय भाषाएँ हैं जो आर्य परिवार की नहीं हैं, अतएव जो आर्य भाषाएँ भारत मे विकसित हुई हैं उन्हें द्योतित करने के लिए इंडो-एरियन (भारतीय आय) कहना आवश्यक है।

१. दर्द भाषा के विकास का यह विवरण सर्वे के इन पृष्ठो पर लिखित तथ्यो से भिन्न है—खंड ८, भाग २, पृष्ठ ७...। वाद का तथ्य इस अनुमान के आधार पर लिखा गया है कि प्राचीन काल मे आर्यों का निवासस्थान कोहकन्द और वदख्शाँ मे था। यहाँ से वे दो शाखाओ मे विभक्त हो गये। इनमे से एक ने दक्षिण मार्ग से भारत के लिए प्रस्थान किया और दूसरी ने पश्चिम से ईरान की ओर। पहली

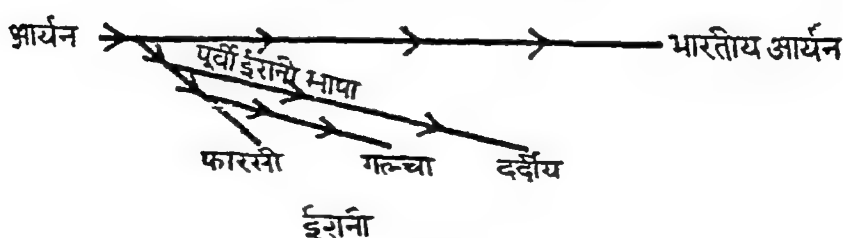
ग़ल्चः

जैसा कि अन्यत्र भी हो चुका है, प्राचीन ईरानी दलो ने हिन्दूकुश के उत्तर का जो मार्ग अपनाया था, उसी मार्ग से परवर्ती अन्य दलो का भी आगमन हुआ। इस समय तक 'प्राचीन ईरानी', ईरानी भाषा के रूप मे विकसित हो चुकी थी। इन परवर्ती निष्क्रमणार्थियो की भाषा ने पामीर की ग़ल्चः भाषा का रूप धारण किया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, गल्च मे ईरानी की विशेषताएँ पूर्ण रूप से मिलती हैं। किन्तु ये लोग केवल पामीर प्रदेश तक ही सीमित न रह सके। प्राचीन ईरानी भाषा-भाषियो मे से कुछ लोग तो और पूर्व की ओर मध्य-एशिया मे चले गये। ये लोग ईरानी भाषा बिलकुल नही बोलते किन्तु सर आरेल स्टाइन की खोजो के परिणामस्वरूप इनकी भाषा मे प्राचीन भाषा के रूपो के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[1]

शाखा की भाषा भारतीय आर्यभाषा तथा दूसरी शाखा की भाषा ईरानी के रूप में विकसित हुई। इस विवरण के अनुसार विभाजन के बाद ही दर्दीय भाषाएँ ईरानी से पृथक् हो गयीं। इस समय तक ईरानी भाषा अभी पूर्णतया विकसित नहीं हुई थी। मैंने नीचे के रेखाचित्र में इसे स्पष्ट कर दिया है—



आधुनिक विवरण मे परिणाम तो वही है किन्तु चित्र इस प्रकार होगा—



चित्र १२

१. यहाँ भी, पिछली पाद-टिप्पणी मे दिये गये कारणो से, सर्वे के भाग १०, पृष्ठ १ मे लिखित ईरानी भाषाओ के विकास के विवरण से यह विवरण भिन्न है। किन्तु पूर्व की ही भाँति इसके भी परिणाम वही हैं।

इस प्रकार अन्तोगत्वा हम आर्य-भाषाओ को तीन शाखाओ मे विभक्त पाते हैं। ये हैं—ईरानी, दर्दीय और भारतीय आर्य-भाषा।

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणनानुसार
ईरानी भाषा	४६,१७,८९०	१९,८७,९४३
दर्दीय भाषा	११,९५,९०२	१३,०४,३१९
भारतीय आर्य भापा	२२,६०,६०,६११	२३,२८,५२,५५५
भारतीय आर्यभाषाओ का योग	२३,१८,७४,४०३	२३,२८,५२,८१७

दर्दीय भाषाओ के सम्बन्ध मे विचार स्थगित रखकर एक वार हम पुन ईरानी तथा भारतीय आर्यो के विषय मे विचार करेंगे। जैसा कि पश्चिमी भारोपीय जातियो के साथ हुआ, जहाँ भी ये दोनो आर्य-शाखाएँ गयी, इन्हें वहाँ के आदिवासियो से मुकावला करना पडा। आक्रमणकारियो ने इन आदिवासियो को पर्वतीय प्रदेशो मे खदेड दिया किन्तु इनमे से अधिकाश पराजित होकर आर्य भाषा अगीकार करने के लिए वाध्य हुए। आगत आर्यों की सख्या कम ही थी और उनके साथ आनेवाली स्त्रियो की सख्या तो उनकी अपेक्षा और भी कम थी। इसका परिणाम, जैसा कि प्रो० जस्टी ने कहा है, यह हुआ कि अशत सख्या मे अधिक आदिवासियो के सम्मिश्रण तथा अशत जलवायु के प्रभाव के कारण, वश की दृष्टि से भी, यूरोपीय आर्यो से वे भिन्न हो गये। यह दूसरी वात है कि भाषा की दृष्टि से यूरोपीय आर्यो से उनका आज भी सम्वन्ध है। सामान्यतया, जिस प्रकार दक्षिण यूरोप के निवासी उस मूल वश से उत्पन्न हुए हैं जो न तो स्वीडिश और न फ्रिज्लैंडर ही है, ठीक उसी प्रकार, नृ-विज्ञान की दृष्टि से, हिन्दूजाति के आर्य ट्यूटनो से पूर्णतया भिन्न हैं। यद्यपि ट्यूटन लोगो की भाषा का आधुनिक सस्कृत एव फारसी से सम्वन्ध है किन्तु उनकी वशगत समानता इन भाषाओ के वोलनेवालो की अपेक्षा उत्तर समुद्रतटवर्ती गौराङ्ग जातियो से ही अधिक है।

नवाँ अध्याय

ईरानी-शाखा

ईरानी शाखा

ईरानी शाखा के आर्यो को हम फारस मे छोड़ आये हैं। पीछे यह कहा जा चुका है कि इनमे से कुछ लोग पूर्व की ओर वढते हुए हिन्दूकुश के उत्तर मे जा पहुँचे। पामीरनिवासी ही अव इनके प्रतिनिधि हैं। ये आज भी ईरानी भाषाएँ वोलते हैं। सुदूर पूर्व, यारकन्द तक मे, आर्य-रूप-रगवाली ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो तातारो से पराजित होकर वाद मे उनके द्वारा अपना ली गयी।

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणनानुसार
पश्चिमी (फारसी)	७,५७९	६,२६८
पूर्वी (फारसी)	४६,१०,३११	१९,८१,६७५
भारत मे कुल योग	४६,१७,८९०	१९,८७,९४३

ईरानी भाषा की सीमाएँ

इस प्रकार हम पामीर के पूर्व सरीकोल प्रदेश को वर्तमान ईरानी भाषाओ की पूर्वी सीमा मान सकते हैं। ईरान मे वस जानेवाले लोगो ने मर्व, समस्त ईरान, अफगानिस्तान तथा वलूचिस्तान को अधिकृत कर लिया। इस ओर ईरानी भाषा की पूर्वी सीमा सिन्धु नदी को माना जा सकता है, यद्यपि किसी समय सिन्धु नदी के पश्चिम का अधिकाश भाग भारतीय आर्यसमूह द्वारा विजित कर लिया गया था। अब भी वहाँ भारतीय आर्य-भाषाएँ पायी जाती हैं। इस वात के कोई भी चिह्न नही मिलते कि ईरानियो ने कभी काफिरिस्तान को अथवा काफिरिस्तान और कावुल नदी के

मध्यवर्ती लगमान प्रदेश को अधिकृत किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगमन के पूर्व ही दर्द लोग इस देश पर अधिकार कर चुके थे।

पर्सिक (पारसीक) और मिडियायी भाषाएँ

आदि युग मे हम ईरानी भाषा को दो ऐसी भाषाओ मे विभक्त पाते है, जो एक-दूसरे से वहुत अधिक भिन्न नही हैं। इसके लिखित प्रमाण उपलब्ध भी हैं। सामान्य रूप से ये पारसीक (फारसी) एव मिडीय नामो से पुकारी जाती है। इसके लिए पारसी तथा पारसीकेतर नाम अधिक उपयुक्त होगे।[1]

पर्सिक, पुरानी फारसी

पर्सिक (पारसीक) भाषा का प्राचीनतम रूप, जिससे हम भलीभाँति परिचित हैं, हरवा मनीश वश की पुरानी फारसी है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण डेरियस प्रथम या दारयवहुश (धारयद्वसु, ई० पू० ५२२-४८६) के वेहिस्तुन के शिलालेख मे मिलते हैं। यह पर्सिपोलिस के दरवार की शासकीय भाषा थी और समस्त ईरान मे इसका प्रचार था। इसका प्रयोग केवल सरकारी कागज-पत्रो मे ही नही होता था अपितु अन्त प्रान्तीय व्यवहार मे भी यह उसी रूप मे प्रयुक्त होती थी जिस रूप मे हिन्दुस्तान मे हिन्दुस्तानी का प्रयोग होता है।

१. मिडीय भाषा की विशेषताएँ केवल मीड़िया की सीमा मे ही नहीं मिलतीं अपितु उससे और सुदूर पूर्व तक मे मिलती हैं। मीड़िया की भौगोलिक सीमा वर्तमान उत्तर-पश्चिमी ईरान तथा कुर्दिस्तान थी। प्राचीन काल मे यह भूभाग मडा नाम से प्रख्यात था। मिडीय भाषा की विशेषताएँ अवेस्ता मे भी मिलती हैं। अवेस्ता की रचना पूर्वी ईरान मे हुई थी। जो लोग पारसीक (फारसी) भाषा-भाषी नहीं थे उनमे मिडीय लोगो का स्थान, राजनीतिक दृष्टि से, अत्यधिक महत्व-पूर्ण है और उनका वोध कराने के लिए मिडीय शब्द उपयुक्त एव सुगम है। इसके साथ ही यहाँ यह भी हृदयगम कर लेना चाहिए कि इस बात को स्वीकार करने के लिए तनिक भी गुजायश नहीं है कि चूंकि अवेस्ता की भाषा मिडीय है, अतएव उसका रचना-स्थान भी मीडिया है। यह सत्य है कि कुछ विद्वान् इस विचार से सहमत हैं किन्तु 'मिडीय' शब्द के गलत प्रयोग से इस प्रश्न का समाधान नहीं किया जा सकता।

मध्य फारसी

पर्सिक (पारसीक) भाषा की द्वितीयावस्था के लिखित रूप हमे मध्य फारसी या पहलवी (पार्थीय) मे मिलते है। मध्य फारसी का पोषक ससानीय राजवश था जिसका राज्यकाल तीसरी से सातवी शती ईसवी था। मध्य फारसी का आधुनिक फारसी से वही सम्बन्ध है जो प्राकृत का आधुनिक आर्यभाषाओ से है। पारसीक की तीसरी अथवा अन्तिम अवस्था आधुनिक फारसी है जो साहित्यिक एव भद्र समाज की भाषा के रूप मे विकसित हुई। इसका रूप भी प्राचीन काल मे ही स्थिर हो चुका था। इसमे समय-समय पर अरबी का सम्मिश्रण अवश्य हुआ किन्तु साधारण रूप से लगभग एक सहस्र वर्षों तक इसका रूप एक ही रहा। मुसलमानी राज्यकाल मे यह भारत की एक महान् साहित्यिक भाषा वन गयी और इनमे अनेक वडे कोशो एव अन्य महत्वपूर्ण ग्रथो की रचना हुई। अव वोलचाल की भाषा के रूप मे, भारत मे फारसी का कही भी प्रयोग नही होता किन्तु आज भी यह शिक्षित मुसलमानो के ललित-साहित्य की भाषा है। फारसी भाषा-भाषियो का उल्लेख करते हुए श्री बेन्स महोदय अपनी सन् १८९१ की जनगणना की रिपोर्ट मे लिखते हैं—"वगाल तथा रगून मे दिल्ली और लखनऊ के पुराने राजवंशो के अवशिष्ट रूप मे कुछ लोग है। इसी प्रकार पंजाव मे (फारस के) कुछ व्यापारी तथा अफगानिस्तान के कतिपय निष्क्रमणार्थी एव वम्वई मे फारस के, घोड़ो के कतिपय व्यापारी वस गये हैं। इनके अतिरिक्त भारत मे कही भी फारसी नही बोली जाती। जनगणना मे कतिपय अन्य लोगो ने जो अपनी मातृभाषा फारसी लिखवायी है, वह परिनिष्ठित उर्दू के अतिरिक्त अन्य भाषा नही।" ऊपर के क्षेत्रो के अतिरिक्त वलूचिस्तान मे फारसी बोलनेवालो का एक उपनिवेश अवश्य है। यहाँ ७५७९ व्यक्ति फारसी की एक वोली वोलते हैं जिसका स्थानीय नाम देहवारी है। वस्तुत. केवल इतने ही ईरानी लोग नही हैं जो भारत मे वस गये है। सिकन्दर महान् के उत्तराधिकारियो तथा उनके अनुगामी भारत-सीदियनो के शासन-काल में, प्राचीन ईरानी सूर्यपूजको ने धर्मप्रचारको के रूप मे भारत मे प्रवेश किया था। यहाँ ये अपने धर्म-तत्वो के साथ ब्राह्मणवर्ग मे सम्मिलित कर लिये गये। आज भी ये शाकद्वीपीय ब्राह्मण के रूप मे वर्तमान है। बाद के युग मे, मुसलमानो के अत्याचारो से पीड़ित होकर, कट्टर जरथुस्त्रीय लोग ईरान छोड़कर यहाँ चले आये और पश्चिमी भारत मे वस गये। समृद्धिशाली पारसी जाति के लोग उन्ही के वशज है। परन्तु इन दोनो आप्रवासियो (इमीग्रेण्टस) ने अपनी ईरानी भाषा

का परित्याग कर नव्य भारतीय भाषाओ को अपना लिया है। अफगान आगन्तुको की फारसी बहुत अंशो मे बदख्शी बोली से मिलती-जुलती है और इसमे पश्तो के भी अनेक शब्द हैं।

मिडीय भाषा

मिडीय भाषा के अन्तर्गत की बोलियाँ ईरान के सुदूर स्थित प्रदेशो मे भी बोली जाती थी। यद्यपि वर्तमान युग का पश्चिमी फारस ही उस समय का मिडीय प्रदेश था तथापि मिडीय भाषा के शब्द उस सीमा से बाहर बहुत दूर तक प्रचलित

पूर्वीय ईरानी

–	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
अफगानी—बलोची उपशाखा	४६,१०,३११	१९,८१,६७५
गल्च उपशाखा		•
योग	४६,१०,३११	१९,८१,६७५

थे। उदाहरणार्थ 'कुत्ते' के लिए मिडीय-शब्द 'स्पक' लिया जा सकता है जो हिरोडोटस की कृपा से सुरक्षित है। सुदूर अफगानिस्तान की भाषा ओर्मुडी मे यह

अफगान—बलोची उपशाखा

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
बलोची	७,०४,५८६	४,८५,४०८
ओर्मुडी		•
पश्तो	३९,०५,७२५	१४,९५,२६७
योग	४६,१०,३११	१९,८१,६७५

शब्द 'स्पुक्' तथा पश्तो मे 'स्पाए' रूप मे आज भी वर्तमान है किन्तु पड़ोस की फारसी मे यह 'सग्' रूप मे मिलता है। कतिपय विद्वानो के अनुसार प्राचीन मिडीय मे लिखित सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रथ अवेस्ता की रचना मीडिया मे नहीं अपितु पूर्वी

ईरान मे हुई थी। अवेस्ता के प्राचीन अशो की रचना ईसा के लगभग छै शताब्दियो पूर्व हुई थी। यद्यपि इसके अधिकाश भागो की रचना कई शताब्दियो के बाद हुई तथापि हमे ऐसे प्रमाण उपलब्ध नही हैं जिनसे मध्य-मिडीय भाषा का प्राचीन मिडीय से हम उसी प्रकार सम्बन्ध दिखला सकते जिस प्रकार पहलवी का पर्सिक (पारसीक या पुरानी फारसी) से दिखलाया जाता है। इस सम्बन्ध मे जो सामग्री उपलब्ध है वह इससे विकसित आधुनिक भाषाओ के रूप मे ही है। ये हैं सम्पूर्ण फारस तथा अवान्तर देशो मे बोली जानेवाली पामीर की गल्च. बोलियाँ, पश्तो, ओर्मुडी, बलोची तथा अन्य बहुसंख्यक बोलियाँ जिनमे कुर्दिश अत्यधिक प्रसिद्ध है। चूँकि इनमे से सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषाएँ प्राचीन ईरान के पूर्वी भाग मे बोली जाती हैं अत: इनका वर्गीकरण ईरानीय भाषाओ की पूर्वी शाखा के अन्तर्गत किया गया है।[1] फारस मे बोली जानेवाली बोलियो से हमारा यहाँ सम्बन्ध नही है। जिन भाषाओ का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप मे भारत से है, उन्हे शुद्ध भौगोलिक आधारो पर दो उपशाखाओ—अफग़ान-बलोची उपशाखा और गल्च उपशाखा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मैं दक्षिण से प्रारम्भ कर इन पर क्रमश· विचार करूँगा।

बलोची

बलोची भाषा का देश, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, बलूचिस्तान है। किन्तु यह उस प्रान्त की सीमा के अवान्तर प्रदेशो मे भी दूर तक फैली हुई है। पूर्व मे इसका विस्तार सिन्धु नदी तक है। उत्तर मे इसकी सीमा डेरा ग़ाज़ीखां तक है, यद्यपि सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश मे प्रमुख रूप से लहँदा या सिन्धी बोलने-वालो का निवास है। उत्तर की ओर ब्रिटिश-बलूचिस्तान (अब पाक-बलूचिस्तान) के क्वेटानगर तक, अथवा यो कहे कि उत्तरी अक्षाश की १३ वी डिग्री तक इसका प्रसार है। जब हम पश्चिम की ओर बढते हैं तो इसे और भी आगे हेलमन्ड के काँठे तक

१. इस 'पूर्वीय' शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में उसी प्रकार किया जाना चाहिए, जिस रूप मे यहाँ 'मिडीय' शब्द का व्यवहार किया गया है। उपबोलियाँ न केवल मध्य एशिया में ही बोली जाती हैं, प्रत्युत पश्चिमोत्तर मे, दूरस्थित कैस्पि-यन सागर के तटवर्ती प्रदेशो में भी उनका प्रयोग होता है।

पाते हैं, जहाँ पश्तो उस प्रदेश की मुख्य भाषा बन जाती है। पश्चिम मे कुछ और दूर तक, जहाँ से हेलमड का निचला मार्ग दक्षिण से उत्तर की ओर बढता गया है, हम फारस के सीस्तान प्रान्त मे आ जाते हैं। यहाँ बलूची और ईरानी लोग मिश्रित रूप मे पाये जाते हैं और इस क्षेत्र की भाषा आशिक रूप मे बलोची है और आशिक रूप से फारसी। वास्तव मे घुमक्कड बलोची और भी उत्तर मे कर्मान तथा मध्य खुरासान तक पाये जाते हैं। क्वेटा के दक्षिण मे, ब्रिटिश बलूचिस्तान के अधिकांश भाग की भाषा बलोची ही है। पश्चिम की ओर, यह प्रमुख भाषा के रूप मे फारसी-बलूचिस्तान तथा बैम्पुर तक विस्तृत होती जाती है। पश्चिम मे कम से कम जस्क, अथवा पूर्वीय देशान्तर की ५८ डिग्री तक के निवासियो द्वारा यह बोली जाती है। यह विस्तृत प्रदेश अपने मे एक अन्य इतर-ईरानी जाति—ब्राहूई—को भी समाविष्ट कर लेता है जिसकी अपनी स्वतत्र भाषा है। ब्राहूई ब्रिटिश बलूचिस्तान के मध्य भाग मे बोली जाती है। इसने बलोची भाषा को दो भिन्न बोलियो—

बलोची की दो शाखाएँ

	सर्वेक्षण
पूर्वी बोली	३,७६,८२२
पश्चिमी बोली	३,२४,८९९
अनिर्दिष्ट	२,८६५
योग	७,०४,५८६

पूर्वी बलोची और पश्चिमी बलोची या मक्रानी—मे विभाजित कर दिया है। फारसी क्षेत्र मे पश्चिमी-बलोची बोलनेवालो की सख्या दो लाख के लगभग है। नीचे दिये हुए सर्वेक्षण के आँकडों मे यह सख्या भी सम्मिलित है। इन दोनो बोलियो की कई छोटी-छोटी उपबोलियाँ भी हैं, किन्तु हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए पूर्वी तथा पश्चिमी बलोची के मुख्य विभाजन ही यथेष्ट हैं। ध्वनि तथा व्याकरण-सम्बन्धी अन्तरो के अतिरिक्त पूर्वी बलोची, पश्चिमी बलोची से, भारत से उधार लिये शब्दो के सम्बन्ध मे, अधिक सम्पन्न है। पश्तो क्षेत्र मे दोनो ही बोलियो ने अरबी और फारसी के शब्दो को स्वतत्रतापूर्वक ग्रहण किया है। अपने अफगान पडोसियो की अपेक्षा बलोचियो को अरबी अक्षरो के उच्चारण मे कठिनाई होती

है। इसीलिए उस भाषा से गृहीत कतिपय शब्दो के रूप बहुत विचित्र ढग से परिवर्तित हो गये है।

बलोची मे बहुत थोडा साहित्य है। इसमे अधिकतर लोकगीत, लोककथाएँ आदि ही है। इनका सग्रह स्वर्गीय डेम्स तथा अन्य विद्वानो ने किया है। हमारे पास दोनो ही बोलियो के व्याकरण तथा शब्द-समूह हैं। इनमे बाइबिल के अनेक ग्रन्थो का अनुवाद भी हो चुका है। इनके लिखने के लिए अरबी-फारसी अक्षरो तथा रोमन वर्णमाला, दोनो का ही उपयोग किया जाता है। समस्त पूर्वी ईरानी भाषाओ मे बलोची ही ऐसी है जिसने अपने पुरातन स्वरूप को सुरक्षित रखा है। कुछ अशो मे इसकी व्यजन-प्रणाली उसी अवस्था मे है जिस अवस्था मे मध्य-पहलवी युग की है। प्रोफेसर गाइगर के अनुसार इसके अक्षर अभी तक उसी अपरिवर्तित रूप मे सुरक्षित हैं, जो कि प्राय पन्द्रह सौ वर्षों से आधुनिक फारसी भाषा के रूप मे अपनी मूल ध्वनि को छोडते आ रहे है। इसके व्याकरण के रूपो (विभक्ति, धातुरूप, प्रत्यय आदि) मे भी अनेक प्राचीन रूप सुरक्षित है। सिन्ध के पूर्व के देशी राज्यो मे, अब भी अपनी मातृभाषा का प्रयोग करनेवाले बलोची, सरदारो की व्यक्तिगत वस्तुओ के एव उनके कोष के रक्षको के रूप मे, पाये जाते हैं। सामान्यतया ये मक्रानी लोग है। भारतीय जनगणना मे प्राय इन सभी भाषा-भाषियो को पजी-बद्ध नही किया गया है। अफगानिस्तान तथा फारस से सम्बन्धित लोगो को निश्चित रूप से इस जनगणना मे छोड दिया गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इनकी अनुमानित सख्या सर्वेक्षण मे दी गयी है।

ओर्मुड़ी

ओर्मुडी भाषा-भाषियो की सख्या अज्ञात है। यह एक उपेक्षित भाषा है। इस जाति के पूर्वज और नेता मीर बरक के नाम पर इसे बरगस्ता या बरगिस्ता कहते हैं। यह जनगणना क्षेत्र से बाहर वज़ीरिस्तान के कनीगोरम तथा अफगानिस्तान की लोगर घाटी मे बसे हुए केवल कुछ हजार व्यक्तियो की ही भाषा है। यद्यपि अफगानिस्तान के ठीक मध्य मे बोली जाती है, किन्तु वज़ीरी पठानो से घिरी होने पर भी, उधार लिये शब्दो के अतिरिक्त, पश्तो से इसका कोई भी सम्बन्ध नही है। यद्यपि सीमित अर्थ मे इसका सम्बन्ध पूर्वीय ईरानी भाषा से है, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत यह कुर्दिश भाषा से सम्बन्धित है। इस जाति में एक असम्भावित किवदन्ती प्रचलित है जिसके अनुसार ये लोग अरब-

स्थित यमन-प्रदेश से आये और आज से चार सौ वर्ष पूर्व उमर लबान नामक एक प्राचीन वयोवृद्ध विद्वान् ने इनकी भाषा का आविष्कार किया था। पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा बहावलपुर राज्य मे भी बहुसख्यक ओर्मुडी लोग बस गये है, किन्तु यहाँ वे पूर्णतया अपनी मातृभाषा छोड चुके हैं। इस भाषा मे किसी प्रकार के साहित्य का सर्वथा अभाव है, लेकिन पश्तो द्वारा अपनायी गयी अरबी-फारसी लिपि मे इसे लिखने का एक दो बार प्रयत्न किया गया है।

पश्तो

पश्तो ब्रिटिश सीमा के अन्तर्गत सिन्धु नदी के उभयतटवर्ती जिलो मे दक्षिण की ओर डेरा इस्माइल खा तक बोली जाती है। उत्तर की ओर यूसुफजाई प्रदेश वजौर, स्वात और बुनेर तक, तथा जहाँ सिन्धु नदी दक्षिण की ओर मुडती है, सिन्धी कोहिस्तान से लेकर कम से कम कडिया नदी तक इसका प्रसारक्षेत्र है। स्वात, बुनेर और कोहिस्तान के उत्तरी भाग के अधिकाश निवासी अपने घरो मे दर्दीय कुल की भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु इधर पश्तो, सार्वभौम रूप से जन-

पश्तो की बोलियाँ

	सर्वेक्षण
पूर्वोत्तर बोली	८,०६,९७४
दक्षिण-पश्चिमी बोली	६,७६,४०२
अनिर्दिष्ट	६३,३४९
ब्रिटिश सीमा के बाहर की अनुमानित सख्या	२३,५९,०००
योग	३९,०५,७२५

साधारण के पारस्परिक व्यवहार की भाषा है। ब्रिटिश राज्य मे इसकी पूर्वीय सीमा सामान्यत. सिन्धु नदी के बराबर मानी जा सकती है, यद्यपि हजारा और अटक जिलो मे भी पश्तो-भाषी उपनिवेश हैं तथा मियाँवली मे यह सिन्धु नदी के दोनो तटो की भाषा है। डेरा इस्माइल खा के जिले मे प्रवेश करने पर सिन्धु के काँठे के निचले प्रदेश को लहँदा भाषा के अधिकार मे छोडती हुई, इसकी पूर्वीय सीमा धीरे-धीरे

सिन्धु नदी से हटती जाती है। चौधवान शहर से प्रायः ३० मील दक्षिण की ओर यह बलोची भाषा से मिलकर पश्चिम की ओर घूम जाती है। इसकी दक्षिणी सीमा शोरवाक से होती हुई क्वेटा के दक्षिण तब तक बढ़ती जाती है, जब तक बलोचिस्तान की मरुभूमि से वह अवरुद्ध नही हो जाती। वहाँ से प्राय पूर्वीय अक्षाश की १६ वी डिग्री तक, नदी के उपनिवेशो के साथ, जो पश्चिम से दक्षिण की ओर जाती है, यह रेगिस्तान की उत्तरी एव पूर्वीय सीमाओ का अनुगमन करती है। वहाँ से यह उत्तर की ओर हेरात के दक्षिण, लगभग ५० मील तक चली जाती है, जहाँ यह अपनी पश्चिमोत्तरी सीमा से मिल जाती है। इसकी उत्तरी सीमा पूर्व की ओर लगभग हजारा प्रदेश तक चली जाती है। यहाँ के निवासी पश्तो भाषा का प्रयोग न करके फारसी अथवा उस भाषा का व्यवहार करते हैं, जो मगोल-वशोत्पन्न भाषा है। हजारा प्रदेश को पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की ओर से घेरती तथा ग़जनी शहर को छोडती हुई, अन्तिम रूप से यह उत्तर मे, हिन्दूकुश की ओर अग्रसर होती है। काफिरिस्तान को इसके पूर्व और पश्चिम की ओर छोडते हुए यह सामान्यत जलालाबाद तक काबुल नदी का अनुगमन करती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वहाँ से यह कुनार की ओर बढकर बजौर और स्वात को सम्मिलित कर लेती है।[1] यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस ऊबड-खाबड प्रदेश की समस्त जनता पश्तोभाषी नही है। ब्रिटिश राज्य के हिन्दू लहँदा बोलते है। तत्रभवान् अफगानिस्तान के शाह के राज्य मे जातियो का अत्यधिक सम्मिश्रण हुआ है, जिनमे ताजिक, हजारा, किज़िलबाशी तथा काफिर अपनी विभिन्न-मूलोत्पन्न मातृभाषाओ का व्यवहार करते है। साधारण रीति से हम यह कह सकते है कि वे प्रदेश, जहाँ की बहुसख्यक जनता मातृभाषा के रूप मे पश्तो बोलती है, दक्षिणी एव पश्चिमी अफगानिस्तान, सिन्धु नदी के दक्षिणी मोड़ पर स्थित डेरा इस्माइल खा के पश्चिमी भाग एव उत्तरी बलोचिस्तान के सकीर्ण प्रदेश हैं।

यदि स्थानो के नाम ठीक है तो अपने वर्तमान रहने के स्थान के कम-से-कम एक भाग मे पश्तो भाषा-भाषी लोग गत ढाई हजार वर्षों से रहते आये है। उनकी

१. ऊपर के सभी स्थान सर्वेक्षण के दसवें खण्ड के पृष्ठ ५ के सामनेवाले पृष्ठ पर स्पष्टता से अंकित किये गये हैं।

तुलना हेरोडोटस के 'पक्त्येस' एव वेदो के 'पक्थस्' से की गयी है। इसी प्रकार अफरीदियो को, जो अपने को 'अप्रीदी' कहते है, प्राचीन युग के 'अपर्यतै' के प्रतिनिधि होने की सम्भावना की गयी है। उनके परवर्ती इतिहास से यहाँ हमारा कोई सम्बन्ध नही है, केवल सूचना के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उन्होने भारत पर कई वार आक्रमण किया है। उनकी एक वडी सख्या उसी देश मे बस गयी है, जो पठान (यह 'पश्तान' या 'पख्तान' का विकृत रूप है) के नाम से प्रसिद्ध हैं, और यह कि दिल्ली सम्राट् शेरशाह भी इसी अफगान वश का था। अफगानो का एक अन्य वर्ग भारत मे प्रतिवर्ष शरद ऋतु मे आता है और समूचे देश मे यह फेरीवालो तथा घोडे के व्यापारियो और कभी-कभी छोटी-मोटी वस्तुओ के विक्रेताओ के रूप मे, हेमन्त ऋतु तक घूमता रहता है। पश्तो का साहित्य वहुत ही समृद्धिशाली है और इसमे श्रेष्ठ ग्रन्थ भी उपलब्ध है जो सशोधित फारसी लिपि मे लिखे गये है। इसने भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानो का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट किया है। इसकी ध्वनियो की रुक्षता इसके वोलनेवालो के स्वभाव एव उनके पर्वतीय निवास के अनुरूप है, किन्तु अन्य पूर्वीय देशो के अत्यत परिमार्जित कानो के लिए यह कटु है। सोलोमन वादशाह के युग के परम्परागत भाषा-सर्वेक्षण का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ।[1] उस समय पश्तो की ध्वनि का वोध कराने के लिये आसफ ने एक वर्तन मे पत्थर का टुकडा डालकर उसे हिलाया था। यहाँ मैं एक प्रसिद्ध लोकोक्ति का उल्लेख करूँगा, जिसके अनुसार अरवी विज्ञान है, तुर्की सिद्धि है, फारसी शर्करा है, हिन्दोस्तानी नमक है, किन्तु पश्तो गधे का रेकना है। इन प्रतिकूल आक्षेपो तथा कर्कश ध्वनि के वावजूद भी यह शक्तिशाली भाषा है और किसी भी भाव को अत्यन्त स्पष्ट एव यथार्थ रूप मे व्यक्त करने मे यह सक्षम है। अन्य सामान्य विशेषताओ मे यह वलोची से कम प्राचीन है। इसने भारतीय स्रोतो से प्रचुर परिमाण में केवल शब्द ही उधार नही लिये है अपितु कुछ अगो मे इस पर भारतीय भाषाओ के व्याकरण का भी प्रभाव है। सभी दृष्टियो से विचार करने से, यद्यपि पश्तो एकरूपता-सम्पन्न भाषा है तथापि इसकी दो स्वीकृत वोलियाँ—पूर्वोत्तरीय अथवा 'पख्तो' और दक्षिणी-पश्चिमी 'पश्तो' हैं। उच्चारण के अतिरिक्त इन दोनो वोलियो मे वहुत कम अन्तर है और इस अन्तर के

१. पृष्ठ ३ की पादटिप्पणी २ देखो।

सुन्दर उदाहरण इनके नाम ही हैं जो एक ही शब्द के दो रूप हैं। इनमे से प्रत्येक की अनेक क्षेत्रीय उपबोलियाँ भी है जिनके उच्चारण-स्थान मे अन्तर है। किसी भी भारतीय जनगणना मे समस्त पश्तो भाषा-भाषियो की सख्या नही दी गयी है, क्योकि यह केवल ब्रिटिश क्षेत्र मे बसे हुए पश्तो बोलनेवालो तक ही सीमित है।

गल्च उपशाखा—वखी, शिगनी, इश्काश्मी, मुजानी

अफगानिस्तान को छोडते हुए तथा काफिरिस्तान एव चित्राल प्रदेश के उत्तर से होते हुए हम पूर्वी ईरानी भाषाओ की गल्च उपशाखा के क्षेत्र मे आते हैं। वे पामीर एव तटवर्ती प्रदेशो मे बोली जाती है और एक का दूसरी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये हैं—वखन मे बोली जानेवाली 'वखी', तगदुम्बश, पामीर एव सरीकोल की अपनी उपबोली 'सरीकोली' सहित शगनान तथा रोशन प्रदेश की 'शिगनी या खुगनी' भाषाएँ, इश्काश्म तथा ज़ेबक देश की अपनी उपबोलियो, सगलीची और ज़ेबकी महित इश्काश्मी भाषा, 'मुद्गा' नामक उपबोली सहित मुन्जान की 'मुन्जानी या मुगी' भाषा, और कुछ अधिकारी विद्वानो के अनुसार पामीर के उत्तर तथा ज़रफशान नदी के उद्गम प्रदेश के आसपास बोली जानेवाली 'यगनोबी' भाषा। इनमे से केवल एक भाषा—'मुद्गा' अथवा 'ल्योटकुह-ए-वार' से ही हमारा तात्कालिक सम्बन्ध है। यह पामीर से दोरा दर्रे के द्वारा हिन्दूकुश की पर्वतमाला को पार कर 'लुद्खो' घाटी से चित्राल तक बोली जाती है। अन्य भाषाएँ भी चित्राल तथा समीपवर्ती प्रदेशो मे बोलते सुनी जाती हैं किन्तु केवल आगन्तुको के मुख से ही। निश्चत रूप से ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत, आप्रवासियो के उत्तरी हुजा प्रदेश (गुह्याल) के उपनिवेशवासियो द्वारा बोली जानेवाली युद्गा तथा वखी के अतिरिक्त, इनमे से कोई भी भाषा मातृभाषा के रूप मे नही व्यवहृत होती। इन दोनो के आँकडे एकत्र करने मे भी सर्वेक्षण असफल रहा है। वखी और शिग़नी के सम्बन्ध का हमारा ज्ञान शॉ के अनुसन्धानो पर अवलम्बित है। सर आरेल स्टाइन द्वारा प्रदत्त इश्काश्मी से सम्बन्धित तथ्य रॉयल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित ग्रन्थ मे जेब की भाषा सबधी मेरी खोजो के सर्वेक्षण के परिणामो के साथ सश्लिष्ट कर दिये गये हैं। मुजानी तथा उसकी बोली युद्गा के सम्बन्ध मे बहुत कम ज्ञात हो सका है। युद्गा के शब्दसमूह तथा व्याकरण की एक सक्षिप्त रूपरेखा जनरल बिद्दुल्फ ने प्रस्तुत की है। वस्तुत सर्वेक्षण द्वारा उपस्थित किये गये

नवीन तथ्यो के पूर्व, मुजानी के सम्बन्ध मे छात्रो की जानकारी तथा बाद की अन्य रचनाओ के लिए यही आधारभूत थी। भाषाशास्त्रियो के लिए गल्च भाषाएँ बडे महत्व की है। इनके व्याकरणसम्बन्धी कतिपय रूप दक्षिण की दर्दीय भाषाओ के समान है और इस प्रकार ये दर्दीय एव ईरानी भाषाओ की जोडनेवाली कडी हैं।

दसवाँ अध्याय

दर्दीय अथवा पिशाच शाखा

निष्क्रमण-मार्ग

ऊपर हम यह देख चुके है कि फारस मे वस जानेवाले आर्यों की भाषा साधारणतः ईरानी भाषाओ के रूप मे पल्लवित हुई, जब कि भारत की ओर अग्रसर होने वाले आर्यो से जो पृथक हो गये थे, उनकी भाषा के विकास की गति वडी मन्द रही। इसने एक लम्बे समय तक मूल आर्यो की सयुक्त भाषा की विशेषताओ को सँजोये रखा। प्राचीन ईरानी भाषा के विकास के आदि-युग मे—जब कि फारस के आर्यो ने मूल आर्यभाषा के अधिकाश रूपो को सुरक्षित रखा, और इसकी तथा भारतीय आर्य-भाषाओ की सामान्य विशेषताएँ वहुत कुछ समान थी—कतिपय ईरानी आर्यो ने, हिन्दूकुश के उत्तर से पूर्व की ओर निष्क्रमण कर पामीर प्रदेश को अधिकृत कर लिया। वहाँ से उन्होने एक दल या अनेक दलो के रूप मे, हिन्दूकुश को दक्षिण की ओर से पार कर उस देश मे प्रवेश किया जो आज दर्दिस्तान के नाम से विख्यात है।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग मे यह देश हुन्जा-नगर मे पाये जाने वाले आर्येतर भाषा—बुरुशस्की-भाषियो— के पूर्व-पुरुषो द्वारा आवाद था। यह वहुत संभव है कि वे पश्चिमोत्तर भारत के आदिवासियो के अवशेष रहे हो, और प्रथम भारतीय आर्य-आक्रमणकारियो के आगमन पर वहाँ भगा दिये गये हो। इस ऊवड-खावड

१. विकास की अवस्था पर विचार न करते हुए हम इसको दूसरे ढंग से भी कह सकते हैं, वह यह है कि फारस के मूल आर्यों के कवीलो की अपनी वोलियाँ थीं और इनमे से कुछ वोलियाँ अन्य बोलियो की अपेक्षा ईरानी के रूप मे विकसित हुईं। इस अवस्था मे दर्द लोगो के पूर्वज भी एक कवीले या कबीलों के समूह होगे और इनकी वोली भारत मे गमन करनेवाले आर्यों की बोली से समानता रखते हुए भी वही नहीं थी।

तथा वर्वर देश मे उत्तर से आनेवाले आर्य आक्रमणकारियो की भाषा निश्चित रूप से वहाँ के पूर्व-निवासियो की उस आर्येतर भाषा से प्रभावित हुई, जो अपने ढग से विकसित हुई थी। यह न तो ईरानी थी और न भारतीय ही, वरन् दोनो के मध्य की भाषा थी। अन्य परवर्ती ईरानी-भाषियो ने उनका अनुसरण किया और उपरिलिखित गल्च भाषा-भाषियो के पूर्व-पुरुषो के रूप मे पामीर प्रदेश मे वस गये। इस प्रकार हम वर्तमान युग मे हिन्दूकुश को दो ऐसी भाषाओ के विभाजक के रूप मे पाते हैं, जिनका सम्बन्ध एक दूसरी से अधिक दूर का नही है। ये है, उत्तर मे पामीर की गल्च भाषाएँ, जो वास्तविक ईरानी हैं, और दक्षिण मे अर्ध-ईरानी दर्दीय भाषाएँ। इसके अतिरिक्त दर्दिस्तान की भाषागत परिस्थितियो के अध्ययन के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मूल आर्यों के इधर आकर वस जाने के अतिरिक्त, सरलता से प्रवेश योग्य क्षेत्रो मे परवर्ती गल्च लोगो के कई आक्रमण हुए। इससे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि काफिरिस्तान के दुर्गम प्रदेश की दर्दीय भाषा की अपेक्षा, पामीर से वडी आसानी से प्रवेश योग्य, चित्राल घाटी की खोवार भाषा का ग़ल्च भाषाओ से कही अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नामकरण

दर्दिस्तान के निवासियो का प्राचीन साहित्य मे प्राय उल्लेख मिलता है। संस्कृत साहित्य मे इन्हे 'दारद' अथवा 'दरद' कहा गया है। यह नाम केवल भौगोलिक ग्रन्थो मे ही अनेक वार नही मिलता वरन् महाकाव्यो तथा पुराणो मे भी इसका प्रयोग हुआ है। हेरोडोटस ने यद्यपि यह नाम नही दिया है तथापि उसने अपने "सोना खोदनेवाली चिटियो" के प्रसिद्ध विवरण (III पृष्ठ १०२) मे इसका उल्लेख किया है। ये नाम हैं—टालेमी का 'दरद्राइ', स्त्राबो का 'देर्दाइ', प्लिनी तथा नोन्नुस के 'दर्दाय्' और दायोनिसिओस पेरियेगेतेस का दर्दनोई। पश्चिमोत्तर भारत के अन्य निवासियो के साथ, भारतीय विद्वान् उन्हे 'वर्वर' अथवा 'नष्ट आर्य' कहकर पुकारते थे। उनके रीति-रिवाज भी बडी घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। उनके मनुष्यभक्षी होने की कथाएँ भी लोकप्रचलित थी। इसीलिए अन्य उपयुक्त नामो मे उन्हें "पिशाच" शब्द से विभूषित किया गया, जिसका प्रयोग मनुष्य के मास पर निर्भर रहनेवाले "राक्षस" के अर्थ मे किया जाता है। यह कहा नही जा सकता कि पिशाच उनका जातीय नाम था जिसका अर्थ वाद मे विस्तृत

होकर इस प्रकार का दैत्य हो गया अथवा केवल बुराई करने के लिए दर्द-देश के निवासियो को कच्चा मास खानेवाला कहा गया। इनके सम्बन्ध मे इतना अवश्य ज्ञात है कि लोग इनकी भाषा के अध्ययन मे प्रवृत्त रहे[1] और भारतीय वैयाकरणो ने पैशाची के अन्तर्गत इसका विवरण भी दिया है। यही कारण है कि इस सर्वेक्षण के प्रारम्भिक भागो मे, मैंने दर्द भाषा के विभिन्न रूपो का सामूहिक रूप से 'पिशाच भाषा' नाम दिया है, किन्तु चूंकि 'पिशाच' शब्द के द्व्यर्थक होने से भ्रम एव निरादर की भावना उत्पन्न हो सकती है, इसलिए बाद के भागो मे मैंने यह नाम छोड दिया और अब उसे 'दर्द' नाम से ही पुकारता हूँ।

दर्दिस्तान

दर्द भाषाओ का वर्तमान देश, दर्दिस्तान, पूर्व से पश्चिम, गिलगित तथा कश्मीर, सिन्ध और स्वात, कोहिस्तान, चित्राल और काफिरिस्तान को अपनी सीमाओ मे समाविष्ट करता है। काफिरिस्तान ब्रिटिश सीमा के अन्तर्गत नही है किन्तु पूर्णता की दृष्टि से उसकी भाषाओ के अध्ययन का भी प्रयत्न किया गया है। दर्द-भाषाओ के रूप अफगानिस्तान के सीमावर्ती—लग़मन, निग्रहार—और तिराही प्रदेशो मे भी पाये जाते हैं। तिराही प्रदेश की दर्द भाषा किसी समय तीरा घाटी मे बोली जाती थी जहाँ अब अफरीदी पठानो का निवास है। प्राचीन काल मे दर्द भाषाओ का क्षेत्र और भी विस्तृत था। किसी समय तो बाल्टिस्तान तथा पश्चिमी तिब्बत तक इनका प्रसार था। अब इधर के निवासी तिब्बती-बर्मी भाषाएँ बोलते हैं।[2] शास्त्रीय दृष्टि से भाषाओ के अध्ययन से इस बात का स्पष्ट सकेत मिलता है कि किसी समय सम्पूर्ण पजाब पर दर्द भाषा-भाषियो का अधिकार

१. यह सम्भव है कि भारतीय वैयाकरणो ने जिस भाषा का अध्ययन किया वह मूल दर्द भाषा नहीं थी, अपितु वह उत्तर-पश्चिमी भारत की आर्यभाषा थी, जो दर्द लोगो के मुख मे पडकर भ्रष्ट रूप में उच्चरित होती थी।

२. इन भाषाओ का प्रसार लद्दाख-स्थित लेह के आगे खलत्से तक था। इस सम्बन्ध मे ए० एच० फ्रैन्के का जे० ए० एस० बी०, खण्ड ६३ भाग १, १९०४ के पृष्ठ ३६२ तथा उसके आगे के पृष्ठो में 'ए लैंग्वेज् मैप ऑफ वेस्ट तिब्बत' शीर्षक लेख देखें; तथा उसी विद्वान् लेखक का १९०६ के एम० ए० एस० बी० के ४१३

अवश्य रहा होगा, क्योकि उस प्रान्त की वर्तमान पजाबी और लहँदा भाषाओ मे आज भी प्राचीन दर्द-भाषाओ के रूप मिलते है। इसी प्रकार अफरीदी प्रदेश के दक्षिणस्थित पश्चिमी अफगानिस्तान की ओर्मुडी भाषा मे दर्द भाषा के अवशेष मिलते हैं, यद्यपि यह हम देख चुके हैं कि यह ओर्मुडी ईरानी भाषा ही है। अतएव यह निश्चित है कि ओर्मुडी-भाषियो के बसने के समय, वज़ीरिस्तान मे दर्द लोग अवश्य ही रहे होगे। इसके और भी दक्षिण मे लगरी पर्वतमालाओ की खेत्रान जाति के लोग दर्द भाषा के विभिन्न रूपो से मिश्रित एक विचित्र प्रकार की वर्ण-सकर लहँदा भाषा का व्यवहार करते हैं। इससे भी दक्षिणस्थित सिन्धी मे दर्द भाषा के लक्षण मिलते हैं, किन्तु साहित्यिक भाषा की अपेक्षा दक्षिणी सिन्ध की लाडी नामक ठेठ ग्रामीण भाषा मे ये लक्षण अधिक वर्तमान है। यहाँ से जब हम उत्तर की ओर उन्मुख होते हैं तो चम्बा से नेपाल तक, हिमालय के तराई प्रदेश की भारतीय आर्यभाषाओ मे स्पष्ट रूप से दर्द-भाषा के अवशेष मिलते है। खस लोग दर्द-वशीय थे। उन्होने इस समूचे प्रदेश को किसी समय जीत लिया था और इसे अपनी भाषा से प्रभावित भी किया था।[1] किन्तु बात इतनी ही नही है। पश्चिमी मध्यभारत की भीली भाषाओ तथा सुदूर दक्षिण मे गोआ की कोकणी-मराठी मे भी हमे यत्र-तत्र ऐसे तत्त्व मिलते है, जिनकी व्याख्या तब तक सभव नही, जब तक कि हम उन पर प्राचीन

दर्द भाषा के तीन वर्ग

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
काफिर वर्ग		
खोवार वर्ग		१२१
दर्द वर्ग	११,९५,९०२	१३,०४,१९८
योग	११,९५,९०२	१३,०४,३१९

तथा उसके आगे के पृष्ठों मे प्रकाशित " दर्द ऑफ खलत्से इन वेस्टर्न तिब्बत" निबन्ध देखें।

१. खण्ड IX, भाग IV, पृष्ठ २ और उसके आगे।

दर्द भाषा का प्रभाव[1] न मान लें। अन्ततोगत्वा यह तो भलीभाँति विदित ही है कि यूरोप के जिप्सी तथा आर्मेनिया एव सीरिया के निवासी उनके सजातीय वन्धु, अपने वर्तमान निवासस्थान मे, भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से होकर ही गये थे। निस्सन्देह रोमनी भाषा मे आज भी ऐसे अनेक रूप मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति दर्दीय भाषा की सहायता से ही की जा सकती है।

आधुनिक दर्द भाषा के तीन वर्ग हैं—काफिर, खोवार और दर्द। इनमे से खोवार एक ही भाषा के रूप मे स्थित है, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह अन्य भाषाओ से प्राय. भिन्न है। सर्वेक्षण मे, दर्द वर्ग के एक भाग के अतिरिक्त अन्य किसी की भी जनसख्या उपलब्ध नही है।

काफ़िर वर्ग

काफ़िर वर्ग की चार विभाषाएँ काफिरिस्तान अथवा विधर्मियो के देश मे बोली जाती हैं। यह चित्राल के पश्चिम, पर्वतमालाओ से घिरी अफगान सीमा के अन्तर्गत पडता है। यहाँ 'काफिरी' नाम की कोई भाषा नही है, यद्यपि बहुधा लिखा यही जाता है।[2] यह देश कई कबीलो की भाषाओ मे विभाजित है। इनमे से सर्वेक्षण मे वर्णित चार इस प्रकार हैं—बशगली, वाइअला, वासिवेरी अथवा वेरोन तथा अश्कुन्द। इनके अनन्तर ऐसी पाँच भाषाएँ और हैं, जिनका वास्तव मे क़ाफ़िरी भाषा से निकट का सम्बन्ध है, किन्तु वे काफिरिस्तान में बोली नही जाती।

कलाशा-पशई उपवर्ग

ये कलाशा-पशई उपवर्ग के अन्तर्गत आती हैं। ये हैं—कलाशा, गवरबति अथवा नर्साती, पशई, लगमानी या देह्गानी, दीरी और तिराही। इनमे से किसी के भी आँकडे उपलब्ध नही हैं।

१. खण्ड IX, भाग III, पृष्ठ २, खण्ड VII पृ० १६८।

२. एक चतुर भद्रपुरुष ने इस देश के वर्णन मे इसका एक नमूना उपस्थित किया था। किन्तु परीक्षण करने पर यह दक्षिण अफ्रीका का अमजुलु काफिर सिद्ध हुआ।

बशगली

काफिरिस्तान की बशगल नदी हिन्दुकुश के दक्षिणी भाग से प्रवाहित होकर नर्सत के निकट चित्राल नदी मे गिल जाती है। इसका काँठा ही वस्तुत बशगली काफिरी भाषा का क्षेत्र है। साधारणतया यह सियाह-पोश (कालावस्त्र धारण करनेवाले) काफिरो की बोली है। ऐसा प्रतीत होता है कि काले रग का वस्त्र धारण करनेवाली समस्त जातियाँ जब आपस मे मिलती है, तो एक दूसरे को शीघ्र ही पहचान लेती हैं और बिना किसी हिचक के सरलतापूर्वक वार्तालाप भी करती हैं। सर्वेक्षण के लिए एकत्र की गयी सामग्री के अतिरिक्त इस दिलचस्प भाषा का कर्नल डेविड्सन द्वारा लिखित एक व्याकरण भी उपलब्ध है।

वाई

सफेद पोश (श्वेत वस्त्रधारी) काफिर मध्य तथा दक्षिण-पूर्व काफिरिस्तान मे निवास करते हैं। इनके तीन कबीले हैं—वाई, प्रेसुन या वेरोन और अश्कुन्द। वाई जाति की भाषा का बशगली से निकटतम सम्बन्ध है। यह वैगल नदी के निचले काँठे मे बोली जाती है। वैगल नदी काफिरिस्तान के भीतरी क्षेत्र से निकलती है और वेजगल नदी (जिसके काँठे मे वासिवेरी भाषा बोली जाती है) से मिलकर अस्मर के निकट कुनार प्रदेश में प्रवेश करती है।

वासिवेरी

यहाँ प्रेसुन लोग बशगल क्षत्र के पश्चिम मे उस देश के मध्य की एक अगम्य उपत्यका मे निवास करते हैं। इनकी भाषा का नाम वासिवेरी अथवा वेरोन है। यह बशगली से नितान्त भिन्न है। इन दोनो ही भाषाओ के बोलनेवाले परस्पर एक-दूसरे की भाषा समझने मे असमर्थ रहते हैं। वाई और वासिवेरी का सर्वेक्षण मे पहली ही बार वर्णन आया है। वासिवेरी के नमूने तो वडी कठिनाई से प्राप्त किये जा सके हैं। इसके विषय मे हमे जो कुछ भी ज्ञात है उसका आधार एक जगली एव भयभीत भेड चरानेवाले प्रेसुन की भाषा है जिसे सीमान्त प्रदेश के दौत्य कार्य करनेवाले कर्मचारी फुसलाकर इस कार्य के लिए चित्राल लाये थे। इसकी व्याख्या भी एक बशगाली-भाषी शेख ने की थी जो उसकी भाषा से थोडा परिचित था।

अश्कुन्द

शेष भाषा अश्कुन्द, प्रेसुन लोगो से आवाद दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र मे वोली जाती है। इसके नाम, स्थान तथा इस वात के अतिरिक्त कि यह काफिरो के लिए अवोध्य है,[1] इसके सम्वन्ध मे हमे कुछ भी ज्ञात नही है। प्राय. इस वर्ग की भाषा के सभी वोलनेवाले ब्रिटिश भारत की सीमा के उस पार रहते हैं। इनमे से अधिकाश वस्तुत अफगानिस्तान के सम्राट् की प्रजा हैं।

कलाशा

कलाशा काफिरो की वस्तियाँ वशगल तथा चित्राल नदियो के दोआवे मे हैं किन्तु वास्तविकता यह है अव वे 'काफिर नही रहे, क्योकि उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया है। अव वे चित्रालियो की प्रजा हैं यद्यपि वशगली उन्हे अपना दास मानते हैं। सर्वेक्षण के पूर्व डा० लेटनर का ग्रन्थ ही इस जाति की भाषा के सम्वन्ध मे एकमात्र प्रामाणिक कृति थी। चित्राल नदी के नीचे की ओर इसके और वशगल नदी के सगम के निकटवर्ती नर्सत प्रदेश मे, गवर लोग निवास करते है। इनकी भी अपनी भाषा है, जो 'गवर वति' या 'गवर वोली' के नाम से विख्यात है। इसके शब्द-समूह का अध्ययन जनरल विडुल्फ ने 'नरिसति' शीर्षक के अन्तर्गत किया है।

१. उपर्युक्त विवरण लिखे जाने के वाद डाक्टर मार्गेन्सटियर्न को इस भाषा के परीक्षण का सुयोग प्राप्त हुआ, जब वे कावुल गये थे। उन्होंने मुझे यह वताया कि यद्यपि यह वशगली से मिलती-जुलती है तथापि वाई से इसका अधिक निकट का सम्वन्ध है। सन् १८६२ के रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल पृष्ठ १ तथा आगे के पृष्ठो मे प्रोफेसर ट्रम्प ने, 'भारतीय काकेशस के तथाकथित काफिरो की भाषा' का विवरण प्रस्तुत किया है। भाषा-सर्वेक्षण के ग्रन्थ ८, भाग २, पृष्ठ ३१ मे इसका संकेत किया गया है, जहाँ मैंने इस वात का भी निर्देश किया है कि वहाँ की वर्णित भाषा वशगली से मेल खाती है। डाक्टर मार्गेन्सटियर्न ने अव मुझे यह सूचना दी है कि निश्चित रूप से यह अश्कुन्द की किसी न किसी वोली के समान अवश्य है।

दीरी

नर्सत के और पूर्व मे दीर के नवाब का राज्य है। श्री लीच ने सन् १८३८ मे यहाँ 'दीरी' नाम की एक भाषा का पता लगाया था जिसके शब्दो की एक लघु सूची को उन्होने प्रकाशित भी करवाया था। तब से ऐसा प्रतीत होता है कि या तो पश्तो के द्वारा अधिकृत कर लिये जाने के कारण अथवा स्वात कोहिस्तान की निकटवर्ती गर्वी मे मिल जाने से यह भाषा समाप्त हो गयी।

पशई

चित्राल नदी—जो अब कुनार नाम से प्रख्यात है—के नीचे की ओर उसके दक्षिण तट पर पशई लोग निवास करते हैं। सर्वेक्षण के पूर्व उनकी भाषा से सम्बन्धित सामग्री केवल बर्नेस और लीच द्वारा सगृहीत शब्दो की एक छोटी सूची मात्र ही थी। वस्तुत पशई लगमान तथा उसके पूर्व के कुनार क्षेत्र तक के देहगान लोगो की भाषा है। लगमान प्रदेश (टालेमी ने लम्बगाई लोगो के निवास स्थान का उल्लेख किया है) मे बोली जाने के कारण इसे लगमानी कहते हैं, चूँकि इसके अधिकाश बोलने वालो का देहगान वश से सम्बन्ध है इसलिए इसे देहगानी नाम से भी पुकारा जाता है। इस भाषा की सीमा, मोटे तौर पर पश्चिम मे लगमान नदी, उत्तर मे काफिर प्रदेश की सीमा तक, पूर्व मे कुनार नदी और दक्षिण मे काबुल नदी तक है, यद्यपि काबुल नदी के तीरवासी पश्तो बोलते हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी नाम की इसकी दो उल्लेखनीय विभाषाएँ भी हैं।

तिराही

पशई के दक्षिण मे काबुल नदी के उस पार स्थित निग्रहार प्रदेश मे तिराही भाषा, उस जाति के लोग बोलते है, जिन्होने निरन्तर गृहयुद्ध के कारण अपने मूल स्थान तीरा घाटी का परित्याग कर दिया था। ये लोग अपने पडोसियो मे बुरी तरह बदनाम हैं और ये स्वभावत किसी भी बाहरवाले को अपने मूल स्थान का पता नही बताते। सन् १८३८ ई० मे लीच उनके कुछ शब्दो के सग्रह मे सफल हुए थे, किन्तु सर्वेक्षण के समय किसी भी स्रोत से इनके सम्बन्ध मे और सामग्री न प्राप्त हो सकी। सर आरेल स्टाइन की उदारतापूर्ण सहायता के कारण ही सर्वेक्षण के समाप्त हो जाने के बाद, अब मेरे पास उस भाषा का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के लिए यथेष्ट सामग्री आ गयी है। यह परिशिष्ट मे दे दी गयी है।

उनके आधार पर यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इन लिपियों का पशई और गवरबती से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अफगानिस्तान के मध्य में इन दो दर्द भाषाओं का होना नृतत्त्व-विशारदों तथा भाषा-शास्त्रियों के लिए अत्यधिक महत्त्व का विषय है।

खोवार वर्ग

खोवार चित्राल राज्य की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण जाति खोस की भाषा है। इसके पश्चिम मे काफिर भाषाएँ हैं और इसके पूर्व मे गिल्गित तथा निकटवर्ती क्षेत्रों मे शिणा भाषा बोली जाती है। यह शिणा दर्द-वर्ग से सम्बन्धित है। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि काफिर तथा दर्द-वर्ग की भाषाएँ खोवार की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक निकटतापूर्वक सम्बद्ध हैं। दूसरी ओर उत्तर मे पामीर की गल्च. भाषा के सम्बन्धसूत्र खोवार मे भी मिलते हैं किन्तु बाहर की दोनों भाषाओं (काफिर एव दर्द) मे इनका अभाव है। इस प्रकार गल्च की कतिपय विशेषताएँ ग्रहण कर विकसित हुई भिन्न स्वभाववाली यह भाषा दोनों वर्गों को पृथक् छोड़ती हुई उन दोनों के बीच एक पच्चड़ के समान प्रतीत होती है। यह खोस लोगों की अपनी परम्परा से ही सिद्ध हो जाता है, जो उनके ऊपर बाद मे आने का भी संकेत करती है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी, यह निश्चित है कि वर्तमान युग मे खोवार एक दर्दी भाषा ही है, और किसी भी रूप मे गल्च भाषाओं की तरह ईरानी के अन्तर्गत इसका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इसे 'चतरारी' भी कहते हैं, जिसका उच्चारण यूरोप के लोग 'चित्राली' के रूप मे करते है। यह चित्राल तथा यसीन प्रदेश के उस भाग की प्रमुख भाषा है, जिसे शिण लोग 'अरनिह' कहते हैं। अन्तिम शब्द के आधार पर डा० लेटनर इसे 'अर्नियज' भाषा कहते हैं। इसका विस्तार क्षेत्र चित्राल नदी की धारा के साथ-साथ द्रोश तक चला गया है। उत्तर मे यह हिन्दूकुश से घिरा है। इसकी एक भी विभाषा नही मिलती। लेटनर, बिडुल्फ तथा, ओ, ब्रियन इस भाषा के अधिकारी विद्वान् हैं।

दर्द वर्ग

दर्द शब्द का प्रयोग वास्तव मे कश्मीर मे सटे हुए उसके उत्तर मे बसनेवाली सभी जातियो के लिए होना चाहिए, किन्तु वर्तमान समय मे इसका अर्थ-विस्तार हो गया है और दर्दिस्तान की सभी जातियो से इसका तात्पर्य लिया जाता है।

इसी को आधार मानकर मैंने दर्दिस्तान की समस्त भाषाओ के लिए 'दर्दीय' शब्द का प्रयोग किया गया है, और 'दर्द' शब्द को पूर्वीय दर्दिस्तान की—शिणा, कश्मीरी तथा कोहिस्तानी वर्ग की भाषा के लिए सुरक्षित रखा है। शिणा गिलगित की घाटी तथा बाल्टिस्तान से तगीर नदी तक की सिन्धु के काँठे की भाषा है। यह दक्षिण-पूर्व की ओर तगीर नदी तक विस्तृत है, और उधर, यह बाल्टिस्तान एव कश्मीर घाटी के मध्यवर्ती विशाल पर्वतीय प्रदेशो को अपने मे समेटे हुए है। इस

दर्द वर्ग की भाषाएँ

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
शिणा	..	२८,४८२
कश्मीरी	११,९५,९०२	१२,६८,८५४
कोहिस्तानी	..	६,८६२
योग	११,९५,९०२	१३,०४,१९८

प्रकार यह वास्तव मे दर्द-देश की भाषा है और इस वर्ग की अन्य सभी भाषाओ से कही अधिक विशुद्ध है। जैसा कि पिछले पृष्ठो मे लिखा जा चुका है, पूर्व युग मे यह अपनी वर्तमान सीमाओ के पार तक प्रसरित थी और बाल्टिस्तान एवं पश्चिमी तिब्बत तक इसका विस्तार था। इधर अब तिब्बती-बर्मी भाषाओ ने पुन प्रसार पा लिया है। इसकी कई सुनिश्चित विभाषाएँ है, जिनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण गिलगित काँठे की 'गिलगिती' है। शिणा देश मे बोली जानेवाली विभाषाओं के अतिरिक्त इधर बाल्टियो द्वारा पुकारी जानेवाली 'ब्रोक्पा' अथवा 'पर्वतीय बोली' आदि उपभाषाएँ भी है। यह ब्रोक्पा द्रस की भाषा है, जो गुरेज मे बोली जानेवाली शिणा से किंचित् ही भिन्न है। स्कर्दु की ब्रोक्पा आस्तोर के शिणा के समान ही है। किन्तु शिणा का एक पृथक एव विचित्र उपनिवेशीय रूप, जो बाल्टिस्तान तथा लद्दाख की सीमारेखा के निकट बोला जाता है डाह् और हनू की ब्रोक्पा के नाम से विख्यात है। यह किसी समय सुदूर पूर्व मे बोली जानेवाली दर्द-भाषा का अवशेष मात्र है। वास्तविक दर्द-देश से दूर, तिब्बती-भाषी प्रदेश के मध्य भाग मे बोली जानेवाली यह विभाषा, अन्य दो ब्रोक्पा बोलियो से इतनी अधिक भिन्न है कि लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा समझ नही पाते। नित्य-व्यवहार के लिए उन्हें तिब्बती-बाल्टी का सहारा

लेना पड़ता है। शिणा के सम्बन्ध मे कई अधिकारी विद्वानों ने लिखा है, जिनमे सर्वप्रथम है लेटनर और विडुल्फ। इसके बाद कर्नल लारीमर तथा डा० ग्राहम वेली ने इसका सुचारु रूप से अध्ययन किया है। इसी प्रकार डाह्-हनू बोलियो का विवरण शॉ ने प्रस्तुत किया है।

कश्मीरी

कश्मीरी का क्षेत्र कश्मीर की घाटी तथा उसके दक्षिण-पूर्व की निकटवर्ती उपत्यकाएँ हैं। इन सीमाओ के परे यह राष्ट्रभाषा के रूप मे नही प्रयुक्त होती। पजाब मे यह कश्मीर से आए हुए लोगो, विशेष कर पण्डितो, जुलाहो तथा बढइयो द्वारा बोली जाती है। उत्तर प्रदेश मे कतिपय कश्मीरी परिवार स्थायी रूप से बस गये हैं। ये सभी प्राय शिक्षित तथा हिन्दू हैं। कश्मीरी एक मिश्रित भाषा है। इसका आधार दर्द भाषा है जिसका शिणा से निकट सम्बन्ध है। यदि इसके जटिल उच्चारण के सम्बन्ध मे न भी विचार करें तो भी निश्चित रूप से यह मूलत दर्दीय है। इसकी हैप्पीवैली मे भारतवर्ष से बहुत लोग आकर बस गये हैं। शताब्दियो पूर्व से ही यह सस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र रही है और इसके क्षेत्रीय साहित्य का विकास भी सस्कृत साहित्य के आधार और आदर्श पर हुआ है। इस प्रकार किसी भी साधारण निरीक्षक, यहाँ तक कि स्वत. विद्वान् कश्मीरियो के लिए भी यह मराठी और हिन्दुस्तानी की ही भाँति वास्तविक भारतीय भाषा प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ की सम्पूर्ण सभ्यता भारतवर्ष से ही आयी है और दर्दिस्तान की केवल यही एक ऐसी भाषा है जो साहित्यिक रूप मे विकसित हुई है। अत्यन्त प्राचीन काल से किसी भी विद्वान् ने कश्मीर की विद्वता एव प्रतिभा का उस रूप मे मूल्याकन नही किया है जिस रूप मे वर्तमान लेखक ने। कश्मीर मे प्रचलित दन्त-कथाओ के अनुसार भारत के ही लोग कश्मीर मे बसे। बहुत सभव है कि अभिजात वशो के प्रति यह सत्य भी हो, किन्तु किसी भी भाषाशास्त्री को ऐसा सन्देह करने का कोई कारण नही है कि कश्मीरी भाषा का मूलाधार दर्दीय नही है। पिछले तीस वर्षो से कश्मीरी भाषा का अध्ययन किया जा रहा है। अब हमारे पास इसका एक पूर्ण व्याकरण है तथा इसके शब्दकोश का सग्रह-कार्य भी पूर्ण होने जा रहा है। भाषा-शास्त्रियो के लिए यह बड़ी रुचि का विषय है कि अब यह भाषा विश्लेषणात्मकता से सश्लेषणात्मकता मे रूपान्तरित होने लगी है। अपिनिहित के अत्यधिक प्रयोग के कारण विदेशियो के

लिए इसका उच्चारण उतना ही कठिन हो गया है, जितना कि अंग्रेजी का। इसकी ध्वनियो मे स्वरभग भी उतना अधिक है कि वे सरलतापूर्वक लिपिबद्ध नही की जा सकती। साधारण रूपान्तरो के अतिरिक्त कश्मीरी की एक विशिष्ट उपभाषा कष्टवारी भी है, जो मुख्य घाटी से दक्षिण-पूर्व के किश्तवार क्षेत्र मे बोली जाती है। घाटी के दक्षिण मे भी तीन-चार मिश्रित बोलियाँ मिलती हैं, जो पजाबी की ओर उन्मुख हैं। कश्मीरी का एक महत्वपूर्ण विभाजन इस प्रकार भी हो सकता है—मुसलमानो की कश्मीरी (जो सख्या मे अधिक किन्तु अशिक्षित हैं) और हिन्दुओ की कश्मीरी (जो अल्पसख्यक तथा शिक्षित हैं)। मुसलमानी कश्मीरी ने विदेशी —खास कर फारसी शब्दो को उनके विकृत रूपो मे ग्रहण कर लिया है। हिन्दुओ

कश्मीरी

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	१०,३९,९६४
कष्टवारी	७,४६४
मिश्रित बोलियाँ	४५,३१६
अनिर्णीत	१,०३,१५८
योग	११,९५,९०२

की कश्मीरी फारसी के मिश्रण से बहुत कुछ मुक्त है, और पडितो की घरेलू भाषा मे तत्सम शब्दो का व्यवहार नही के बराबर होता है। इसके शब्द-समूह का अधिकाश भाग विशुद्ध तद्भवो से निर्मित है।[1]

कश्मीर मे अधिकाश साहित्य सस्कृत मे लिखा गया है। उसे उसके अनुरूप ख्याति भी मिली है। कतिपय विशिष्ट ग्रन्थो की रचना कश्मीरी मे भी हुई है, जिनमे शैवमत सम्बन्धी कविताएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। ये कविताएँ कवयित्री लाल देद द्वारा लिखी गयी है। इसी प्रकार एक रामायण तथा कृष्णचरित् की रचना भी कश्मीरी मे उपलब्ध है। कश्मीर मे इसकी दो लिपियाँ प्रचलित है। इनमे से

१. तत्सम और तद्भव के सम्बन्ध मे पृष्ठ २५० देखें।

एक तो फारसी मे कुछ परिवर्तन करके वनायी गयी है और मुसलमानो मे प्रचलित है। दूसरी लिपि शारदा है। यह प्राचीन लिपि है और नागरी से वहुत मिलती जुलती है। हिन्दू लोग आज भी इसका व्यवहार करते हैं। गत शताब्दियो के प्रारम्भ मे सिरामपुर के मिश्नरियो ने वाइविल का कश्मीरी अनुवाद शारदा लिपि मे प्रकाशित कराया था किन्तु आधुनिक अनुवाद फारसी लिपि मे है।

कोहिस्तानी

सिन्धु नदी, वाल्तिस्तान से निकलने के पश्चात् मोड़ लेती हुई वहुत कुछ पश्चिम दिशा की ओर चिलास प्रदेश मे तव तक चलती जाती हैं, जव तक कि कडिया नदी इसमे मिल नही जाती। कडिया नदी का उद्‌गम-स्थान चिलास और चित्राल के उत्तर मे स्थित दुर्गम पर्वतमालाओ मे है। इस स्थान मे इसके व्रिटिश सीमा मे प्रवेश करने तक, सिन्धु नदी दक्षिण दिशा की ओर उन गिरिश्रृखलाओ के मध्य से प्रवाहित होने लगती है, जो सामूहिक रूप से सिन्धी कोहिस्तान के नाम से विख्यात है।

मैयाँ

यह पर्वतीय जातियो से आवाद है, जो शिणा से सम्वन्धित विभिन्न प्रकार की दर्द भाषा वोलती हैं। इनमे लहँदा तथा पश्तो का मिश्रण रहता है। इसका नाम है सिन्धी कोहिस्तानी अथवा मैयाँ।

गार्वी, तोरवाली

सिन्ध-कोहिस्तान के पश्चिम मे क्रमश स्वात, पजकोर तथा कुनार नदियो के काँटे पडते है। इनमे से प्रथम दो क्रम से स्वात तथा पजकोर कोहिस्तान के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ की अधिकाश जनता की भाषा पहले तो मैयाँ से सयुक्त दर्द की एक विभाषा थी, लेकिन अव पठान-शासन होने के कारण यहाँ की भाषा स्थायी रूप से पश्तो है। कुछ थोड़े से ही सनातनी लोग ऐसे हैं जो प्राचीन भाषा से अव भी चिपके हुए हैं, यद्यपि उन्होंने आर्य-धर्म का परित्याग कर दिया है। वे जिस वोली का नित्य व्यवहार करते हैं, वह गार्वी और तोरवाली नाम से प्रसिद्ध है। कोहिस्तानी विभाषाएँ वोलनेवाली जातियाँ कलाप्रियता के लिए प्रसिद्ध नही हैं और कोहिस्तानी मे किसी भी प्रकार के साहित्य का अभाव है। इसके वोलनेवालो की सख्या के आँकड़े भी उपलब्ध नही हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

भारतीय आर्यशाखा—भूमिका

क्रमानुगत निष्क्रमण

पहले हम यह देख चुके हैं कि आर्य लोग सयुक्त समूह के रूप मे ईरान आये थे। उनकी भाषा के ईरानी रूप मे विकसित होने के पूर्व के प्रारम्भिक युग से ही उनमे से कुछ लोग पूर्व की ओर बढते हुए भारत मे आते रहे। हमे यह कल्पना नही करनी चाहिए कि यह सब एक ही आक्रमण मे हुआ होगा। एक के बाद दूसरी लहर की भाँति वे आगे बढते गये और सर्वप्रथम अफगानिस्तान को उन्होने अपना निवास-स्थान बनाया। वहाँ से अन्य लहरो के रूप मे वे कावुल की घाटी से होकर भारत मे प्रविष्ट हुए।[1] इस क्रमागत प्रगति के चिह्न हमे वेदो मे भी मिलते हैं। यदि प्रोफेसर हिलेब्राट का निष्कर्ष ठीक है,[2] तो जिस जाति पर राजा दिवोदास शासन करते थे वह

१. यह प्रायः स्वीकृत विवरण है। इसे लिखते समय श्री पार्जिटर ने (Mr. Pargiter) ने अपने एंशेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन (Ancient Indian Historical Tradition) मे एक नवीन तथा यत्किंचित् आश्चर्य मे डाल् देनेवाला यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि आर्य लोग उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की ओर से भारत मे प्रविष्ट नहीं हुए, अपितु वे मध्य हिमालयवर्ती क्षेत्र से आये। यह ऐसा मत है जिसे स्वीकार या अस्वीकार करने के पूर्व पर्याप्त वाद-विवाद की अपेक्षा है। इस सम्बन्ध मे इस प्रकार का वाद-विवाद आज तक नहीं हुआ है। वास्तव मे यह प्रश्न भाषाशास्त्रियो की अपेक्षा नृ-विज्ञानियो तथा इतिहास के पण्डितो से अधिक सम्बन्ध रखता है। अत. इस प्रश्न के पक्ष-विपक्ष मे बिना कुछ कहे ही यहाँ पर आर्यों द्वारा भारत के आक्रमण के उस सिद्धान्त को ही मान लिया जाता है जो सामान्य रूप से स्वीकृत है।

२. 'वेदिशे माइथालोजिए' (Vedische Mychologie, 1,107 etc.)।

आर्कोशिया (कन्धार) की निवासिनी थी, जब कि उनके वशज सुदास के राज्यकाल मे, उसके सदस्य सिन्धु नदी के तट पर पहुँच गये थे और उस समय तक अपने पूर्वजो के पराक्रम की गाथाओ को पौराणिक गाथाओ का रूप दे चुके थे। इसमे निश्चित रूप से कई युग लगे होगे। यहाँ यह बात सरलतापूर्वक स्वीकार की जा सकती है कि आदिमयुग मे, जब हमे भारतवर्ष का बहुत थोडा ज्ञान था, पजाब भारतीय आर्यो के कई जनवर्गो (ट्राइब्ज) के अधिकार मे था। यह निश्चय नही है कि एक जन-वर्ग का दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार था और वे बहुधा विभिन्न बोलियाँ बोला करते थे। प्राय प्रत्येक नूतन जन-वर्ग लहर के रूप मे पश्चिम से आया। यहाँ आकर उसने पूर्वागत आर्यो को या तो एक ओर ढकेल दिया या उन्हे चारो ओर से घेर लिया।

प्राचीनतम लेख

इस युग के भारतीय आर्यो की भाषा के नमूने हमे उनके प्राचीनतम लेखो वेदो मे मिलते हैं। हमे यह भी ज्ञात है कि यहाँ भी आर्य लोग ठीक उन्ही नामवाले देवताओ की अर्चना करते रहे जिनका ज्ञान उनके मण्डा देश-स्थित पूर्वज आर्यो को भी था। वैदिक मत्रो की रचना विभिन्न युगो एव विभिन्न स्थानो मे हुई थी। इस रचना मे समय एव स्थान दोनो का अत्यधिक व्यवधान था। इनमें से कतिपय मत्रो की रचना आर्कोशिया (वर्तमान अफगानिस्तान) मे हुई थी[1], किन्तु कुछ मत्र यमुना के तटवर्ती प्रदेशो मे रचे गये थे। इसके सग्रहकर्त्ताओ ने इन मत्रो का वर्तमान रूप मे इस प्रकार सम्पादन किया कि बोलीगत अन्तरो के बहुत थोड़े से लक्षणो को आज सरलतापूर्वक पहिचाना जा सकता है। यह सत्य है कि इस प्रकार की गवेषणा

१. प्रो० हर्टेल [Prof Hertel] की यह निश्चित धारणा है कि आर्यों के भारत आगमन के पूर्व ही ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओ की रचना ईरान में हो चुकी थी। और उनका यह भी मत है कि ईरान से आर्यों के निष्क्रमण के पूर्व की ये सबसे पवित्र ऋचाएँ थीं। देखो 'Das Brahman' in 'Indogermanische Forschungen' XLI, p 188 । यह सर्वथा सम्भव है और ये आर्यों (मण्डा) देवताओ के जो नाम मितन्नी मे खोज करने पर मिले हैं, उनसे मिलते जुलते हैं।

का उचित प्रयास किया गया है किन्तु वास्तविकता यह है कि तथ्य रूप मे उपस्थित ऋचाओ की भाषा से तुलना करने पर वे विशेष महत्व के नही ठहरते।[1]

पूर्वापर-देशान्तर-गमन का सिद्धान्त

लहरो के रूप मे आनुक्रमिक आक्रमणो को एक दूसरे से पृथक् करना असम्भव है किन्तु प्रथम और अन्तिम मे भेद करना अत्यन्त सरल भी है। सन् १८८० ई० मे

१. वैदिक मन्त्रो की भाषा जिस रूप मे आज मिलती है, वह निश्चित रूप से उस समय की अथवा उससे थोड़ी पुरानी है, जिस समय इसके सम्पादको ने इसका पाठ तैयार किया था। इसके पूर्व ये मन्त्र मौखिक परम्परा के रूप मे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मे आते रहे और जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया अनजान मे ही प्रत्येक पीढ़ी भाषा के (उच्चारण मे) यत्किंचित् परिवर्तन करती गयी। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी मे भाषा का जो परिवर्तन हुआ वह अत्यल्प था, किन्तु कई शताब्दियो को मिलाकर यह परिवर्तन अधिक हो गया। यदि हम इस बात को मान भी लें कि मन्त्रो की पवित्रता कट्टरता के साथ सुरक्षित की जाती थी और वे शब्द अपरिवर्तित रूप मे सुरक्षित रखे जाते थे, जो या तो विशेष रूप से पवित्र थे या जिनके अर्थ का लोगो को बोध न था, तिस पर भी हमे स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस मूल भाषा में प्राचीनतम मंत्रो की रचना हुई थी, वह इससे जरूर भिन्न रही होगी और वह आज के प्राचीनतम ढंग से सुरक्षित भाषा की अपेक्षा भी बहुत ही प्राचीन विकास की अवस्था मे होगी। इस सम्बन्ध मे प्रो० एच० ओल्डेनवर्ग (H Oldenwerg) कृत डाइ हिम्स डे ऋग्वेद (Die Hymnen Des Rigveda, Vol I pp. 370 तथा इसके आगे) तथा प्रो० वाकरनागल कृत आल्टिन्डीशे ग्रामेटिक (Prof Wackernagel's Altindische Grammatic I, p X) तथा डब्लू० पीटर्सन का लेख (W. Petersen) जर्नल ऑफ द् अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी [Journal of the American Oriental Societis, XXXII (1912), p. 419] देखें।

ठीक इसी प्रकार की समता कश्मीरी कवयित्री लालदेद् की रचना मे मिलती है जो १४ वीं शताब्दी मे हुई थी। इसके पदो को पेशेवर गायको ने बहुत सावधानी के साथ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सुरक्षित रखा है, और ये पद गत पाँच सौ वर्षों से केवल मौखिक रूप में ही चलते आये हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि

हार्नले ने[1] यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि भारतवर्ष की वर्तमान तथा उनकी पूर्वज भाषाओ के साक्ष्य से इस मत का समर्थन हो जाता है कि भारत पर एक-एक करके आर्यों के लगातार दो आक्रमण हुए। दो विभिन्न समूहो के आक्रमणकारी ये आर्यगण दो विभिन्न भाषाएँ भी बोलते थे जिनका आपस मे एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध था। मैं महान् विद्वान् के ऊपर के सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार करने मे असमर्थ हूँ क्योकि भाषागत पार्थक्य की व्याख्या के लिए दो विभिन्न आक्रमणो की कल्पना मुझे अनावश्यक प्रतीत होती है।[2] इसे असदिग्ध तथ्यो के आधार पर इस प्रकार सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है कि आर्यों के ये आक्रमण अथवा देशान्तरवास एक सुदीर्घ काल तक धीरे-धीरे होते रहे। चाहे हम दो पृथक् आक्रमणो की भाषाओ मे भेद करें, चाहे प्रथम तथा अन्तिम देशान्तरवासियो की भाषा मे, परिणाम एक ही है। पूर्वागत देशान्तरवासी एक भाषा बोलते थे और पश्चादागत दूसरी, जो भी हो हार्नले अपने सिद्धान्त को लेकर आगे बढे। उन्होंने पश्चादागत आक्रमणकारियो के पजाब मे प्रवेश को एक पच्चड के रूप मे लिया। ये नवागन्तुक सीधे पजाब के मध्य मे जा घुसे। इसे पूर्वागत आक्रमणकारी पहले से

वे आज भी पवित्र हैं किन्तु उनकी भाषा आधुनिक कश्मीरी हो गयी है, यद्यपि भाषा के कुछ रूप विचित्रता तथा अबोधगम्यता के कारण सुरक्षित रह गये हैं। सौभाग्य से लालदेद् के समय की कश्मीरी मे एक दूसरी कृति भी हमे उपलब्ध है जो अपने मूल रूप में सुरक्षित है। अतएव लालदेद् तथा उसके समकालीन कवियों की भाषा के नमूने आज हमारे पास हैं, जिनके द्वारा हम इस बात का पता लगा लेते हैं, कि मूल शब्द समय के कारण किस रूप मे परिवर्तित हो गये हैं। देखो, ग्रियर्सन तथा बार्नेट कृत 'लल्लावाक्यानि' पृष्ठ १२८।

१. गौडियन भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar of the Gaudian Languages, p XXXI)

२. यह बात मैं स्पष्ट रूप से कहने के लिए बाध्य हूँ, क्योकि एक से अधिक बार यह कहा गया है कि मैं हार्नले (Hoernle) का पूर्ण रूप से समर्थक हूँ। वास्तव मे लोगो ने इसे हार्नले तथा ग्रियर्सन के दो आक्रमणो का सिद्धान्त (Two invasion theory) तक कहा है। हार्नले का ऋण स्वीकार करते हुए भी, मेरा सदैव/यह मत रहा है कि दो भिन्न आक्रमणो को मानना आवश्यक नहीं है।

ही अधिकृत किये बैठे थे। इनके आगमन का परिणाम यह हुआ कि प्रथम आक्रमण-कारी तीन दिशाओ —पूर्व, दक्षिण तथा पीछे पश्चिम—मे फैलने के लिए बाध्य हुए। यद्यपि मैं इसे पूर्णतया अस्वीकार नही करता, किन्तु मैं यहाँ पुन उनके 'पच्चड सिद्धान्त' को वर्तमान ज्ञान के आधार पर आवश्यक रूप से ठीक मान लेने को तैयार नही हूँ। यह सर्वथा सम्भव है कि सबसे बाद मे आनेवालो ने विपरीत मार्ग का अवलम्बन किया हो और वे पूर्वागत आर्यों के चारो ओर होते हुए सिन्धु नदी के काँठे मे पहुँच गये हो तथा वहाँ से अवान्तर युग मे भारत के आरपार पूर्वागत आर्यों के दक्षिण और अन्ततोगत्वा उनके पृष्ठ भाग की ओर पूर्व मे बस गये हो। दोनो ही दशाओ मे राजनीतिक निष्कर्ष बहुत कुछ समान ही होगा। इस प्रकार भी कुछ लोग केन्द्र मे रहेगे और उन्हें पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व मे अन्य लोग घेरे रहेगे। यदि भारत-प्रवेश का 'पच्चड-सिद्धान्त' ठीक है तो केन्द्रीय निवासी, और यदि गलत है तो बाहरी आर्य ही अन्तिम आगन्तुक रहे होगे। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति का पता भारतीय परम्परा से विदित होता है। वेदो मे हम सुदास, जिनका राज्य पश्चिम मे सिन्धु तट पर स्थित था, और भरतो को पौरवो के विरुद्ध युद्ध करते हुए पाते हैं। पौरव-जन आर्य थे और उन्हें वेद मे 'म्टध्रवाच्' अर्थात् बर्बर भाषा-भाषी कहा गया है।[1] इनका निवास-स्थान सुदूर पूर्व मे रावी और यमुना का निकटवर्ती प्रदेश था। वेद मे सरस्वती तथा सिन्धु तटवासी प्रतिद्वन्द्वी ऋषियो के पारस्परिक विरोध का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार कौरवो तथा पाचालो के बीच हुए महाभारत युद्ध से हमे मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध होती है। लासेन के समय से ही अब यह सिद्ध हो गया है कि पांचाल लोग कौरवो से पहले आये थे। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि उन्होने गगा के पूर्व के ऊपरी क्षेत्र तथा मध्य दोआब प्रदेश के हृदय को अधिकृत कर लिया था। बाद मे यही प्रदेश 'मध्यदेश' के नाम से प्रख्यात हुआ। महाभारत-युद्ध मे जो आकस्मिक सम्बन्ध हुए उन्हें यदि छोड दें और विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करें तो जैसा कि पार्जिटर ने स्पष्ट कर दिया

१. प्रोफेसर हिलब्रान्ट [Prof Hillebrandt] ने इसे इसी रूप मे अनूदित किया है। देखिए, वेदिशे माइथालाजिए (Vedische mythologie, 1, 90, 114. See Rigveda, VII, XVIII, 13)

है,[1] यह युद्ध ऐसा था जिसमे पाचाल एव मध्य देश के दक्षिण के निवासी एक ओर थे और दूसरी ओर भारत के—पश्चिम, दक्षिण एवं पूरब के— अन्य निवासी थे। इस युद्ध मे पाचालो के मुख्य सहायक पाण्डव थे। ये पर्वत के निवासी थे और इनमे बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी। हिमालय की अन्य जातियो से इनका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। इतना ही नहीं, लासेन ने तो आगे बढकर यह भी कहा है कि पाचाल लोग कौरवो से इतने पहले आये थे कि भारतीय जलवायु के कारण उनका वर्ण परिवर्तित हो गया था, और यह कि यह युद्ध वस्तुत श्याम तथा गौरवर्ण जातियो के बीच हुआ था। महाभारत को आज हम जिस रूप मे पाते है, वह पाण्डवो की प्रशसा मे लिखा गया महाकाव्य है। इसमे सिन्धु-तट-वासी जातियो को म्लेच्छ की सज्ञा दी गयी है। ये निस्सन्देह रूप से आर्य थे, किन्तु यहाँ उनके सामान्य आर्यत्व को भी स्वीकार नही किया गया है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण इस ग्रन्थ से उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु स्थान की कमी से ऐसा करना समव नही।[2]

१. देखो जे० आर० ए० एस० १९०८ पृ० ३३३ और ६०२।

२. यह कई बार कहा गया है कि बाद में आनेवाले आर्य आवश्यक रूप से उसी मार्ग से आये होंगे जिस मार्ग से उनके पूर्वागत आर्य आये थे। डा० स्पूनर (Dr. Spooner) का जे० आर० ए० एस० १९१५, पृ० ४२६, ४३० में कथन है कि प्राचीन मग लोग समुद्र के द्वारा गुजरात आये और वहाँ से वे लोग मध्य देश के दक्षिण तथा पूर्वी भारत की ओर चले गये। श्री पार्जिटर (Mr. Pargiter) ने एन्शियण्ट इन्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन (Ancient Indian Historical Tradition pp 295) मे विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करते हुए कहा है कि समग्र रूप मे आर्य लोग भारत के उत्तर-पश्चिमी मार्ग से न आकर मध्य हिमालय के मार्ग से आये। जैसा कि मैं ऊपर (पाद टिप्पणी १, पृष्ठ २२३) मे कह चुका हूँ, इस सिद्धान्त की अभी तक छानबीन नहीं हुई है और इसके आधार पर भाषा-सम्बन्धी कोई भी परिणाम निकालना ठीक न होगा; किन्तु इस समय वर्तमान अवस्था मे भी यह स्वीकृत किया जा सकता है कि महाभारत के युद्ध मे पांचाल तथा उनके सहायक लोग सम्भवत. उन आर्यों के प्रतिनिधि हो जो उत्तर-पश्चिमी मार्ग से न आकर किसी अन्य मार्ग से आये हो। इस अवस्था में बाद के आनेवाले

मध्यदेश

यह अनुमान करना तर्कसगत है कि मध्य वर्ग की जातियाँ समय की प्रगति के साथ-साथ प्रसरित हुई होगी, और उन्होने उन जातियो को, जिनसे वे घिरी हुई थी, प्रत्येक दिशा की ओर धकेला होगा। विकल्प मे विनाश के अतिरिक्त उनके लिए कोई अन्य मार्ग न था। मध्ययुग के भूगोल सम्बन्धी सस्कृत ग्रन्थो मे हमे निरन्तर एक ऐसे प्रदेश का उल्लेख मिलता है जिसे विशुद्ध आर्यों का निवास-स्थान बतलाया गया है। इसे 'मध्यदेश' के नाम से अभिहित किया गया है। इसका विस्तार उत्तर मे हिमा-यल से लेकर दक्षिण मे विन्ध्य पर्वतमालाओ तक, और पश्चिम मे वर्तमान सरहिन्द (वास्तव मे सहरिन्द) से पूर्व मे गगा-यमुना के सगम तक था। पौराणिक कथाओ के अनुसार वैदिक युग मे मध्यदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक अदृष्ट सरस्वती की पवित्र धारा प्रवाहित होती थी, जिसके तट पर इन मध्यवर्ती आर्यों का प्रमुख निवेश था।

भीतरी तथा बाहरी उपशाखाएं

आज आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ दो मुख्य उपशाखाओ मे विभक्त हैं। इनमे एक तो उस सघन प्रदेश की भाषा है जहाँ प्राचीन मध्यदेश था। दूसरी उपशाखा की भाषा प्रथम उपशाखा के चारो ओर उस वृत्त के तीन चौथाई भाग मे प्रचलित है जो (अब पाकिस्तान स्थित) हजारा जिले से प्रारम्भ होकर पश्चिमी पजाब, सिन्ध,

लोग आधुनिक बाहरी उपशाखा के बोलनेवालो के पूर्वज होगे। यह भी असम्भव नहीं है कि बाहरी उपशाखा के आर्य हिन्दूकुश तक उसी मार्ग से आये हो, जिस मार्ग से दर्द लोगो के पूर्वज आये थे और वे लोग दर्द लोगों के अग्रभाग में, जो कि पंजाब तथा उसके आगे आर्यों के चारो ओर पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व मे बसे हुए थे, बस गये हो। किन्तु इस समय ये सभी कल्पनाएँ हैं और इस सम्बन्ध में कोई भी निर्णयात्मक तर्क नहीं दिये जा सकते। फिर भी यह बात स्वीकार करनी पडेगी कि बाहरी उपशाखा की जातियो की बोलियाँ दर्दीय भाषाओ से मिलती हैं; किन्तु वे मध्यवर्ती जातियों की बोलियो से नहीं मिलतीं। इस अन्तिम बात के सम्बन्ध मे देखो, हिलब्रान्ट, अस्, अल्त्-उन्द् न्यून्दिएन् (Hillebrandt, Aus-Alt-und Neuindien, p. II)

द्वारा मारा जाने वाला है।' सस्कृत का मूल अतीतकाल इन भाषाओ मे पूर्णरूप से लुप्त हो गया है और उसके स्थान पर सभी आधुनिक भाषाएँ भविष्यत् की ही भाँति अतीत कर्मवाच्य कृदन्तीय के यौगिक-काल का प्रयोग करती हैं। 'मैंने उसको मारा' कहने के स्थान पर, आधुनिक भाषा-भाषी बिना किसी अपवाद के यह कहते हैं कि 'वह मेरे द्वारा मारा गया।' इस प्रकार यहाँ हम भीतरी तथा बाहरी उपशाखा की भाषाओ मे क्रिया की गठन मे पर्याप्त अन्तर पाते हैं। यह उल्लेखनीय है कि कर्म-वाच्य कृदन्तीय रूपो से प्रसूत कालो मे क्रिया का कर्ता 'मैं' प्राय अपादान (करण ?) कारक मे रख दिया जाता है और इन परिस्थितियो मे होने के कारण इसे कर्तृ नाम से पुकारते हैं। वस्तुत यहाँ 'मैं' परिवर्तित होकर 'मेरे द्वारा' बन गया है। प्राचीन सस्कृत मे 'मेरे द्वारा' को दो प्रकार से प्रकट किया जाता था।[1] इनमे से एक था "मया" और दूसरा था "मे"। "मया" का प्रयोग पृथक् रूप मे हो सकता था किन्तु "मे" जो सर्वनाम का लघु रूप था, अकेले नही प्रयुक्त होता था। यह अपने पूर्व के शब्द से सयुक्त हो जाता था। ठीक इसी प्रकार मध्यम पुरुष सर्वनाम के दोनो वचनो मे भी दो प्रकार के—पूर्ण तथा लघु—रूप मिलते हैं। सर्वनामो के इन लघु रूपो से यूरोपीय भली-भाँति परिचित हैं। लैटिन मे 'मुझे दो' के लिए 'दाते मिहि' (date mihi) कहा जाता है, इटली मे यह 'दातेमि' (datemı) के रूप मे है जिसमे 'मि' (mı) सर्वनाम का लघु रूप है। इसी प्रकार हमे अग्रेजी मे भी सर्वनाम का लघु रूप मिलता है, जब कि परिहास मे 'गिव मि' (gıve me) के लिए 'गिम्मी' (gimme) का प्रयोग होता है। आधुनिक आर्यभाषाओ के क्रियापदो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाहरी उपशाखा की भाषाएँ सस्कृत की उस विभाषा अथवा विभाषाओ से प्रसूत हैं, जो स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वनामीय लघु रूपो का कर्मवाच्य कृदन्तो के साथ प्रयोग करती थी और भीतरी उपशाखा की भाषाएँ उस विभाषा या

१. संस्कृत के पण्डित इस बात को मानते हैं कि यह अक्षरशः सत्य नहीं है। वैयाकरणों के अनुसार सर्वनाम का लघु रूप में सम्प्रदान तथा सम्बन्ध कारक का है, करण कारक का नहीं। वे इस बात को भी स्वीकार करेंगे कि कारकों के रूप परिवर्तन से, जो कि संस्कृत भाषा में बहुत पहले हुआ था, इसका कुछ महत्व नहीं है। मिलाओ, पिशेल जेड० डी० एम० जी० (Pıschel in Z D M G. XXXV १८८१ पृ० ७१४)।

महाराष्ट्र प्रदेश, मध्य भारत, उत्कल, विहार, वगाल और असम प्रदेश को स्पर्श करता है। हम यह जानते हैं कि गुजरात प्रदेश, वस्तुत. मध्यदेश स्थित मथुरा के लोगो द्वारा विजित किया गया था। भारतवर्ष का यही एक मात्र भाग ऐसा है, जिसमे हम आज भी वाहरी शाखा की प्राचीरो को नष्ट करने वाली भीतरी शाखा की भाषा का प्रसार पाते है।

दोनो के ध्वनि-तत्त्वों की तुलना

इन दोनो उपशाखाओ की भाषाओ मे अनेक विशिष्ट विरोधी तत्त्व मिलते है। उच्चारण के सम्वन्ध मे इनमे से एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न है। दोनो मे ऐसे अनेक स्थल हैं जो प्रत्येक भाषा-शास्त्री का ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। इनमे सवसे अधिक उल्लेखनीय अन्तर ऊष्म-वर्णो के उच्चारण का है जिसका उल्लेख हेरोडोटस तक ने किया है। भीतरी उपशाखा की भाषाओ मे इनका उच्चारण अधिक दवाकर कठोर ढग से होता है और यहाँ शिन्-ध्वनि दन्त्य 'स' के रूप मे उच्चरित होती है। वाहरी उपशाखा की भाषाओ मे (ईरानी शाखा की भाँति ही) विना किसी अपवाद के 'स' के उच्चारण मे कठिनाई प्रतीत होती है। ग्रीक विद्वानो ने ईरान (फारिस) मे, 'स्' को 'ह्' रूप मे उच्चरित होते पाया। उन्होने कही-कही यह भी देखा कि इस 'ह्' का भी लोप हो गया है। 'सिन्धु' के लिए ग्रीक 'इन्दुस' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। पूरव मे, प्राकृत वैयाकरणो को 'स्' का कोमल उच्चारण 'श्' मिला। देश-परक यह उच्चारण आज भी उसी रूप मे चल रहा है। वगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागो मे 'स्' निर्वल होकर 'श' हो जाता है और पूर्वी वगाल तथा असम प्रदेश मे तो यह और भी अधिक निर्वल होकर जर्मन 'ख' के समीप पहुँच जाता है। दूसरी ओर पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा कश्मीर मे यह विशुद्ध 'ह' मे परिवर्तित हो जाता है।[1]

१. यह कहा जा सकता है कि स का श में विभिन्न भाषाओं में परिवर्तन हो जाने के भिन्न-भिन्न कारण हो। यह ठीक है, किन्तु वे ही कारण तो मध्य-देश मे भी थे और वहाँ ऐसा परिणाम नहीं हुआ। दूसरे शब्दों मे वाहरी उपशाखा की भाषाएँ सिन् ध्वनिवाले वर्णों को सुरक्षित न रख सकीं; किन्तु भीतरी उप-शाखा के वर्णों मे ये सुरक्षित रहे।

संज्ञा के रूप

सज्ञा शब्दो के रूपो मे भी इन दोनो शाखाओ की भाषाओ मे पर्याप्त अन्तर है। भीतरी उपशाखा मुख्यत ऐसी भाषाओ का समूह है जो विश्लिष्टावस्था मे है। इसमे मूल विभक्तियाँ अधिकाशत लुप्त हो चुकी है और यहाँ व्याकरणगत आवश्यकताओ की पूर्ति सहायक शब्दो के सयोग से की जाती है। ये सहायक शब्द आज भी मूल शब्दो (प्रातिपदिको) के अग नही बन पाये है। उदाहरणस्वरूप हिन्दी के 'का', 'को', 'से' आदि को लिया जा सकता है। बाहरी उपशाखा की भाषाएँ विकास के पथ पर एक पग और आगे बढ चुकी है। किसी समय वे प्राचीन सस्कृत रूप मे सश्लिष्टावस्था मे थी। तत्पश्चात् उन्होने विश्लिष्टावस्था को पार किया—कुछ तो अब भी उस अवस्था को पार करने मे लगी हैं, यथा—सिन्धी और कश्मीरी। इस शाखा की अन्य भाषाएँ तो सहायक शब्दो को मूल शब्दो के साथ सयुक्त करके एक बार पुन सश्लिष्टावस्था की ओर उन्मुख हो रही है। बगला के सम्बन्धकारक की—'एर'—विभक्ति इसका सुन्दर उदाहरण है।

क्रिया के रूप

क्रिया रूपो मे भी इसी प्रकार की अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। यहाँ इसके सम्बन्ध मे विस्तार से विचार करना आवश्यक होगा। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन सस्कृत के दो कालो तथा तीन कृदन्तो के रूप ही आधुनिक भाषाओ मे सुरक्षित हैं। ये हैं—वर्तमान तथा भविष्यत् काल एव वर्तमान कर्तृ-वाच्य तथा अतीत और भविष्यत् के कर्मवाच्य के कृदन्तीय रूप। प्राचीन सस्कृत के अतीत काल के रूप पूर्णतया लुप्त हो गये हैं। प्राचीन वर्तमानकाल प्राय सभी आधुनिक भाषाओ मे वर्तमान है, और यदि ध्वनि-विकास सम्बन्धी परिवर्तनो को स्वीकार कर लें तो सभी भाषाओ मे इसका रूप एक ही है। यह दूसरी बात है कि विभिन्न भाषाओ मे इसके अर्थ मे पर्याप्त अन्तर आ गया है, उदाहरणस्वरूप कश्मीरी मे यह भविष्यत् निर्देशक (Future Indicative) और हिन्दी मे यह प्र...य वर्तमान सयोजक (Subjunctive) के रूप मे प्रयुक्त होता है। प्राचीन ...भविष्यत् काल यत्र-तत्र, विशेषतया पश्चिमी भारत की भाषाओ मे वर्तम...ान है। अन्य आधुनिक भाषा-भाषी इसके बदले प्राचीन सस्कृत पर आधारित भ...विष्यत् कर्मवाच्य के कृदन्त के यौगिक अथवा मिश्र रूप का प्रयोग करते हैं। इस...ी प्रकार जब वे यह कहना चाहते हैं कि 'मैं मारूँगा', तो वास्तव मे अनजाने वे यह... कहते है कि 'यह मेरे

रूप मे वाहरी उपशाखावाले निवास करते थे। कालान्तर मे भीतरी उपशाखावालो ने उन्हे पराजित किया और उन्हे अपने मे आत्मसात् करके उन पर अपनी भाषा लाद दी। यह वात ठीक उसी रूप मे हुई होगी जिस रूप मे आज हिन्दुस्तानी पजावी को आत्मसात् कर रही है। पजावी वस्तुत. भीतरी उपशाखा की भाषा है, किन्तु इसमे कतिपय ऐसे रूप भी उपलब्ध है जो दर्दीय अथवा वाहरी उपशाखा की भाषा से आये हैं। इलाहावाद तथा वनारस के वीच की, अथवा यो कहे कि अवध, वघेलखण्ड तथा छत्तीसगढ प्रदेश की भाषा पूर्वी हिन्दी है। यह एक ऐसी मध्यवर्ती भाषा है जिसमे दोनो ही उपशाखाओ की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। दक्षिण मे भीतरी उपशाखा की सीमा स्पष्ट है। मोटे तौर पर यह नर्मदा नदी की दक्षिणी जलविभाजक रेखा (वाटरशेड) तक पहुँचती है। पश्चिम मे यह सीमा राजस्थानी से होते हुए सिन्धी के वाह्य भाग को और पजावी से होते हुए लहँदा (के वाह्य) प्रदेश को स्पर्श करती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह सीमा वाहरी उपशाखा की सुदृढ प्राचीरो को विच्छिन्न करके गुजराती के द्वारा गुजरात के समुद्र तक जा पहुँचती है। गुजराती मे आज भी वाह्य उपशाखा की भाषा के अवशेष मिलते हैं। शेष भारतीय आर्य भाषाएँ वाहरी उपशाखा की हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ का अन्तिम वर्गीकरण

समस्त भारतीय आर्य-भाषाओ को सामूहिक रूप से निम्नलिखित समुदायो मे विभाजित किया जा सकता है। पश्चिमोत्तरी समुदाय, दक्षिणी समुदाय तथा पूर्वी समुदाय (वाहरी उपशाखा से सम्वन्धित), मध्य उपशाखा (वाहरी तथा भीतरी उपशाखा की मध्यवर्तिनी) और केन्द्रीय तथा पहाडी समुदाय (भीतरी उपशाखा से सम्वन्धित)। इस प्रकार हम निम्नलिखित भाषाओ की जनसख्यायुक्त सूची प्रस्तुत करते है—

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
(संस्कृत)		(३६५)
अ—बाहरी उपशाखा	११,७७,७८,३४२	१२,३३,२८,८२५
(क) उत्तर-पश्चिमी समुदाय	१,०१,६२,२५१	९०,२३,९७२
(१) लहँदा या पश्चिमी पंजाबी	७०,९२,७८१	५६,५२,२६४[1]
(२) सिंधी	३०,६९,४७०	३३,७१,७०८
(ख) दक्षिणी समुदाय	१,८०,११,९४८	१,८७,९७,८३१
(३) मराठी	१,८०,११,९४८	१,८७,९७,८३१
(ग) पूर्वी समुदाय	८,९६,०४,१४३	९,५५,०७,०२२
(४) उड़िया	९०,४२,५२५	१,०१,४३,१६५
(५) बिहारी	७,७१,८०,७८२	३,४३,४२,४३०[2]
(६) बंगाली	४,१९,३३,२८४	४,९२,९४,०९९
(७) असमी	१४,४७,५५२	१७,२७,३२८
आ—मध्य उपशाखा	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[2]
(घ) बीच का समुदाय	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[2]
(८) पूर्वी हिन्दी	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[2]
इ—भीतरी उपशाखा	८,३७,७०,६२२	८,३६,३६,४९२[2]
(ङ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय	८,१६,६५,८२१	८,१७,४५,९५५[2]
(९) पश्चिमी हिन्दी	३,८०,१३,९२८	४,१२,१०,९१६[2]
(१०) पंजाबी	१,२७,६२,६३९	१,६२,३३,५९६[3]

१. जनगणना मे बहुत से लहँदी भाषाभाषी पंजाबी के अन्तर्गत रखे गये हैं।

२ यह संख्या प्राय: अनुमानित है। जनगणना मे ऐसा प्रतीत होता है कि बिहारी तथा पूर्वी हिन्दी के प्राय: सभी भाषाभाषी पश्चिमी हिन्दी का व्यवहार करते से दिखाये गये हैं। असम्बद्ध जनगणना इस प्रकार होगी—

बिहारी	७,३३१
पूर्वी हिन्दी	१३,९९,५२८
पश्चिमी हिन्दी	९,६७,१४,३६९

३ इस संख्या मे लहँदा-भाषी भी हैं।

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
(११) गुजराती	१,०६,४६,२२७	९५,५१,९९२
(१२) भीली	२६,९१,७०१	१८,५५,६१७
(१३) ख़ानदेशी	१२,५३,०६६	२,१३,२७२
(१४) राजस्थानी	१,६२,९८,२६०	१,२६,८०,५६२
(च) पहाड़ी समुदाय	२१,०४,८०१	१९,१७,५३७
(१५) पूर्वी पहाड़ी या नेपाली	१,४३,७२१	२,७९,७१५
(१६) मध्य या केंद्रीय पहाड़ी	११,०७,६१२	३,८५३[1]
(१७) पश्चिमी पहाड़ी	८,५३,४६८	१६,३३,९१५
अनिर्णीत	...	५४
योग	२२,६०,६०,६११	२२,९५,६०,५५५

ऊपर की सूची मे मराठी तथा पूर्वी हिंदी बोलियो के समुदाय हैं न कि भाषाओ के। पहाड़ी समुदाय की भाषाएँ हिमालय की तराई मे बोली जाती हैं। पूर्वी पहाडी अथवा नेपाली को वहाँ के बोलनेवाले 'खसकुरा' नाम से पुकारते हैं। केन्द्रीय पहाड़ी के अन्तर्गत नैनीताल तथा मसूरी के आस-पास की पर्वतीय बोलियाँ भी सम्मिलित हैं। ये हैं—कुमायूनी और गढ़वाली। पश्चिमी पहाड़ी से तात्पर्य है पजाब के उत्तर-स्थित पर्वतीय बोलियो का समुदाय। ये हैं—जौनसारी, सिरमौरी, क्योठाली, कुल्लुई तथा चमआली।

भारतीय आर्य-भाषा-भाषियो की सम्पूर्ण सख्या प्राय. यूरोप की अनुमानित जनसख्या (४०,००,००,०००) की आधी से अधिक है।

१. जनगणना में बहुत से पहाड़ी बोलनेवाले हिन्दी बोलते हुए दिखाये गये हैं।

बारहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाओं का विकास

आधुनिक भाषाओं का विकास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतीय आर्यभाषाओं की वास्तविक बोलचाल के रूपों के प्राचीनतम नमूने हमे ऋग्वेद के मत्रो मे मिलते है। ब्राह्मण-युग मे विकसित कृत्रिमतापूर्ण लौकिक सस्कृत से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलत अधिकाश ऋचाओ की रचना निश्चय ही उनके ऋषियो द्वारा व्यवहृत नैसर्गिक एव अकृत्रिम बोलचाल की भाषा मे ही की गयी होगी। यद्यपि सहिता के रूप मे ब्राह्मणो ने मत्रो का सम्पादन इस रूप मे किया है कि उनकी भाषागत विशेषताएँ लुप्त हो जायँ, तथापि इनकी भाषा के अध्ययन से यह बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो जाती है कि भारत के प्राचीनतम निवासी आर्यों की भाषा का क्या स्वरूप था।

प्रथम प्राकृत

अशोक (२५० ई० पू०) के शिलालेखो तथा महर्षि पतजलि (१५० ई० पू०) के ग्रन्थो से यह ज्ञात होता है कि ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी मे उत्तर भारत मे आर्यो की विविध बोलियो से युक्त एक भाषा प्रचलित थी। जनसाधारण की नित्य व्यवहार की इस भाषा का क्रमागत विकास वस्तुत वैदिक युग की बोलचाल की भाषा से हुआ था। इसके समानान्तर ही इन्ही बोलियो मे से एक बोली से ब्राह्मणो के प्रभाव द्वारा एक गौण-भाषा के रूप मे लौकिक सस्कृत का विकास हुआ। कालान्तर मे इसने मध्ययुगीन लैटिन की ही भाँति अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। शताब्दियो से भारतीय आर्य-भाषा प्राकृत नाम से पुकारी जाती रही है। प्राकृत का अर्थ है—नैसर्गिक एव अकृत्रिम भाषा। इसके विरुद्ध सस्कृत का अर्थ है—सस्कार की हुई, तथा कृत्रिम भाषा। 'प्राकृत' की इस परिभाषा से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक मत्रो की बोलचाल की भाषाएँ बाद के मत्रो की कृत्रिम संस्कृत भाषा

की तुलना मे वास्तव मे प्राकृत (नैसर्गिक) भाषाएँ थी। वस्तुत इन्हे भारतवर्ष की प्रथम प्राकृत कहा जा सकता है।

द्वितीय प्राकृत

इससे जो भाषा विकसित हुई और जो सस्कृत के समानान्तर विकास के पथ पर अग्रसर होती गयी[1] उसे द्वितीय प्राकृत के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस प्राकृत का विकास सस्कृत व्याकरण के कारण बहुत कुछ अवरुद्ध था और यह सस्कृत के आदर्श पर ही लोकभाषा के रूप मे विकसित हुई थी।

तृतीय प्राकृत

अन्त मे आधुनिक भाषाओ एव बोलियो के विकसित रूप को 'तृतीय प्राकृत' कह सकते हैं। वस्तुत. यह तृतीय ही हमारे अध्ययन का विषय है।

प्रत्येक अवस्था के मध्य की विभाजक सीमारेखा

यह तथ्यपूर्ण बात है कि प्रथम प्राकृत तथा द्वितीय प्राकृत अथवा द्वितीय प्राकृत तथा तृतीय प्राकृतो के मध्य कोई विभाजक रेखा नही खीची जा

१. श्री पीटर्सन [Mr. Petersen] ने अपने लेख वैदिक संस्कृत एण्ड प्राकृत (Vedic Sanskrit and Prakrit J A O. S XXXII) १९१२, पृ० ४२३ मे लिखा है कि प्राकृत वह संस्कृत है जिसे यहाँ के आदिवासी दास लोग अशुद्ध उच्चारण के रूप में बोलते थे। इन्होंने इस अवस्था की तुलना अमेरिका के दक्षिणी राज्यो मे बोली जानेवाली नीग्रो अंग्रेजी तथा बच्चो द्वारा बोली जानेवाली अशुद्ध उच्चारण की भाषा से की है। यह सुझाव आकर्षक है; किन्तु इसे मैं स्वीकार करने मे असमर्थ हूँ। संस्कृत से प्राकृत का परिवर्तन इतना स्पष्ट और भाषा के क्रमबद्ध विकास का उदाहरण है और यह परिवर्तन लैटिन से रोमन भाषाओ के परिवर्तन के इतना समानान्तर है कि इसके लिए किसी अन्य व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। यह हो सकता है कि आदिवासियो की टूटी-फूटी संस्कृत का, प्राकृतो के ऊपर थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा हो, किन्तु मेरे विचार से प्राकृतों के विकास का यह कारण नहीं हो सकता।

सकती।[१] हमारे पास द्वितीय प्राकृत के प्रारम्भिक युग की कोई भी सामग्री उपलब्ध नही है। इसके पूर्ण विकास का प्रथम दर्शन हमे अशोक के अभिलेखो मे होता है।

प्रथम तीनो प्राकृतो की विशेषताएँ

दूसरी ओर हमे यह ज्ञात है कि द्वितीय प्राकृत से तृतीय प्राकृत के रूप मे परिवर्तन इतने धीरे-धीरे हुआ कि दोनो की विभाजक रेखा के आस-पास यह कहना अत्यन्त दुरूह हो जाता है कि यह द्वितीय प्राकृत है अथवा तृतीय। यह होते हुए भी प्रत्येक समूह की मुख्य विशेषताओ को पहचानने मे तनिक भी कठिनाई नही होती। प्रारम्भिक अवस्था मे भाषा की प्रकृति सश्लिष्ट थी और कठोर सयुक्त व्यजनो के प्रति उसका कोई विरोध न था। द्वितीय प्राकृत युग मे भी भाषा सश्लिष्ट ही थी, किन्तु सन्ध्यक्षरो तथा कठोर सयुक्त व्यजनो का प्राय अभाव हो गया। बाद के कृत्रिम साहित्यिक विकास के युग मे स्वरो का प्राबल्य तथा व्यजनो की अत्यधिक न्यूनता हो गयी। यह प्राकृत केवल स्वरो का सग्रह-मात्र ही रह गयी और इसमे व्यजनो का उपयोग केवल आकस्मिक स्थलो पर ही होने लगा। इसकी दुर्बलता स्वय अपने ही नाश का कारण बनी और तृतीय प्राकृत-युग मे उच्चारण-सौकर्य के लिए दो स्वरो के बीच य-व-श्रुतियो का समावेश किया जाने लगा। इस अवस्था मे सज्ञा तथा क्रिया-पदो के रूपो मे भी परिवर्तन हुआ। धीरे-धीरे स्वरो पर आधारित प्रत्यय घिसकर समाप्त हो गये और एक नवीन भाषा अस्तित्व मे आयी। अब भाषा सश्लिष्ट से विश्लिष्ट हो चली और उसके नवीन रूपो मे पुन सयुक्त व्यजनो की वह प्रवृत्ति अस्तित्व मे आयी जो तीन सहस्र वर्ष पूर्व थी किन्तु जो गत दो सहस्र वर्षो से समाप्त हो गयी थी। इससे भी विचित्र बात यह है कि आधुनिक भाषाएँ—विशेषतया बाहरी उपशाखा की भाषाएँ—विश्लेषावस्था से सश्लिष्टावस्था की ओर उन्मुख हो रही है। यह विकास ठीक उसी रूप मे हो रहा है जैसा मध्य यूरोप अथवा साइबेरिया की भारोपीय भाषा-भाषी खानाबदोश जातियो की बोलियो मे हुआ है।

१. यह निश्चित है कि वैदिक युग मे भी व्यावहारिक रूप मे प्रयुक्त होने वाली भाषा मे, बहुत से शब्द विकासक्रम से पालि तक पहुँचनेवाली अवस्था के होंगे यद्यपि पालि की गणना द्वितीय प्राकृत के अन्तर्गत है।

द्वितीय प्राकृत की विभाषाएं

आज यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है कि इस द्वितीय प्राकृत की प्राचीनतम अवस्था मे इसकी विभाषाएँ भी थी अथवा नही; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक भाषा की विभाषाएँ थी उसी प्रकार इसकी भी विभाषाएँ रही होगी। यह सिन्धु से कोसी तक के विस्तृत भूभाग मे प्रचलित थी और यह वडी आश्चर्यजनक वात होगी यदि इसमे कोई स्थानीय अन्तर न रहे हो। इसके अतिरिक्त २५० ई० पू० अशोक के शिलालेखो मे हमे यही मिलती है। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय आर्य-भाषा की दो विभाषाएँ, पूर्वी तथा पश्चिमी प्राकृत थी।

पालि

उस समय तक द्वितीय प्राकृत विकास की जिस अवस्था तक पहुँच चुकी थी, उसका रूप, बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण वहुत हद तक निश्चित हो गया। बुद्ध की पवित्र वाणी का आकलन भी इसी मे हुआ और यही भाषा पालि के नाम से प्रख्यात है।

प्राकृतों का सर्वोत्कृष्ट रूप

वोलचाल की भाषा के रूप मे यह विकास के पथ पर आगे वढती गयी और वाद मे, देशभेद के अनुसार, यह कई विभाषाओ मे विभक्त हो गयी। ये ही उत्कृष्ट प्राकृते कहलायी। जब हम प्राकृत की चर्चा करते है तव हमारा तात्पर्य इन वाद की प्राकृतो से ही होता है। इनका समय पालि के बाद तथा आधुनिक आर्य भाषाओ के विकास के पूर्व था।

साहित्यिक प्राकृतें

धार्मिक एव राजनीतिक प्रभावो के कारण वाद के युगो में ये प्राकृत भाषाएँ साहित्यिक अध्ययन का विषय वन गयी। इनमे काव्य तथा धर्मग्रन्थो की रचना होने लगी और स्वतत्र रूप मे, नाटको मे भी, इनका प्रयोग होने लगा। इनके कतिपय व्याकरण तो समकालीन लेखको द्वारा लिखे गये थे किन्तु इनके कुछ ऐसे व्याकरण भी उपलब्ध हैं जो इनके मृतक होने के कुछ समय बाद ही प्रणीत हुए थे। सुविधा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि १००० ई० के लगभग ये प्राकृतें मृतक भाषा

के रूप मे परिणत हो गयी थी। इनके सम्बन्ध मे आज हमे जो कुछ ज्ञान है उसका आधार इनमे उपलब्ध साहित्य तथा इनके व्याकरण-ग्रथ हैं। दुर्भाग्यवश हम इन्हे उस वास्तविक बोलचाल की भाषा के नमूने के रूप मे नही स्वीकार कर सकते जिस पर ये आधारित हैं। इन प्राकृतो को साहित्यिक रूप देने के लिए लेखको ने इनमे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर डाले। ग्राम्य रूप प्राय छोड दिये गये और बोलचाल के अनेक रूप, सस्कृत रूपो के समान, नियमबद्ध किये गये। इस प्रकार भारत मे बहु-प्रचलित प्रथा के अनुसार उस कृत्रिम साहित्य के लिए अनेक कृत्रिम बातो की उद्भावना की गयी। इन साहित्यिक प्राकृतो को किसी भी रूप मे, किसी भी युग की वास्तविक जनभाषा का सच्चा प्रतिनिधि नही माना जा सकता। यद्यपि ये उन्ही जनभाषाओ पर आधारित हैं किन्तु इनके तथा जनभाषाओ के बीच एक ऐसा आवरण पडा हुआ है जिसका हटाना प्राय सरल नही है।

पश्चिमी तथा पूर्वी प्राकृत

तो भी हम इनका विभाजन (जैसा कि अशोक के अभिलेखो से स्पष्ट है) पश्चिमी तथा पूर्वी प्राकृतो के रूप मे कर सकते हैं। इन दोनो की अपनी विशेषताएँ हैं। पश्चिमी प्राकृत का प्रधान रूप 'शौरसेनी' नाम से अभिहित किया जाता था। यह शूरसेन प्रदेश अथवा गगा के मध्य-दोआब तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश की भाषा थी। पूर्वी प्राकृत की प्रमुख भाषा थी 'मागधी'। यह वर्तमान दक्षिणी बिहार के मगध प्रदेश की भाषा थी। इन दोनो के मध्य एक प्रकार का तटस्थ क्षेत्र था, जहाँ की भाषा को 'अर्ध-मागधी' नाम से पुकारा जाता था। इसमे दोनो ही भाषाओ के लक्षण विद्यमान थे। इसकी पश्चिमी सीमा वर्तमान इलाहाबाद के आस-पास कही थी, किन्तु इसकी पूर्वी सीमा के विस्तार के सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि इसी भाषा मे जैनमत के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने अपना उपदेश दिया था (वे भारत के इसी भाग मे उत्पन्न हुए थे) और इसी पर आधारित भाषा मे प्राचीन जैनग्रन्थो की रचना हुई थी। महाराष्ट्र प्रदेश की 'महाराष्ट्री प्राकृत' इसके बहुत निकट थी। उसका झुकाव पश्चिमी प्राकृत की अपेक्षा पूर्वी प्राकृत की ओर अधिक था। यह बरार तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो की भाषा थी। बाद मे यह प्राकृत-काव्यो की प्रमुख भाषा बनी। दूसरी ओर, भारत के सुदूर पश्चिमोत्तर प्रान्त मे, ईरानी भाषाओ की सीमा पर, वर्तमान अफगानिस्तान तथा बलोचिस्तान प्रदेश मे, निश्चित रूप से एक प्राकृत प्रचलित थी।

इस प्राकृत का नाम आज हमे ज्ञात नही है किन्तु इसके अस्तित्व का पता हमे द्वितीय काल की प्राकृत के विकास से चलता है। इसके सम्बन्ध मे आगे लिखा जायगा। इस प्राकृत का विकास प्राचीन सस्कृत की उस विभाषा से हुआ था जो सिन्धु नदी के तट पर बोली जाती थी।

अपभ्रंश

ब्राह्मण-गुरुकुलो मे अध्ययन-अध्यापन के कारण जिस प्रकार सस्कृत का रूप स्थिर हो गया था, उसी प्रकार जब प्राकृत मे ग्रथ-रचना होने लगी और कई पीढियो तक वह साहित्यिक भाषा के रूप मे अपरिवर्तित गति से चलती रही तो उसका रूप भी बहुत कुछ स्थिर हो गया। उधर प्राकृतो की आधारभूत बोलचाल की जन-भाषाएँ प्रगति के पथ पर अग्रसर होती गयी। साहित्यिक प्राकृतो के प्राचीनतम नमूने सस्कृत नाटको (इन नाटको की प्राकृत व्याकरण-सम्बन्धी कठोर नियमो से आबद्ध है) तथा सुयोग्य कवियो के गीत-काव्यो मे सुरक्षित हैं। प्राकृत मे प्रबन्ध (वर्णनात्मक) काव्य की रचना बहुत बाद मे होने लगी। यद्यपि ऐसे काव्य-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं तथापि इसमे कोई सन्देह नही कि इस प्रकार के काव्य अर्धशिक्षित लोगो मे प्रचलित थे।[1] ऐसे काव्यो की रचना विद्वानो के तत्त्वावधान मे नही हुई थी किन्तु ये जनसाधारण के लिए रचे गये थे और तत्कालीन साहित्यिक प्राकृत के विपरीत, इन कृतियो मे जनभाषा मे स्वतत्रतापूर्वक शब्द उधार लिये गये थे। उदाहरणस्वरूप,

१. इस सम्बन्ध मे प्रो० जेकोबी [Jacobi] कृत सनत्कुमारचरितम् के संस्मरण को पृ० xviii तथा उसके आगे देखिए। इन प्रबन्ध-काव्यो मे एक प्रबन्ध काव्य तरंगवती नाम का 'पदलिप्त' नामक व्यक्ति द्वारा अवध मे लिखा गया था। इसकी रचनातिथि पाँचवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती। प्रान्तीय शब्दो की अधिकता के कारण धीरे-धीरे यह ग्रथ लोगो के लिए अबोधगम्य हो गया और इसके हजार वर्ष बाद यह किसी अज्ञात लेखक द्वारा 'तरंग-लोला' के नाम मे साहित्यिक अपभ्रंश मे अनूदित हुआ। तरंगवती काव्य लुप्त हो गया है, किन्तु तरंग-लोला उपलब्ध है। इसका एक सुन्दर सस्करण प्रो० ल्यूमेन [Prof Leumann] ने जाइट श्रिफ्ट फुर बुद्धिज्म [Zeit schrift fur Buddhism; III, pp. 193] मे किया है। यह अत्यधिक मनोरजक तथा आकर्षक है।

शब्दसमूह तथा वाक्य-रचना की दृष्टि से, इस प्रकार के अवध तथा गुजरात मे लिखित प्राकृत-ग्रथो की भाषा मे महान् अन्तर होना स्वाभाविक था। इन प्राकृत-रचनाओ मे व्यवहृत देश्य (देशी अथवा स्थानीय) शब्द प्रामाणिकता की कोटि मे न आ सके और नियमानुकूल साहित्यिक प्राकृत मे उनके लिए कोई स्थान न था। ये शब्द स्थिर भी न रह सके क्योकि स्थानीय भाषाओ मे परिवर्तन होने के कारण धीरे-धीरे इनके अर्थ मे भी परिवर्तन आता गया। अर्थपरिवर्तन के साथ-साथ ऐसे शब्द प्राय अप्रचलित हो जाते थे और उनके स्थान पर अन्य शब्द व्यवहृत होने लगते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि समय की प्रगति के साथ-साथ ये प्रबन्ध-काव्य जनता के लिए दुर्बोध होते गये और पुन उन्हे जनता की भाषा मे अनूदित करके उनमे देशी शब्द भरे गये। इस प्रकार के ग्रन्थो की स्थानीय प्राकृत को अपभ्रश कहा गया, और जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, स्थान के अनुसार इनके रूप मे भी पर्याप्त अन्तर था।

साहित्यिक अपभ्रश

जैसे-जैसे स्थानीय अपभ्रशो की रचनाएँ अधिकाधिक प्रसिद्ध होती गयी, उनकी शैली की एक परम्परा ही बन गयी, और 'नागर अपभ्रश' नाम से विख्यात उनकी एक विशिष्ट अपभ्रश को, प्राकृतो की ही भाँति, साहित्यिक भाषा का स्थान प्राप्त हो गया। बाद मे इसी मे, पश्चिमी भारत के अपभ्रश ग्रन्थो की रचना की गयी। जनसाधारण की स्वीकृति से लाभान्वित हो जाने पर भारतवर्ष के बडे भाग की साहित्यिक रचनाओ की वाहिका के रूप मे इसकी प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार के प्रयोग से, स्थान-स्थान पर इसमे यत्किंचित् अन्तर आता गया किन्तु इसके विभिन्न रूपो को उपभाषाओ की सज्ञा देना उचित न होगा। यहाँ यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि किसी भी प्रकार ये विभिन्न रूप उन अनेक स्वतत्र तथा स्थानीय अपभ्रशो अथवा भाषाओ की भाँति नही थे जो उनके बोलनेवालो द्वारा साहित्य मे प्रयुक्त की जाती थी। इनमे से प्रत्येक मे जो स्थानीय भेद थे वे स्थानीय बोलियो के नही अपितु वे साहित्यिक अपभ्रश के भेद थे। भारतीय वैयाकरणो ने साहित्यिक अपभ्रश के कम से कम सत्ताईस भेदो की सूची प्रस्तुत की है। इसके साथ ही उन्होने प्रत्येक की सक्षिप्त विशेषताएँ तथा उन प्रदेशो के नाम भी दिये हैं, जहाँ ये भाषाएँ व्यवहृत होती थी।[1]

१. इनका जो विवरण मिलता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस

इस रूप मे प्रतिष्ठित हो जाने पर (यत्किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तन होने पर भी) यह भाषा शब्द-समूह के विषय मे साहित्यिक प्राकृत के अति निकट थी, किन्तु इसके व्याकरण का देश्य रूप (देशी रूप) उसी युग का था जब वह साहित्यिक रूप धारण करके जडता को प्राप्त हुई थी।[1] इस प्रकार जहाँ साहित्यिक अपभ्रंश को देश के किसी भी भाग की प्रतिनिधि भाषा के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता अथवा इसे भाषा के विकास की किसी भी विशिष्ट अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हुए नही माना जा सकता, वहाँ मोटे तौर पर यह हमारे समक्ष साहित्यिक प्राकृत के बाद के युग का सुन्दर चित्र उपस्थित करती है और कम से कम, जहाँ तक व्याकरण का सम्बंध है, उनके तथा तृतीय प्राकृत के प्रारम्भिक काल के बीच की कडी है। नागर अपभ्रंश तो साहित्यिक रचना के लिए स्वीकृत थी और सापेक्षिक दृष्टि से इसमे परिवर्तन भी बहुत कम हुए। मृतक हो जाने के बहुत बाद तक तथा तृतीय प्राकृत के पूर्णतया प्रतिष्ठापित हो जाने पर भी यह बहुत समय तक साहित्यिक रूप मे चलती रही। इसका पूर्ण विवरण पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने दिया है। उनका समय १२वी शती ईसवी है और उनके लिए यह भाषा उतनी ही साहित्यिक तथा व्याकरणसम्पन्न थी जैसी संस्कृत। उस युग तक यह मृतक भाषा हो चुकी थी और केवल साहित्यिक रूप मे सुरक्षित थी। वस्तुत अपने व्याकरणग्रंथ मे हेमचन्द्र ने इसी का विवरण दिया है। इसकी आधारभूत, गुजरात तथा पश्चिमी राजस्थान मे किसी युग मे बोली जानेवाली अपभ्रंश-भाषा थी। अपने व्याकरण मे उन्होंने इसी बोली के अनेक साहित्यिक पदो को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। यह मनोरंजक बात है कि इसके कतिपय पद तो आवश्यक ध्वनि-परिवर्तन के साथ पश्चिमी राजस्थान की

प्रदेश के नाम पर इनका नाम पड़ा हो, वहाँ की ये बोल-चाल की भाषाएँ नहीं थी। ये अपभ्रंश भाषाएँ उन प्रदेशो मे भी मिलती हैं जहाँ की स्थानीय भाषाएँ द्रविड़ थीं।

१. यह बात मोटे तौर पर कही जा सकती है क्योकि इनके शब्द-समूह मे भी कुछ-न-कुछ पुराने तथा नये देशी शब्द आ गये थे, किन्तु इसके साथ ही साथ पुरानी प्राकृत के व्याकरण के रूप भी कभी-कभी मिलते हैं।

आधुनिक भाषा मे शब्दश सुरक्षित हैं और बोलचाल की भाषा मे उनका आज भी प्रयोग होता है।[1]

अपभ्रंश तथा तृतीय प्राकृत का कालनिर्णय

साहित्यिक अपभ्रश के प्रतिष्ठापित हो जाने के कारण स्थानीय अपभ्रशो का प्रचलन कब समाप्त हो गया, यह निश्चित रूप से कहना असम्भव है। कहा जाता है कि भाषा अथवा किसी स्थानीय अपभ्रश मे सम्भवत छठी शती ईसवी मे पद-रचना हुई थी और दसवी शती ईसवी मे तो सस्कृत तथा प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रश भी साहित्यिक रूप मे व्यवहृत होने लगी थी। इस प्रकार अपभ्रश को साहित्यिक भाषा के रूप मे ग्रहण करने की तिथि, निश्चित रूप से इन दोनो (६०० ई० तथा १००० ई०) के बीच मे रही होगी।[2] दूसरी ओर, कम से कम १३वी शती ईसवी के प्रारम्भ से ही, तृतीय प्राकृत का साहित्य मे व्यवहार होने लगा था। किसी भी भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप मे प्रयुक्त होने की योग्यता सिद्ध करने के लिए उचित समय देते हुए हम यह कह सकते है कि आधुनिक भाषाओ ने १००० ई० के आस-पास प्राकृत का पल्ला छोड दिया था। यह वही समय था जब महमूद गजनवी ने भारत पर अपने पन्द्रह आक्रमणो मे से प्रथम का सूत्रपात किया था।

अपभ्रश की विभाषाएँ

इस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के विकाससम्बन्धी विवरण के लिए हमे साहित्यिक प्राकृत अथवा इससे भी अधिक सस्कृत की अपेक्षा अपभ्रश की ओर ही ध्यान देने की आवश्यकता है। यद्यपि सस्कृत और विशेष रूप से साहित्यिक प्राकृते हमारी खोजो पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाल सकती हैं तथापि हमारे तत्काल

१. इस सम्बन्ध मे नवीन सीरीज की सवत् १९७८ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका के द्वितीय खण्ड मे पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख देखें। विशेष रूप से पृ० १८ तथा उसके आगे और पृ० ४४ की सामग्री द्रष्टव्य है।

२. बाण (छठी शताब्दी) कृत श्री हर्षचरित् के अनुसार बाण का एक मित्र भाषाकवि भी था। बाण ने उसके नाम का विशेष उल्लेख किया है।

अनुसन्धानो का आधार अपभ्रंश को ही होना चाहिए। यह सत्य है कि साहित्य मे केवल पश्चिमी भारत की नागर अपभ्रंश के नमूने ही सुरक्षित है,[1] किन्तु प्राकृत वैयाकरणो के सहयोग से उन स्थानीय अपभ्रंशो की रूपरेखा तैयार करना कठिन नही है जिनमे आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई है। यहाँ आधुनिक भाषाओ के साथ-साथ उन स्थानीय अपभ्रंशो की सूची दे देना ही पर्याप्त होगा जिनसे ये प्रसूत हुई हैं। सिन्धु नदी के निचले प्रदेश की अपभ्रंश 'व्राचड' नाम से विख्यात थी। इसका सीधा सम्बन्ध हम सिन्धी तथा लहँदा से जोड सकते है। इनमे से लहँदा तो प्राचीन केकय प्रदेश की बोली थी। इसमे सन्देह नही कि जिस क्षेत्र मे आज ये दोनो भाषाएँ प्रचलित है वहाँ की जनता का एक बहुत बडा भाग दर्दीय भाषा-भाषी रहा होगा क्योंकि उनकी स्पष्ट छाप आधुनिक सिन्धी तथा लहँदा पर दृष्टिगोचर होती है। नर्मदा नदी के दक्षिण मे अरबसागर से उडीसा (उत्कल प्रदेश) तक निश्चित रूप से वैदर्भ अथवा दाक्षिणात्य अपभ्रंश मे सम्बन्धित अनेक विभाषाएँ रही होगी। इनका केन्द्र विदर्भ प्रदेश अथवा आधुनिक बरार था जिसे सस्कृत मे महाराष्ट्र कहते थे। यह तथा इसकी सहायक अपभ्रंश भाषाएँ आधुनिक मराठी की पूर्वज भाषाएँ है। दाक्षिणात्य के पूर्व मे, बगाल की खाडी तक औड्र अथवा औत्कल अपभ्रंश का क्षेत्र था। इसी से आधुनिक उडिया की उत्पत्ति हुई है। औड्र के उत्तर मे, प्राय वर्तमान छोटा नागपुर तथा बिहार के अधिकाश भाग के साथ-साथ पूर्वी उत्तर प्रदेश के आधे भाग, बनारस तक, प्रसिद्ध मागध अपभ्रंश का प्रसार था। आधुनिक बिहारी भाषाओ का प्रादुर्भाव इसी से हुआ है और इसकी एक बोली मगही आज भी पुराना नाम

१. वैदिक युग मे भी बोलियाँ थीं, इसका प्रमाण अपभ्रंश मे मिलता है। सच बात यह है कि द्वितीय प्राकृत मे व्याकरण सम्बन्धी अनेक ऐसे रूप मिलते हैं जिनकी व्याख्या पाणिनीय संस्कृत द्वारा नहीं की जा सकती। इनमे से एक अपादान अथवा सप्तमी की विभक्ति 'हि' है जो पालि तथा प्राचीन संस्कृत 'धि' से उद्भूत हुई है, साहित्यिक संस्कृत से नहीं। 'धि' का ही रूप प्रत्ययरूप से ग्रीक मे 'थि' मिलता है। वैदिक युग में भी इस प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। किन्तु जिस परिनिष्ठित बोली से सस्कृत प्रादुर्भूत हुई है उसमे इसका अभाव है। देखो प्रोफेसर वाकरनागल कृत आल्टिण्डीशे ग्रामेटिक [Prof Wackernagel's Altindische Grammatik, p XX]।

अपनाये हुए है। मागध अपभ्रंश वस्तुत मुख्य अपभ्रंश थी और प्राचीन पूर्वी प्राकृत से यह प्रसूत हुई थी। इस प्राचीन पूर्वी प्राकृत से केवल पूर्वकथित औड्र ही नही अपितु इसी से बाद मे गौड भी विकसित हुई थी। ये तीनो ही प्राचीन पूर्वी प्राकृत से उद्भूत भाषाएँ हैं। मागध के पूर्व मे गौड या प्राच्य अपभ्रंश का क्षेत्र था। इसका प्रमुख केन्द्र वर्तमान मालदा जिले का गौर नामक नगर था। यह दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व की ओर प्रसरित हुई और यही यह आधुनिक बँगला की जननी बनी। दक्षिणी प्रसार के अतिरिक्त गौड अपभ्रंश गगा के उत्तरी प्रदेश से होती हुई पूर्व की ओर फैलती गयी। यहाँ यह वर्तमान युग मे उत्तरी बँगला तथा असम घाटी मे असमी अथवा असमियाँ नाम से विकसित हुई। उत्तरी बगाल तथा असम ने अपनी भाषाओ को, खास बगाल से प्राप्त न करके सीधे पश्चिम से ग्रहण किया है। वस्तुत मागध अपभ्रंश का प्रसार पूर्व तथा दक्षिण मे तीन ओर माना जा सकता है। यह उत्तर-पूर्व मे उत्तरी बँगला और असमी, दक्षिण मे उडिया एव इन दोनो के बीच मे बँगला के रूप मे विकसित हुई है। इन तीनो मे से प्रत्येक भाषा, समान रूप से सीधे एक ही पूर्वज भाषा से सम्बन्धित है। इसीलिए हम उत्तरी बँगला को, कई बातो मे, खास बगाल की बँगला की अपेक्षा, दूरस्थ दक्षिण मे बोली जानेवाली उडिया के समान पाते हैं, यद्यपि इसका वर्गीकरण साधारणतया बँगला की उपभाषा के रूप मे ही किया जाता है।

इस प्रकार यहाँ हमने अपभ्रंश की उन विभाषाओ का सर्वेक्षण समाप्त कर लिया है जिनका सम्बन्ध पूर्वकथित बाहरी उपशाखा की आर्य भाषाओ से है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूर्वी तथा पश्चिमी प्राकृतो के बीच मे एक मध्यवर्ती प्राकृत भी थी। इसका नाम अर्धमागधी था। इससे विकसित अपभ्रंश की वर्तमान प्रतिनिधि भाषा अवध, बघेलखण्ड तथा छत्तीसगढ प्रदेशो मे बोली जानेवाली पूर्वी हिन्दी है। पूर्वी हिन्दी की पूर्वी सीमा मोटे तौर पर बनारस तक, मानी जा सकती है। पश्चिम मे इलाहाबाद के कुछ पश्चिम तक अन्त मे बाँदा तक इसका विस्तार है।

जहाँ तक भीतरी उपशाखा की भाषाओ का सम्बन्ध है, इनकी आधारभूत मुख्य अपभ्रंश अभी तक साहित्यिक भाषा के रूप मे सुरक्षित है। यह नागर-अपभ्रंश के नाम से प्रख्यात थी और जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है, यह गुजरात तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशो की अपभ्रंश थी, जहाँ आज भी नागर ब्राह्मणो का समाज मे प्रमुख स्थान है। यदि हम आधुनिक भाषाओ के आधार पर विचार

तत्सम तथा तद्भव

संस्कृत से उधार लिये गये शब्द तत्सम कहलाते थे। तत्सम का अर्थ है, तत्+सम, अर्थात् उस (संस्कृत) के समान। मूल प्राकृत शब्द जो सीधे प्रथम प्राकृत से वंशपरम्परा रूप मे आये थे, तद्भव कहलाये। तद्भव का मूल अर्थ है, तत्+भव, अर्थात् उस (संस्कृत) से उत्पन्न। (यहाँ संस्कृत शब्द को भी व्यापक अर्थ मे लेना चाहिए। वास्तव मे इसका उस प्रथम प्राकृत से तात्पर्य है जिसकी एक विभाषा से लौकिक अथवा पाणिनीय संस्कृत का विकास हुआ था।) यहाँ इनके साथ एक तीसरे प्रकार के शब्दो को भी सम्मिलित कर सकते है। ये वे तत्सम शब्द थे जो प्राकृतभाषी लोगो के मुख मे पडकर विकृत हो गये थे किन्तु वास्तव मे ये (संस्कृत से) उधार लिये हुए शब्द ही थे। साधारणत यूरोपीय विद्वान् इन्हें 'अर्धतत्सम' नाम से अभिहित करते हैं। यह स्पष्ट है कि विकास-क्रम की नैसर्गिक गति से, समस्त तत्सम शब्दो के परिवर्तन की प्रकृति अर्ध-तत्सम की ओर थी और अन्तत बाद के युग मे, इन शब्दो के रूप इतने अधिक विकृत हो गये कि इनमे तथा तद्भव शब्दो मे भेद करना कठिन हो गया।

देश्य

एक अन्य वर्ग के शब्दो का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। ये हैं भारतीय वैयाकरणो के तथाकथित 'देश्य' अथवा स्थानीय शब्द। इस वर्ग के अन्तर्गत वे समस्त शब्द आ जाते है जिनके मूल रूपो को भारतीय वैयाकरण संस्कृत मे नही खोज सके। कोशकारो के अज्ञान के कारण भी इस वर्ग मे अनेक शब्द समाविष्ट कर लिये गये है। अन्य तद्भव शब्दो की भाँति इनमे अधिकाश शब्दो की व्युत्पत्ति आधुनिक विद्वान् संस्कृत से दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी शब्द हैं जो मुडा अथवा द्रविड भाषाओ से लिये गये हैं। इस वर्ग मे अधिकाश शब्द तो प्रथम प्राकृत की उस विभाषा से आये हैं जिससे संस्कृत की उत्पत्ति नही हुई है। इस प्रकार ये वास्तविक तद्भव शब्द हैं, यद्यपि भारतीय वैयाकरण तद्भव शब्द का अर्थ उस रूप मे नही लेते, क्योकि उनके समक्ष प्राचीन प्रथम प्राकृत का कोई अस्तित्व न था। ये देश्य शब्द स्थानीय बोलियो के रूप हैं और जैसी आशा की जा सकती है, ये अधिकतर लौकिक संस्कृत के मूलस्थान मध्यदेश से दूर, गुजरात प्रदेश के साहित्यिक ग्रथो मे प्राप्त होते हैं। हम इन्हें तद्भव के समान ही मान सकते हैं।

आधुनिक भाषाओ मे तत्सम और तद्भव शब्द

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे हम ठीक यही स्थिति पाते हैं। यदि विदेशी (जैसे मुडा, द्रविड, अरबी, फारसी तथा अग्रेजी से उधार लिये गये) शब्दो को छोड़ दें तो इनमे से प्रत्येक के शब्दसमूह को हम तीन भागो—तत्सम, अर्ध-तत्सम तथा तद्भव—मे विभाजित कर सकते हैं। इनमे से अन्तिम (तद्भव) वर्ग के शब्द तो आधुनिक भाषाओ मे या तो प्रथम प्राकृत से ग्रहण किये गये हैं अथवा ये लौकिक सस्कृत के द्वितीय प्राकृत मे परिवर्तन के फलस्वरूप आये हैं। आज की दृष्टि से यह निष्प्रयोजन है कि मूलत इनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई थी। द्वितीय प्राकृत-युग मे ये तद्भव या तत्सम रहे होगे किन्तु तृतीय प्राकृत युग मे इनके तद्भव होने का यही प्रमाण बहुत है कि ये उस (द्वितीय प्राकृत) अवस्था से होकर वर्तमान रूप मे आये। दूसरी ओर, वर्तमान तत्सम तथा अर्धतत्सम शब्द उधार लिये गये शब्द हैं। ये नव्य भाषाओ मे, आधुनिक युग मे ही सस्कृत से ग्रहण किये गये हैं। (ये उस स्रोत से नही आये है जिससे द्वितीय प्राकृत की उत्पत्ति हुई है।) उदाहरणस्वरूप आधुनिक भाषा का 'आज्ञा' शब्द सीधे लौकिक सस्कृत से आया है। इसका अर्ध-तत्सम रूप 'आग्या' कतिपय भाषाओ मे मिलता है, हिन्दी मे इसका तद्भव रूप 'आन' है। इसकी उत्पत्ति द्वितीय प्राकृत के 'अण्णा' शब्द से हुई है। इसी प्रकार 'राजा' तत्सम शब्द है किन्तु इसी से प्रसूत 'राय' अथवा 'राव' शब्द इसके तद्भव रूप हैं। वस्तुत एक ही शब्द के तीनो अथवा दोनो रूप प्रयोग में नही आते। प्राय एक ही शब्द के तत्सम अथवा तद्भव रूपो मे से कोई एक प्रयुक्त होता है। यदा-कदा एक ही शब्द के तत्सम तथा तद्भव, दोनो रूपो का व्यवहार होता है किन्तु दोनो के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप लौकिक सस्कृत के 'वश' शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) कुल, (२) बाँस। इसी से सम्बन्धित हिन्दी मे दो शब्द प्रचलित हैं। इनमे से एक है अर्धतत्सम शब्द 'वस' जिसका अर्थ है 'कुल', किन्तु दूसरे तद्भव 'बाँस' शब्द का अर्थ है बाँस का वृक्ष।[1]

१. यूरोपीय भाषाओं में भी तत्सम एवं तद्भव शब्द मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप "lapsus calami" मे lapsus शब्द तत्सम तथा 'lapse' अर्ध-तत्सम है। दोनो का अर्थ 'पतन' है। किन्तु इसी से प्रसूत lap शब्द तद्भव है

करे तो निश्चित रूप से इसकी कई विभाषाएँ रही होगी और इनके रूप मे यह अवश्य ही दूरस्थ पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोडकर डेकेन (दक्षिण प्रदेश) के उत्तर समस्त पश्चिमी भारत मे प्रसरित रही होगी। इन्ही मे से मध्य दोआब की शौर-सेनी अपभ्रश भी थी जो पश्चिमी हिन्दी की जननी वनी।

इसके अति निकट सम्पर्क की उत्तरी मध्य पजाव की टक्क तथा सम्भवत दक्षिणी पजाव की उपनागर अपभ्रश भाषाएँ थी। पजाव की विभिन्न वोलियो की उत्पत्ति इन्ही अपभ्रशो से हुई है। इस (नागर) अपभ्रश की अन्य विभाषाओ मे से एक तो राजस्थानी की जननी आवन्त्य थी जिसका प्रधान केन्द्र वर्तमान उज्जैन के चारो ओर का समीपवर्ती प्रदेश था और दूसरी थी आधुनिक गुजराती की जननी गौर्जर अपभ्रश। अन्तिम दोनो भाषाएँ निश्चित रूप से परिनिष्ठित नागर अपभ्रश के अति निकट की थी।

अव उत्तरी समुदाय की आधुनिक भाषाओ के सम्वन्ध मे कुछ निवेदन करना आवश्यक है। ये हिमालय प्रदेश मे, पूर्वी पजाव से नेपाल तक वोली जाती है और

१. यह निश्चित नहीं है कि शौरसेनी प्राकृत मे (जो शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न है) जिस रूप मे आज साहित्य उपलब्ध है वह दोआब मे प्रचलित वोल-चाल की भाषा का प्रतिनिधि है। यह एक छोटे प्रदेश की अपेक्षा विशाल पश्चिमी भारत की भाषाओ की सामान्य विशेषताओं को अपनाती हुई कृत्रिम साहित्यिक भाषा हो सकती है। एक वात निश्चित है और वह शौरसेनी की एक विशेषता है (इसका सम्वन्ध भविष्यत् काल से है) जो आज के गंगा-यमुना के दोआव मे नहीं मिलती, किन्तु यह गुजराती मे उपलब्ध है। इस तथ्य की व्याख्या है किन्तु उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतो की अपेक्षा जहाँ तक शब्दसमूह का सम्वन्ध है, संस्कृत के निकट है। इसमे ऐसे देशी शब्दो का अभाव है, जो प्राचीन वोलचाल की संस्कृत से आये हैं; तथा उस बोली से भिन्न हैं, जिसके आधार पर पाणिनीय संस्कृत निर्मित हुई है। यह वात इस तथ्य से भी प्रमाणित हो जाती है कि परम्परा के अनुसार यह वोली वही थी जो कि वैदिक युग मे तथा उसके बाद भी सरस्वती के किनारे तथा दोआब के ऊपरी भाग मे प्रचलित थी। ग्रीक लेखको ने भी शूरसेन का प्रसिद्ध नगर मथुरा माना है और उसका नाम ग्रीक ग्रथो मे मोदूरा [Modura] मिलता है।

हमे इसे क्षेत्र की किसी विशिष्ट प्राकृत अथवा अपभ्रंश का पता नही है। इनके वोलनेवालो की अधिकाश जनसख्या का आधार तिब्वती-बर्मी जातियाँ थी जो वाद के युगो मे आर्यो से मिश्रित हो गयी। पजाव के उत्तर मे टक्क अपभ्रंश ने उन्हे अवश्य ही प्रभावित किया था। इसके वाद तो दर्दीय-मूल की भाषाएँ बोलने-वाली खस तथा अन्य जातियो के इधर कई आक्रमण हुए और मध्य एशिया से आने वाली गुर्जर जाति भी सम्भवत अपने साथ आर्य-भाषा ले आयी थी। अन्तत यहाँ राजपूताना से भी निष्क्रमणकारी आये और इनकी भाषा पूर्वागत लोगो की भाषा से मिश्रित हो गयी और मोटे तौर पर यही भाषा प्रसरित भी हुई। इस प्रकार इस समुदाय की भाषाओ मे विभिन्न तत्त्वो का मिश्रण मिलता है, यद्यपि मुख्य रूप से उनकी गठन राजपूताने मे वोली जानेवाली भाषाओ के रचना-विधान का स्मरण दिलाती है। सभी वातो पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी उत्पत्ति आवन्त्य अपभ्रंश से हुई।

लौकिक सस्कृत

आधुनिक भाषाओ के इस लम्बे विकास के साथ ही साथ लौकिक सस्कृत का उद्भव भी प्रथम प्राकृत की किसी विभाषा से हुआ। आगे चलकर यह वैया-करणो के परिश्रम के परिणामस्वरूप अपने वर्तमान रूप मे स्थिर हुई। ईसा-पूर्व चौथी शती मे तो यह प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के ग्रथ (अष्टाध्यायी) मे उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हो गयी। ब्राह्मणो ने अपने गुरुकुलो मे, अति यत्नपूर्वक इस पवित्र भाषा को सुरक्षित रखा और उनसे इसे पाण्डित्य एव धर्म का वरदान प्राप्त हुआ। इसने स्वतत्रतापूर्वक द्वितीय प्राकृत से अपनी शब्दावली ग्रहण की और वदले मे उसने भी इससे यथेच्छा पूर्वक बहुत कुछ उधार लिया। आज भी विशिष्ट प्राकृत-भाषी शिक्षित समुदाय के वार्तालाप मे सस्कृत शब्दो का प्राचुर्य रहता है। इन उधार लिये हुए सस्कृत-शब्दो की भी वही दशा हुई जो प्राचीन प्रथम प्राकृत से सीधे आये हुए शब्दो की हुई थी। प्राकृत भाषा-भाषियो के मुख से उच्चरित होने के कारण सस्कृत-शब्द विकृत हो गये और यद्यपि व्युत्पत्ति की दृष्टि से ये प्राकृत के शब्द न थे किन्तु उच्चारण की दृष्टि से अन्ततोगत्वा ये प्राकृत के शब्द वन गये।

आधुनिक भाषाओं पर लौकिक संस्कृत का प्रभाव

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि गत कई सौ वर्षों से, लौकिक संस्कृत संगवत रीति से आधुनिक भाषाओं के शब्द-समूह को प्रभावित करती रही है और आज भी कर रही है। सच तो यह है कि केवल शब्द-समूह पर ही संस्कृत का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है, इन भाषाओं के व्याकरण पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है। वैदिक युग से ही आधुनिक भाषाएँ अपने विकास-पथ पर अग्रसर होती जा रही हैं। कुछ बातों मे संस्कृत ने इनके मार्ग मे अवरोध भी उपस्थित किया किन्तु वह इनकी प्रगति रोक न सकी और जिस प्रकार इनके शब्दसमूह मे संस्कृत शब्द आये उस प्रकार इनके व्याकरण मे एक भी रूप नहीं आया। इतना ही नहीं, संस्कृत से उधार लिये गये शब्द इन भाषाओं मे उसी रूप मे व्यवहृत होते हैं जिस रूप मे विदेशी शब्द और इन भाषाओं के शब्द-रूप भी संस्कृत व्याकरण का अनुसरण नहीं करते। उदाहरणार्थ हिन्दुस्तानी 'घोड़ा' शब्द का तिर्यक् रूप होगा 'घोड़े' क्योंकि यह तद्भव शब्द है, किन्तु तत्सम शब्द 'राजा' का तिर्यक् मे परिवर्तन न होगा। समस्त आधुनिक भाषाओं मे क्रिया के रूप मे परिवर्तन आवश्यक है, किन्तु विभिन्न कारकों मे संज्ञा शब्द के रूप मे, परिवर्तन आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि तत्सम शब्द क्रियारूप मे व्यवहृत नहीं होते। यदि ऐसा करना आवश्यक प्रतीत हुआ तो यह कार्य किसी अन्य तद्भव क्रिया की सहायता से सम्पन्न किया जाता है। दृष्टान्त के लिए तत्सम क्रिया-पद 'दर्शन' को लिया जा सकता है। यदि हम इसका प्रयोग 'वह देखे' के अर्थ मे करना चाहे तो हम 'दर्शने' नहीं कह सकते, वरन् इसके लिए हमे एक मिश्रित वाक्य 'दर्शन करे' कहना होगा। दूसरी ओर समस्त आधुनिक भाषाओं मे यह आवश्यक नहीं है कि संज्ञाशब्दों के रूप सश्लेषात्मक ढंग से चलाये जायँ। उधार लिये हुए संज्ञा-शब्दों के रूप तो सदैव विश्लेषात्मक ढंग से ही चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार तत्सम

और इसका अर्थ परिवर्तित होकर 'पोशाक का नीचे लटका हुआ भाग' हो जाता है। इसी प्रकार 'fragile' तथा 'redemption' शब्द अर्ध-तत्सम हैं किन्तु इनके प्रतिरूप शब्द 'frail' तथा 'ransom' शब्द तद्भव हैं। फ्रेंच 'cause' शब्द अर्ध-तत्सम है, क्योंकि यह लैटिन 'causa' से उद्भूत है किन्तु इसका तद्भव रूप chose है।

सज्ञा-पद (जिनका रूप विश्लेषात्मक पद्धति पर चलता है) आधुनिक भाषाओ मे प्राय व्यवहृत होते हैं और उच्चस्तरीय साहित्यिक शैली मे इनका अत्यधिक प्रचलन है। यद्यपि इस सार्वभौम सिद्धान्त के कतिपय अपवाद भी है किन्तु मोटे तौर से इस सम्वन्ध मे यह कहा जा सकता है कि भारतीय आर्य-भाषाओ के सज्ञा शव्द तो तत्सम, अर्धतत्सम अथवा तद्भव हो सकते है किन्तु इनके क्रिया-पद निश्चित रूप से तद्भव ही होगे।

पिछली शती से मुद्रणकला के प्रसार तथा शिक्षा के प्रचार से कतिपय भाषाओ मे तत्सम शव्दो के प्रयोग का एक फैशन सा चल पडा है। इसकी तुलना जान्सनीय अँग्रेजी की शैली से की जा सकती है जिसमे सैक्सन शव्दो की प्रचुरता रहती है। उन्नीसवी शती के आरम्भ मे लिखित एक वँगला की पुस्तक के शव्दो की वास्तविक गणना करके यह दिखलाया गया है कि उसमे विशुद्ध सस्कृत शव्दो की सख्या अट्ठासी प्रतिशत है और उनमे से प्रत्येक शव्द अनावश्यक है, क्योकि उनके स्थान पर प्रचलित घरेलू शव्दो का व्यवहार किया जा सकता था। इसका परिणाम भी वहुत वुरा हुआ है। भाषा यहाँ दो वर्गों मे विभाजित हो गयी है। इनमे से एक तो सर्वसाधारण द्वारा ग्राह्य भाषा है और दूसरी साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग मुद्रित पुस्तको मे होता है और जो सस्कृत न जाननेवालो के लिए दुर्बोध है।[1] इस प्रकार अधिकाश जनता का साहित्य से कोई सम्वन्ध नही है किन्तु साहित्य की रचना करनेवालो के लिए यह साधारण सी बात है। जिस प्रकार देश के अधिनियमो का न जानना अनभिज्ञ लोगो का ही दोष है, उसी प्रकार जनता के लिए इस प्रकार की भाषा मे लिखित साहित्य यदि दुर्बोध है तो अन्तत यह उसी का दोष है। जैसा कि सर अथेल्स्टेन वेन्स ने अपनी सन् १८९१ की जनगणना की रिपोर्ट मे कहा है—वँगला के सस्कृतगर्भित होने का कारण अग्रेजो का हुगली मे आवाद होना है क्योकि इसी के परिणामस्वरूप पूर्वी भारत मे विद्वत्ता एव ज्ञान

१. And don't confound the language of the nation,
With long tailed words in 'osity' and 'ation'
J H Frere, The Monks and the Giants

[साधारण शब्दो के स्थान पर कठिन शब्दो का प्रयोग करके राष्ट्र की भाषा दुर्बोध न बनाओ]

का पुनरुत्थान हुआ। मुगल-शासन-काल मे जनता तथा पाण्डित्य की उपेक्षा के कारण जनभाषा या तो अपूर्ण या गँवारू थी, या गलती से उसे ऐसा मान लिया गया था। अँग्रेजी शासनकाल मे जनभाषा के तन्तुओ को सुदृढ करने की आवश्यकता थी किन्तु इसके बदले उस समय की शिक्षा के एक मात्र केन्द्र कलकत्ते मे सस्कृत के पुराने और कमजोर ढाँचे को अपनाया गया और इसी से शब्द लेकर पारस्परिक व्यवहार के लिए भाषा तैयार की गयी। स्विफ्ट का कथन है कि जो दूसरो के अनुदान पर निर्भर करता है वह सदैव निर्धन रहता है और भाषा के रूप मे बँगला की ठीक यही दशा हुई। उनमे सदैव सस्कृत से ऐसे शब्द आते रहे जिन्हे वह पचा नही पाती और इस कारण उसका विकास अवरुद्ध हो गया। इस सम्बन्ध मे बीम्स की उपमा तो और सुन्दर है। उनके अनुसार बँगला एक वयस्क बालक के समान है जो उस समय भी अपनी माँ का अचल थामे हुए है तथा उसकी सहायता का इच्छुक है जब उसे स्वय अपने पैरो पर खडा होना चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले कुछ वर्षो से कतिपय अत्यन्त उत्कृष्ट बँगला लेखको ने अपनी भाषा की इस कमजोरी का अनुभव किया है और गत पच्चीस वर्षों से ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की है जिनमे सस्कृत के उन भारी-भरकम शब्दो का परित्याग किया गया है जो उसकी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध किये हुए थे। यह बडा आशाप्रद शकुन है किन्तु अब भी बहुत कुछ करना शेष है। सस्कृत से शब्द उधार लेने के सम्बन्ध मे बँगला मे बड़ा मोह है और तब तक इसमे देशानुकूल मनोहर एव ओजपूर्ण रचना सम्भव नही है जब तक कोई महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति उत्पन्न होकर उसे इस इन्द्रजाल से मुक्त नही करता। अन्य आधुनिक भाषाएँ, विशेषतया हिन्दी, इसी प्राणघातक दिशा की ओर अग्रसर हो रही है। आजकल हिन्दीसाहित्य का केन्द्रस्थान बनारस (वाराणसी) है और यहाँ सस्कृत के पडितो का प्रभुत्व है। किन्तु बँगला की भाँति हिन्दी को इस बात की आवश्यकता नही है कि वह सस्कृत का मुँह देखे। जिन बोलियो से हिन्दी का उद्भव हुआ है वे गत पाँच सौ वर्षों मे स्वय इतनी समर्थ रही हैं कि बाह्य सहायता के बिना ही ये किन्ही भी ऐसे विचारो को जो मानव-मस्तिष्क मे आ सकते हैं स्पष्टतया प्रकट कर सकती हैं। इसका अपना शब्द-समूह विशाल है और इसमे सूक्ष्म विचारो को प्रकट करने की पूर्ण शक्ति है। इसके प्राचीन साहित्य मे कल्पना की ऊँची उडान तथा ऐसी धार्मिक भावनाओ की ओजपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है जिनका प्रादुर्भाव एशिया मे हुआ था। इसमे ऐसे दर्शन तथा अलकार सम्बन्धी ग्रथो की रचना

हुई है जिनमे सस्कृत के महान् लेखको की भाँति ही, अति सूक्ष्म दृष्टि से, विषयो का प्रतिपादन किया गया है। इन ग्रथो मे कठिनाई से ऐसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिन्हे शताब्दियो से मान्यता न प्राप्त हो। यद्यपि हिन्दी का शब्द-समूह इतना सम्पन्न है और उसमे भावो की अभिव्यक्ति के लिए अग्रेजी से कम क्षमता नही है तथापि इसमे इधर ऐसी पुस्तको को प्रणयन करने का फैशन हो गया है जिनका उत्तर भारत के लाखो लोग उपयोग नही कर सकते और जिनमे लेखको ने ऐसा पाण्डित्य प्रदर्शित किया है जिसका आनन्द सस्कृत जाननेवाले थोडे पण्डित ही ले सकते हैं। इतने पर भी जब कभी दो विद्वान् आपस मे बातें करते है तो वे एक भाषा का प्रयोग करते है किन्तु जब उनमे से कोई एक दूसरे को पत्र लिखता है तो वह दूसरी भाषा का प्रयोग करता है। इस सम्बन्ध मे विचार करते हुए पिछली शती के अन्तिम भाग के सर्वश्रेष्ठ लेखको मे से एक ने, जो स्वत बनारस के एक विद्वान् प्राध्यापक थे किन्तु जो अत्यन्त सस्कृतगर्भित भाषा के कट्टर विरोधी थे, अपनी अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तक मे लिखा है—"जब हिन्दी का लेखक हाथ मे कलम लेता है तब वह सयमहीन होकर सस्कृत-सुरा का पान करने लगता है।" दुर्भाग्य-वश अग्रेजो का अत्यधिक शक्तिशाली प्रभाव, बहुत दिनो तक सस्कृत-प्रेमी लोगो के पक्ष मे रहा है। इस सस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग मिशनरियो ने अति विस्तृत रूप मे किया है और पिछले कुछ वर्षों तक बाइबिल के समस्त अनुवाद इसी मे होते रहे। उपर्युक्त प्राध्यापक महोदय की भाँति ही कतिपय अन्य भारतीय विद्वान् भी (तद्भव शब्दो से युक्त) विशुद्ध हिन्दी के पक्ष मे खडे हुए, किन्तु शक्तिशाली भ्रात प्रयत्नो के समक्ष उन्हे बहुत कम सफलता मिली। यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि विज्ञान तथा कलासम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो का निर्माण करते समय सस्कृत का प्रयोग आवश्यक है। इस तर्क मे जान है और मैं इसे स्वीकार करता हूँ। किन्तु मेरा यह मत है कि सस्कृत से उधार लेने की क्रिया यही समाप्त भी कर देनी चाहिए। यदि कतिपय लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक नेतृत्व के लिए तैयार हो जायँ तो आज भी हिन्दी को बँगला के दुर्भाग्य से बचाया जा सकता है। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले शिक्षाधिकारियो द्वारा यह दूरदर्शितापूर्ण कार्य किया जा रहा है।

द्रविड़ भाषाओ का प्रभाव

पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत मे प्रवेश करनेवाले आर्य प्रारम्भिक युग मे द्रविड़ो

के सम्पर्क मे आये। इन आगन्तुको ने उनसे अन्तर्जातीय विवाह किये तथा इनके अनेक देवताओ और रीति-रिवाजो को अपना लिया। भाषा के क्षेत्र मे आर्यो ने द्रविडो के कुछ शब्दो को ग्रहण किया। लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व साधारणत लोगो की यह धारणा थी कि द्रविड भाषा के शब्दो को अधिक संख्या मे अपनाया गया। इसके बाद पासा पलटा और दृढतापूर्वक इस बात का समर्थन किया जाने लगा कि इन भाषाओ से कुछ नही लिया गया। मेरा अपना विचार है कि द्रविड भाषा से आगत शब्दो के सम्बन्ध मे जो इधर विद्वानो के विचार है उनसे कही अधिक शब्द आये, किन्तु दूसरी ओर यह विचार भी ठीक नही है कि ये शब्द व्यापक रूप से आये। विवाद की यह बात अब प्रधानतया मूर्धन्य वर्गो पर केन्द्रित हो गयी है। मूल आर्य (भारत-ईरानी) भाषा मे इन वर्गो का अभाव है और भारतीय आर्य-भाषाओ मे, भारत की धरती पर ही ये अस्तित्व मे आये। द्रविड तथा मुडा भाषाओ मे ये बहुत प्रचलित हैं और निश्चित रूप से ये इन भाषाओ मे आर्य-भाषा से नही आये। वास्तव मे विवाद का प्रश्न तो यह है कि भारतीय आर्यो ने उन्हे द्रविडो से ग्रहण किया या नही। दोनो मे से कोई बात पूर्णतया सही नही है। विशुद्ध आर्यभाषा के शब्दो मे भी इन (मूर्धन्य) वर्णो का प्रयोग हुआ है। इस सम्बन्ध मे यह कथन अधिक सगत होगा कि अनेक दशाओ मे, पडोस की अनार्य जातियो के प्रभाव से, आर्यभाषा के शब्दो के उच्चारण मे परिवर्तन हो गया, क्योकि इन अनार्य भाषा-भाषियो की सख्या आर्यों की अपेक्षा बहुत अधिक थी। परिवर्तन का शेष कार्य सादृश्य द्वारा पूरा हुआ। किन्तु आर्यभाषा मे द्रविड़ भाषा से अनेक शब्द सीधे भी आये।[1] इन शब्दो के अन्तर्गत कतिपय नामवाची (ऐसे शब्द जिनका आर्यो को मध्य एशिया मे ज्ञान न था) तथा नित्य व्यवहार के शब्द थे। यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि जिन शब्दो मे हमे द्रविड भाषा का प्रभाव अत्यल्प प्रतीत होता है वहाँ मूर्धन्य वर्णो का प्रयोग प्राय अस्थिर है। उदाहरणार्थ अस-

१. इस प्रकार के आगत शब्दों के मूल अर्थ में परिवर्तन हो जाता है और इनके अर्थ प्रायः घृणास्पद हो जाते हैं। उदाहरणार्थ द्रविड़ भाषा मे 'पिल्लई' का अर्थ 'पुत्र' होता है किन्तु जब यही शब्द भारतीय आर्यभाषा मे आता है तो इसका अर्थ 'पिल्ला' अर्थात् कुत्ते का बच्चा हो जाता है। ऐसी अवस्था में यही आशा भी की जाती है।

मियाँ मे लिखते समय तो दन्त्य तथा मूर्धन्य वर्णों का अन्तर स्पष्ट किया जाता है किन्तु उच्चारण मे इसका सर्वथा अभाव है। उस समय जब एक ही भाव को द्योतित करने के लिए दो या तीन ढग होगे तो लोग स्वभावत उसी शैली को अपनाते होगे जिसका ध्वनि तथा अर्थ मे आस-पास के अनार्य भाषा-भाषियो से साम्य होगा। उदाहरणस्वरूप प्राकृत मे सम्प्रदान को अभिव्यक्त करने के कई ढग थे। इनमे से एक था (प्राचीन सस्कृत 'कृते' से प्रसूत) 'कहुँ' अनुसर्ग। आधुनिक आर्यभाषाओ मे इसके प्रचलित होने का अच्छा मौका था क्योकि द्रविड भाषा मे भी इसी के समान "कु" अथवा जिससे यह प्रसूत हुआ है, वह प्रत्यय मौजूद था। इस प्रकार इस "कु" प्रत्यय की उपस्थिति के कारण ही 'कहुँ' अनुसर्ग कई आर्य-भाषाओ मे सुरक्षित रह सका। यही आज "को" अनुसर्ग के रूप मे हिन्दी मे वर्तमान है। आर्येतर भाषा के, आर्यभाषाओ पर इसी प्रकार के अन्य प्रभावो के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। यहाँ केवल दो ही उदाहरण पर्याप्त होगे। सस्कृत से द्वितीय प्राकृत मे आते समय स्वरमध्यग कठोर व्यजन सर्वप्रथम मृदु व्यजन मे परिवर्तित हुए। तदुपरान्त उनका लोप हो गया। उदाहरणार्थ प्राचीन सस्कृत का **'चलति'** (वह जाता है) पहले **'चलदि'** हुआ और बाद मे **'चलइ'** मे परिणत हो गया। द्वितीय प्राकृत की कतिपय विभाषाएँ तो अन्य प्राकृतो की अपेक्षा इस अवस्था मे बहुत दिनो तक रही और उनमे मृदु व्यजन सुरक्षित रहे। इतना ही नही, कही-कही तो ये मृदु व्यजन आधुनिक भाषाओ तक मे चले आये। उदाहरण के लिए सस्कृत का **'शोक'** शब्द हिन्दी मे **'सोग'** हो गया, **'सोअ'** नही। इस स्वर-मध्यग व्यजन की आकस्मिक सस्थिति को द्रविड भाषा के प्रभाव तथा उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है क्योकि यह उसकी विशेषताओ मे से है। कतिपय दर्दीय भाषाओ तथा बाहरी उपशाखा की कुछ भारतीय आर्यभाषाओ—मुख्यत कश्मीरी, सिन्धी तथा बिहारी—मे, अन्तिम स्वर—**'इ'** अथवा **'उ'** का लोप नही होता, जैसा कि भीतरी उपशाखा की भाषाओ मे होता है, वरन् ये साधारणत प्रचलित हैं पर इनका अल्प अथवा अर्धमात्रिक उच्चारण होता है। उदाहरणार्थ सस्कृत का **'मूर्ति'** भीतरी उपशाखा की हिन्दी मे **'मूरत'** हो जाता है किन्तु बिहारी मे यह **'मूरति'** रूप मे मिलता है। यह भी द्रविड भाषाओ की एक विशेषता है।

मुन्डा भाषाओ का प्रभाव

भारतीय आर्यभाषाओ पर मुण्डा भाषाओं का इस प्रकार का प्रभाव परि-

लक्षित नही होता। ये भाषाएँ, आर्यों की विजय के पूर्व ही, गगा के मैदान मे द्रविडो द्वारा समाप्त कर दी गयी थी। किन्तु प्राचीन मुडा तथा आस्ट्रो-एशियाई भाषाओ के कतिपय शब्द सस्कृत मे मिलते है। इनमे से कुछ तो वस्तुओ के नाम है, जैसे— पान, रुई, सूती कपड़े तथा बाँस के तीर के नाम। ये वस्तुएँ आर्यो के लिए नयी थी।[1] इनके अतिरिक्त कतिपय भौगोलिक नाम भी उनसे ग्रहण किये गये, जैसे कोसल, तोसल, कलिग, त्रिलिग आदि।[2] वर्तमान युग मे मुडा भाषाएँ मैदानी प्रदेश के दक्षिणस्थित वन्य प्रदेशो तक ही सीमित है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है,[3] मध्य हिमालय की तिब्बती-बर्मी भाषाओ मे, पश्चिम मे पजाब के कनावर नामक स्थान तक इनके चिह्न मिलते है। आधुनिक आर्य भाषाओ मे जो बीस-बीस करके गणना होती है वह भी मुण्डा का ही अवशेष है। भारतीय आर्य भाषाओ की अक-प्रणाली निश्चित रूप से दशमलव पद्धति पर है। गणना के लिए कोड़ी शब्द का भी प्रयोग होता है जो सम्भवत मुण्डा शब्द है। बीस वस्तुओ की कोडी होती है और गगा के काँठे के अशिक्षित लोग बड़ी सख्याओ के लिए इसका प्रयोग करते हैं। उदाहरणस्वरूप बावन की सख्या को वे "दो बीस और बारह" अथवा "दो कोड़ी बारह" के रूप मे प्रकट करते हैं। बीस के हिसाब से गिनना मुण्डा भाषाओ की एक विशेषता है। प्राचीन काल मे गंगा के पूर्वी मैदान मे मुण्डा जाति अत्यधिक शक्तिशाली थी और बिहार की पूर्वी बोलियो पर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। यहाँ क्रियापदो का रूप अत्यधिक जटिल होता है क्योकि यह कर्म के लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित होता है। उदाहरण-स्वरूप "मैं तुम्हे मार रहा हूँ" और "मैं उसे मार रहा हूँ" मे "मारना" क्रिया के रूप दोनो मे भिन्न-भिन्न होंगे। ये परिवर्तन मूलत. आर्य भाषा के हैं और पश्चि-

१. देखो 'Bulletin de la Societe de Linguistique de Paris XXIV (१९२४) पृ० २५५ तथा उसके आगे और XXV (१९२४) पृ० ६६ तथा उसके आगे, Dr. J. Przyluski के लेख।

२. देखो Professor Sylvain Levi, Pre-aryen et Pre-dravidian danl Inde, in J. A. C C III (१९२३) पृ० १ तथा उसके आगे।

३. देखो इसी पुस्तक के पृ० ६८ तथा पृ० १०७, १०८।

मोत्तर भारत की भाषाओ मे भी इसी के समान रूप मिलते हैं किन्तु क्रियापदो के रूप मुण्डा की भाँति होते है।[1]

भारत-चीनी भाषाओ का प्रभाव

भारतीय आर्य-भाषाओ के शब्द-समूहो पर भारत-चीनी भाषाओ का बहुत कम प्रभाव पडा है। केवल असमियाँ तथा पूर्वी बगाल की भ्रष्ट बँगला मे ही यह प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसमे कतिपय तिब्बती तथा आहोम भाषा के शब्द मिलते हैं। तिब्बती-वर्मी भाषा के प्रभाव से, असमियाँ मे मूर्धन्य वर्णो का द्रविड उच्चारण समाप्त होता जा रहा है। इस भाषा मे कुछ सज्ञाओ मे सयुक्त होनेवाले सर्वनामीय प्रत्यय, यद्यपि असदिग्ध रूप से आर्य-मूल के है, किन्तु सम्भवत वे तिब्बती-वर्मी प्रभाव के कारण ही आये हैं। पडोस की आर्य-भाषाओ मे सज्ञा के साथ इनका प्रयोग समाप्त हो चुका है किन्तु तिब्बती-बर्मी भाषाओ (जहाँ एक वर्ग की सज्ञा के साथ उपसर्ग का ही प्रयोग होता है, परसर्ग प्रत्यय का नही) के आदर्श के ही कारण ये असमियाँ भाषा मे आज भी प्रचलित है। मेरा विचार है कि तिब्बती-वर्मी भाषाओ के प्रभाव के अन्य प्रकार के अनेक उदाहरण भी खोजे जा सकते है। सस्कृत मे अतीत काल को प्रकट करने के दो ढग थे। "मैंने उसे मारा" अथवा "वह मेरे द्वारा मारा गया", इसी प्रकार "मैं गया" अथवा "मेरे द्वारा चला (जाया) गया"। इन दोनो ढगो से हम सस्कृत मे एक ही वात कह सकते हैं। आधुनिक भाषाओ मे केवल दूसरी अर्थात् कर्मवाच्य की पद्धति ही प्रचलित है। किसी भी आधुनिक भाषा मे "मैंने उसे मारा" अथवा "मैं गया" नही कहा जाता किन्तु सभी मे "वह मेरे द्वारा मारा गया" अथवा "मेरे द्वारा चला (जाया) गया" ही कहा जाता है। सस्कृत मे एक तीसरी पद्धति भी थी जिसका प्रयोग केवल अकर्मक क्रियाओ मे होता था। यह भावे प्रयोग था जहाँ कि "मैं गया" के बदले "मेरे द्वारा चला (जाया) गया" प्रयुक्त होता था। सस्कृत मे, सकर्मक क्रियाओ मे यह प्रयोग नही चलता था किन्तु आधुनिक आर्यभाषाओ मे तो इन क्रियाओ मे भी यह प्रयोग वहुप्रचलित है। उदाहरणार्थ हिन्दी मे हम कहेगे—

१. इस सम्बन्ध मे मुण्डा क्रियापदों के विषय मे पृ० ७३, ७४ पर पीछे जो कहा गया है उसे देखो।

'मैंने उसको मारा'। इस वाक्य का अर्थ होगा—'मेरे द्वारा उसके प्रति मारने का कार्य सम्पन्न किया गया।' यह भावे प्रयोग वस्तुत तिव्वती-वर्मी वाक्य-विन्यास की मुख्य विशेषताओ मे से है। यह वहुत मम्भव है कि वाक्य-विन्यास की इस पद्धति को आर्यो ने आदि युग मे ही भारत-प्रदेश के समय तिव्वती-वर्मी भाषा से ग्रहण किया हो किन्तु परिनिष्ठित सस्कृत भाषा मे इसे स्थान न मिला हो।

अभारतीय भापाओ का प्रभाव

भारतीय आर्य भाषाओ पर ऐसी भापाओ का भी प्रभाव पडा जो पूर्णतया विदेशी थी। विदेशी भाषाओ के सम्पर्क के कारण इनके शव्द-समूहो पर विभिन्न रूपो मे प्रभाव पडा। इनमे से सवसे अधिक प्रभाव फारसी का था। यह पूर्व-मुसलमान युग की ईरानी भाषा का (यद्यपि इसने भी कुछ अशो मे प्रभावित किया था) प्रभाव नही था अपितु मुगल-विजेताओ की अरवीमिश्रित फारसी का ही प्रभाव था। इस प्रकार भारतीय आर्य-भाषाओ ने फारसी के द्वारा अरवी का एक महत्वपूर्ण अश तथा तुर्की के कतिपय शव्दो को ग्रहण किया। इस्लाम धर्म के प्रभाव ने अरवी शव्दो के आगमन के लिए एक अन्य द्वार भी खोल दिया और भारत के पश्चिमी तट पर कतिपय शव्द अरव व्यापारियो के साथ आये। मुख्यत भारतीय आर्य तथा अनार्य भाषाओ मे अरवी शव्द फारसी भाषा के द्वारा तथा उसके अग वनकर ही आये। फारसी के इन शव्दो का उच्चारण भी मुगलकालीन है, न कि वर्तमान युग के ईरान का स्त्रैण उच्चारण। इन शव्दो के सम्मिश्रण मे भी स्थान तथा धर्म के अनुसार वड़ा अन्तर है। प्राय सर्वत्र ही फारसी के कुछ शव्दो को स्थान मिला है और निपट अपढ तथा गँवार लोग तक इनका प्रयोग करते है, किन्तु इस प्रयोग तथा लखनऊ की उस साहित्यिक उर्दू मे महान् अन्तर है जहाँ वाक्य के अन्त मे क्रियापद को छोड़कर एक भी भारतीय आर्य-भाषा का शव्द नही रहता। प्राय सभी परिस्थितियो मे शव्द-समूहो पर ही अधिक प्रभाव पडा है, वाक्य-विन्यास पर तो इसका प्रभाव नही के वरावर है। केवल मुसलमानो की उर्दू मे ही हम फारसी व्याकरण के अनुसार वाक्य मे शव्दो का क्रम पाते हैं। इसके अतिरिक्त न तो फारसी व्याकरण का कोई प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है और न अरवी व्याकरण के अनुसार अरवी शव्दो के रूप ही चलते हैं और भाषा को विवश होकर हिन्दी-व्याकरण की पद्धति को अपनाना पडा है। विदेशी वाक्य-विन्यास के प्रयोग के विरुद्ध लोगो की इतनी प्रवल भावना है कि फारसीगर्भित

हिन्दोस्तानी—उर्दू—को हिन्दू लेखक एक अलग विभाषा मानते हैं। भाषा और विभाषा का यह विभाजन शब्द-समूह पर नही अपितु वाक्य मे शब्दो के क्रम पर निर्भर है। गत शताब्दी मे विशुद्ध हिन्दी मे एक कहानी (रानी केतकी की कहानी) का प्रकाशन हुआ था। इसमे आदि से अन्त तक एक भी फारसी शब्द का व्यवहार नही हुआ था तथापि हिन्दू लेखक इसकी भाषा उर्दू ही मानते हैं क्योकि इसके वाक्यो का गठन फारसी व्याकरण की शैली पर है। इसका लेखक एक मुसलमान था जो अपनी पाठशाला के दिनो मे मौलवियो द्वारा पढाये गये मुहावरो का परित्याग न कर सका।

अन्य भाषाओ ने भी भारतीय आर्य भाषाओ के शब्द-समूह की वृद्धि मे योग-दान किया है। इनमे से पुर्तगाली, डच तथा अग्रेजी मुख्य हैं। यद्यपि नित्य व्यव-हार के अनेक शब्द इन भाषाओ से लिये गये हैं तथापि आधुनिक आर्यभाषाओ पर इनका बहुत कम प्रभाव है। अग्रेजी शब्दो का प्रयोग, मुख्यत रेलवे कर्म-चारियो तथा सैनिको के कारण निरन्तर बढ रहा है। किसी भी भाषा पर फौजी छावनी की भाषा का प्रभाव विस्तृत रूप से पडता है।

तेरहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाएँ—बाहरी उपशाखा

पश्चिमोत्तर समुदाय

यहाँ पृष्ठ २३५ पर दी गयी सूची के अनुसार भारतीय आर्य भाषाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से विचार किया जाता है। यह कार्य वाह्य उपशाखा की भाषाओ और उनमे भी पश्चिमोत्तर समुदाय से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओ से प्रारम्भ किया जाता है।

इस समुदाय मे मोटे तौर पर सिन्धु नदी के काँठे की पेशावर से समुद्र तक अथवा पश्चिमी पजाब और सिन्ध के क्षेत्र की भारतीय आर्य-भाषाएँ आती हैं। यह क्षेत्र पेशावर से हज़ारा ज़िले के उत्तर-पूर्व तथा पूर्व स्थित प्रदेशो तक भी प्रसरित है। इसके उत्तर तथा उत्तर-पूर्व के प्रदेशो मे वाहरी उपशाखा दर्दीय भाषाओ के सम्पर्क मे आती है। इसके पश्चिम मे ईरानी-पश्तो है और दक्षिण मे यह अरव

पश्चिमोत्तर-समुदाय

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
लहदा	७०,९२,७८१	५६,५२,२६४
सिन्धी	३०,६९,४७०	३३,७१,७०८
योग	१,०१,६२,२५१	९०,२३,९७२

सागर तक जाती है। यह केवल पूर्व मे ही अन्य भारतीय आर्य-भाषाओ के सम्पर्क मे आती हैं। ये हैं, क्रमश उत्तर से दक्षिण की पजावी, राजस्थान की मारवाडी उपभापा और गुजराती। इन तीनो का ही भीतरी उपशाखा से सम्बन्ध है। किसी समय इस सम्पूर्ण क्षेत्र मे दर्दीय भाषाएँ वोली जाती थी जिनके चिह्न अभी तक सिन्धी और लहँदा भाषाओ मे मिलते हैं। किन्तु दर्दीय भाषा के इस प्रभाव के

होते हुए भी ये दोनो ही स्पष्टत वाहरी उपशाखा की भाषाएँ हैं और पूर्वी भारत की वाहरी उपशाखा की भाषाओ से इनका जितना सम्वन्ध है उतना ही पजाबी और राजस्थानी मे इस सम्वन्ध का अभाव है।[1]

आज जो प्रदेश पश्चिमी पंजाब के रूप मे वर्तमान है उसे महाभारत मे असभ्य तथा वर्बर कहा गया है और उसे भारतीय आर्य-सभ्यता की सीमा से पूर्णतया वाहर वतलाया गया है। इसमे तथा वर्तमान सिन्ध प्रदेश मे तीन राज्य सम्मिलित थे। ये थे—सुदूर उत्तर का गाधार, सिन्धु के निचले भाग का केकय राज्य तथा उसके और भी नीचे का सिन्धु-सौवीर राज्य। इस दोष के होते हुए भी, जिसका आधार धार्मिक असहिष्णुता थी क्योकि अति प्राचीन काल से ही पश्चिमी पजाव बौद्ध-धर्म का केन्द्र था, यह निश्चित है कि प्राय ६०० ई० पू०, गाधार की राजधानी तक्षशिला मे भारत का सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय था। इस विश्वविद्यालय के निकट ही , शालातुर में, सस्कृत के प्रख्यात वैयाकरण पाणिनि का, ईसा-पूर्व चौथी अथवा पाँचवी शताब्दी मे जन्म हुआ था। उन दिनो केकय प्रदेश भी अपनी विद्वत्ता के लिए विख्यात था। छान्दोग्य उपनिषद् (५–११) मे वतलाया गया है कि किस प्रकार पाँच प्रकाण्ड वेदान्ती कठिन प्रश्नो के साथ एक ब्राह्मण के पास आये जिनका उत्तर वह न दे सका। उसने उन्हे केकय देश के क्षत्रिय नरेश अश्वपति के पास भेजा जिसने एक दूसरे सोलोमन की भाँति उनकी समस्त कठिनाइयो का समाधान कर दिया।

पश्चिमी पजाव, सदैव से वाह्य आक्रमणकारियो के लिए उत्तर तथा पश्चिम की ओर से खुला था। प्राय सर्वमान्य विवरणो के अनुसार आर्यों ने भारत मे उन्ही मार्गों से प्रवेश किया था। दूसरा आक्रमण, जिसका इतिहास मे उल्लेख मिलता है, महात्मा बुद्ध के थोडे ही समय वाद, ईरान के दारा प्रथम (५२१–४८५ ई० पू०) ने किया था। हेरोडोटस के अनुसार उसने इसे जीतकर दो क्षत्रपियों (क्षत्रप-राज्यों) मे विभाजित कर दिया था। इनमे से एक तो गाधार का क्षत्रप-राज्य था (हेरोडोटस ३–९१), और दूसरा सिन्धु काँठे के निवासियो

१. इस सम्वन्ध मे पूर्ण विवाद के लिए देखो Bulletin of the School of the Oriental Studies, Vol 1 Part iii पृष्ठ ७८ तथा उसके आगे।

का वीसवाँ क्षत्रप-राज्य था[1] जिसका उन्होने स्वय निर्माण किया था। इसके आगे दारा का शासन न था (३–१०१)। हेरोडोटस आगे लिखता है, 'जिन राष्ट्रो से हम परिचित है उनमे भारतीय राष्ट्र की जनसख्या सवसे अधिक है। ये लोग अन्य राष्ट्रो की अपेक्षा अधिक कर देते हैं। यह कर ३६० स्वर्ण-मुद्राओ का है।' दारा और हेरोडोटस दोनो का भारत यही था (जव ये दोनो भारत की चर्चा करते हैं तो उनका तात्पर्य इसी भू-भाग से होता है)। इस भू-भाग पर दारा का इतना पूर्ण अविकार था कि सिन्धु नदी के निचले भाग से होते हुए समुद्र की ओर उसने एक जलसेना भी भेजी थी जहाँ से उसके सैनिक पश्चिम की ओर अपने देश गये थे। यूनान के विरुद्ध जव उसके उत्तराधिकारी क्षयार्क (ज़र्कसीज़, ई० पू० ४८०) ने चढाई की थी तो उसकी विशाल सेना मे गांधार तथा पश्चिमी पजाव के भी शिक्षित सैनिक थे। हेरोडोटस (७–६५, ६६) के अनुसार ये सैनिक सूती वस्त्र धारण किये हुए थे। इनके धनुष वेत के थे और वाण भी वेत के ही थे जिनके शिरो-भाग पर लोहे की अनी जडी हुई थी। वेंत के वाणो का उल्लेख हमे इस बात का स्मरण दिलाता है कि वाँस से निर्मित वाण (सम्भवत हेरोडोटस का इसी ओर सकेत है) भारत पर आक्रमण करनेवाले आर्यो के लिए नवीन वस्तु थी। इसीलिए उन्हे उनके लिए किरात (आस्ट्रो एशियाटिक) नाम ग्रहण करना पडा था।

सिकन्दर महान् का आक्रमण (३२७–३२५ ई० पू०) पश्चिमी पजाव तथा सिन्ध तक ही सीमित था। सेल्यूकस निकेटर ने ३०५ ई० पू० मे भारत पर आक्रमण किया और सिन्धु नदी को पार करके चन्द्रगुप्त महान् से सन्धि की। ईसा-पूर्व दूसरी शती मे वैक्ट्रिया के दो ग्रीक राजवशो ने पश्चिमी पजाव मे अपने राज्य स्थापित किये। इनमे से एक था इयुथिडेमस द्वारा स्थापित राज्य जो १५६ ई० पू० मे समाप्त हो गया और दूसरा था इयुक्रेटाइडीज़ द्वारा स्थापित राज्य जिसका २० ई० पू० मे अन्त हो गया। इसके वाद विभिन्न कालो मे अन्य आक्रमणकारियो—सीदियनो, पार्थियनो, कुशाणो, तथा हूणो—ने उत्तर-पश्चिमी मार्ग से भारत पर आक्रमण किया। अन्तत उसी प्रवेशद्वार अथवा सिन्ध से होकर मुसलमान आक्रमणकारी, महमूद गज़नवी अथवा मुगल आये।

१. इस सम्वन्ध मे रावलिसन (Rawlinsons) का नोट, हेरोडोटस (Herodotus iii 98) के अनुवाद के लिए देखो।

सम्पूर्ण पजाब दो सर्वथा-भिन्न भारतीय आर्य भाषाओ की मिलन-भूमि है। इनमे से एक है प्राचीन बाहरी उपशाखा की भाषा जो यदि दर्द नही भी है तो भी दर्द भाषा से प्रभावित है। यह सिन्धु नदी के काँठे से पूर्व की ओर प्रसरित हुई है। दूसरी है मध्यदेश की प्राचीन भाषा जो आधुनिक पश्चिमी हिन्दी की जननी है तथा जो यमुना के काँठे से पश्चिम की ओर प्रसरित हुई है। पूर्वी पजाब मे प्राचीन लहँदा के साथ दर्दीय भाषा का प्रभाव समाप्तप्राय हो गया और इधर प्राचीन पश्चिमी हिन्दी ने अपना प्रभुत्व जमा लिया तथा इसके परिणामस्वरूप आधुनिक पजाबी अस्तित्व मे आयी। इसी प्रकार पश्चिमी पजाब मे प्राचीन पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव समाप्त हो गया और प्राचीन लहँदा ने उधर अपना अधिकार जमा लिया। इसके फलस्वरूप आधुनिक लहँदा अस्तित्व मे आयी। इस प्रकार आधुनिक लहँदा, मुख्यत दर्दीय भाषा से प्रभावित बाहरी उपशाखा की भाषा है किन्तु इसमे प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के चिह्न भी वर्तमान है। पजाबी मे पश्चिमी हिन्दी के इस प्रकार के चिह्न अत्यधिक मात्रा मे उपलब्ध है और ये है भी अत्यन्त महत्वपूर्ण। लहँदा को पश्चिमी हिन्दी के सम्पर्क से दूषित एक दर्दीय भाषा कहा जा सकता है जब कि पजाबी दर्दीय भाषा से दूषित पश्चिमी हिन्दी का एक रूप है। इस भाषागत परिस्थिति से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक मिश्रित भाषा जो मुख्यत बाहरी उपशाखा की थी तथा जो आशिक रूप से दर्दीय थी, किसी समय सम्पूर्ण पजाब मे फैली हुई थी, किन्तु मध्यदेश के निवासियो ने जनसख्या बढ जाने अथवा अन्य किसी कारण से धीरे-धीरे पजाब पर अधिकार कर लिया और यहाँ के निवासियो पर आशिक रूप से अपनी भाषा लाद दी। इसके अतिरिक्त, किसी भी अन्य प्रकार से पूर्वी पजाब की मिश्रित भाषा की प्रकृति की व्याख्या नही की जा सकती। इस सम्मिश्रण का एक परिणाम यह हुआ है कि पजाबी और लहँदा के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खीचना नितान्त असम्भव हो गया है। यदि सुविधा की दृष्टि से, हम मोटे तौर पर ७४° पूर्वी देशान्तर को सीमारेखा मान ले तो स्पष्ट रूप से लहँदा का अधिकाश भाग इसके पूर्व मे तथा उसी रूप मे पजाबी का अधिकाश भाग इसके पश्चिम मे पडेगा।

इसके ठीक प्रतिकूल, सिन्धी ने प्राय अपनी बाहरी उपशाखा की भाषागत मूल विशेषता को सुरक्षित रखा है, किन्तु आशिक रूप से इस पर भी दर्द भाषा का प्रभाव है। इसके पूर्व मे राजस्थानी है न कि पजाबी। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि यह पश्चिमी राजस्थान की मरुभूमि की भौगोलिक बाधा के कारण

पूर्वीय आक्रमणो से सुरक्षित रही है। जहाँ कि आधुनिक लहँदा अदृश्य रूप से पंजाबी मे विलीन हो जाती है। वहाँ सिन्धी राजस्थानी मे विलीन नही होती अपितु उससे नितान्त पृथक् रहती है। इस प्रकार की सीमावर्ती बोलियाँ केवल कृत्रिम मिश्रण हैं, न कि भाषागत परिवर्तन के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ।

यद्यपि बहुत प्राचीन समय से ही वह क्षेत्र जिसमे भारतीय आर्य-भाषाओ के पश्चिमोत्तरी समुदाय की भाषाएँ बोली जाती हैं, प्राय विदेशी प्रभाव के अन्तर्गत रहा है, तथापि यह बडे आश्चर्य की बात है कि दर्दीय मिश्रित-बाहरी उपशाखा की भाषा पर इसका अत्यल्प प्रभाव पडा है। मुसल्मानी शासनकाल मे, इसके शब्द-समूह मे अवश्य अनेक फारसी (अरबी) शब्द घुस आये हैं। वास्तविक दर्दीय भाषाओ मे यूनानी भाषा के कतिपय शब्द आज तक सुरक्षित है, किन्तु लहँदा या सिन्धी मे ऐसे शब्दो का अभाव है।

इन भाषाओ की भाषागत वंशावली के सम्बन्ध मे बहुत थोडा ही ज्ञात हो सका है। सिन्धी की सीधी पूर्वज अपभ्रंश व्राचड थी। इसके सम्बन्ध मे भारतीय वैयाकरण मार्कण्डेय ने कुछ सामग्री उपस्थित की है। मार्कण्डेय इसके अतिरिक्त उसी प्रदेश मे, उससे भिन्न रूप मे बोली जानेवाली एक अन्य व्राचड-पैशाची का भी उल्लेख करते हैं और इस बात पर अधिक जोर देते हैं कि केकय-पैशाची वस्तुत मुख्य प्राकृत है। हम यह पीछे (पृ० २१२) देख चुके है कि पैशाची आधुनिक दर्द लोगो के पूर्वजो की भाषा थी। इस प्रकार पश्चिमोत्तर समुदाय की भाषाओ पर दर्दीय प्रभाव की सस्थिति इस साक्षी से सिद्ध हो जाती है कि किसी युग मे पैशाची उसी क्षेत्र मे बोली जाती थी।

लहँदा क्षेत्र मे कौन अपभ्रंश प्रचलित थी, इसका हमे कोई ज्ञान नही है। इस सम्बन्ध मे मार्कण्डेय का केवल इतना ही कथन है कि इस क्षेत्र—प्राचीन गधार तथा केकय—मे जो साहित्यिक अपभ्रंश प्रचलित थी उसमे लगातार तथा दुहराने के अर्थ मे एक ही शब्द दो बार प्रयुक्त होता था। गधार प्रदेश के शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा मे, सम्राट् अशोक (२५० ई० पू०) के दो प्रसिद्ध शिलालेख मिलते हैं जो उस समय की राज्यभाषा मे लिखे गये है। यह पालि की ही एक विभाषा थी जिसमे अनेक ध्वन्यात्मक विशेषताएँ थी। ये विशेषताएँ आज भी लहँदा, सिन्धी तथा दर्दीय भाषाओ मे देखी जा सकती है।[1]

१. देखो, जे० आर० ए० एस० (J R A S) १९०४, पृ० ७२५।

लहँदा

लहँदा पश्चिमी पजाब की भाषा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसके तथा पजावी के बीच कोई स्पष्ट सीमारेखा नही है। ये दोनो (लहँदा तथा पजावी) भाषाएँ ७४° पूर्व देशान्तर के आस-पास, अदृश्य रूप से एक दूसरे मे विलीन हो जाती हैं। लहँदा बोलनेवालो की सख्या ७० लाख है जो आस्ट्रिया की जन सख्या के वरावर है। इसके अन्य नाम हैं—पश्चिमी पजावी, जटकी, उच्ची तथा हिन्दकी। लहँदा का शाब्दिक अर्थ है 'सूर्यास्त' और व्यजनात्मक अर्थ है पश्चिमी।[1] लहँदा को 'पश्चिमी पजावी' नाम देने से यह ध्वनित होता है कि यह पजावी की ही एक विभाषा है किन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। इसके अतिरिक्त इस नाम के कारण उस समय और भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है जव हम पश्चिमोत्तरीय पश्चिमी पजावी तथा इसी प्रकार की नामवाली अन्य बोलियो का उल्लेख करते हैं। 'जटकी' से तात्पर्य है जाट लोगो की बोली अथवा भाषा जो लहँदा-क्षेत्र के मध्य भाग मे एक वडी सख्या मे आवाद है। किन्तु लहँदा वोलनेवालो मे लाखो लोग ऐसे हैं जो जाट नही हैं और पूर्वी पजाव के लाखो जाट लहँदा नही बोलते। उच्ची, उच्च कसवे की भाषा है। (नक्शे मे यह नाम 'उच' या 'ऊच' रूप मे मिलता है।) वस्तुत यह लहँदा की मुल्तानी बोली का दूसरा नाम है। 'हिन्दकी' अथवा 'हिन्दको' हिन्दुओ (पठानो के अतिरिक्त लोगो) की भाषा है। लहँदा का यह नाम लहँदा के पश्चिमी क्षेत्र की भाषा होने के कारण पडा है। यहाँ इस्लाम धर्मावलम्वी पश्तो-भाषी पठान भी रहते है।

लहँदा की विभाषाएँ

लहँदा की विभाषाओ की संख्या वहुत अधिक है। सर्वेक्षण मे प्राय इसकी वाईस

१. यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस शब्द का अर्थ संज्ञापद है, विशेषण नहीं, अतएव इसे हम स्त्रीलिग रूप मे लहँदी नहीं लिख सकते, जैसा कि कतिपय लेखक चाहते हैं। पश्चिमी के लिए यहाँ शब्द लहँदा नहीं अपितु लेहन्दोचड़ अथवा डिलाही है। यहाँ पर लहँदा विशुद्ध अंग्रेजी शब्द है और यह लहन्देदि बोली (अर्थात् पश्चिम की वोली) का परम्परागत संक्षिप्त रूप है। यहाँ पूर्वी पजावी की दृष्टि से इसका ऐसा नाम है।

विभाषाओ का विवरण विभिन्न नामो के अन्तर्गत दिया गया है। ये दो मुख्य समुदायो मे विभाजित हैं—पहला उत्तरी समुदाय, दूसरा दक्षिणी समुदाय। इनकी विभाजनरेखा दक्षिण की नमक की पहाडियाँ है। जहाँ तक दक्षिणी समुदाय का प्रश्न

लहँदा की विभाषाएँ

	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित (लहँदा)	१५,०७,८२७
मुल्तानी	२१,७६,९८३
खेत्रानी और जाफिरी	१४,५८१
थळी	७,५९,२१०
पश्चिमोत्तरी	८,८१,४२५
पूर्वोत्तरी	१७,५२,७५५
योग	७०,९२,७८१

है, हमे सबसे पहले नमक की पहाडियो के दक्षिणस्थित रेच्ना और जेच् के दोआब—अर्थात् शाहपुर, झग, गुजरानवाला तथा गुजरात—के जिलो मे बोली जानेवाली बहुसख्यक विभाषाओ का उल्लेख करना है। सर्वेक्षण के अन्तर्गत शाहपुर ज़िले की भाषा परिनिष्ठित लहँदा के रूप मे ली गयी है और अन्य ज़िले इससे सयुक्त है।

मुल्तानी, हिन्दकी, बहावलपुरी, सिराइकी हिन्दकी

रेच्ना दोआब के दक्षिण मुल्तानी विभाषा अथवा बोली का क्षेत्र है। (सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलनेवालो की सख्या २३,४२,९५४ थी।) यह मुल्तान मुजफ्फरगढ तथा डेरागाज़ी खाँ के ज़िलो मे बोली जाती है। अन्तिम दो ज़िलो मे यह हिन्दकी के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहावलपुर रियासत मे भी बोली जाती है जहाँ इसे बहावलपुरी के नाम से पुकारा जाता है। इसके अतिरिक्त मुल्तानी, सम्पूर्ण सिन्ध प्रदेश मे बिखरी हुई जातियो द्वारा बोली जाती है। यहाँ इसे 'सिराइकी हिन्दकी' कहते हैं। मुल्तानी परिनिष्ठित लहँदा तथा सिन्धी के बीच की भाषा है और यह अनेक बातो मे सिन्धी के समान है।

थळी

उत्तर की ओर लौटने पर, सिन्ध सागर दोआव के आधे उत्तरी भाग तथा डेराइस्माइल खाँ जिले के समीपवर्ती प्रदेश मे थळी अथवा थल या मरुस्थल की भाषा वोली जाती है। इसमे तथा शाहपुर ज़िले की परिनिष्ठित भाषा मे अति निकट का सम्वन्ध है किन्तु उच्चारण मे यह उससे भिन्न है और यह कई वातो मे दर्द भाषा से सम्वन्ध रखती है।

खेत्रानी, जाफिरी

अन्तत लगारी तथा सुलेमान पर्वत-मालाओ की सीमा के उस पार खेत्रान तथा जाफर लोगो मे दो मिश्रित भाषाएँ प्रचलित है। ये दोनो ही डेरागाज़ी खाँ की लहँदा के वहुत अनुरूप हैं, किन्तु इनमे दर्द भाषाओ की अनेक विभाषाएँ भी मिलती हैं। जैसा कि इनकी भौगोलिक परिस्थिति से ही आशा की जा सकती है, इनमे वलूची भाषा के वहुत शव्द आये है।

नमक-पर्वतमाला तथा उसके उत्तरवर्ती प्रदेश की भाषाएँ दो उपसमुदायो—पश्चिमोत्तर उपसमुदाय तथा पूर्वोत्तर उपसमुदाय—मे विभाजित हैं। ये एक-दूसरे से केवल शव्द-समूहो मे ही नही, व्याकरण के रूपो मे भी भिन्न है। व्याकरणीय रूपो मे इनकी सवसे महत्वपूर्ण भिन्नता सम्वन्ध-कारक के अनुसर्ग की है। उत्तर-पश्चिम मे पजावी की भाँति इसका रूप—दा—है, किन्तु उत्तर-पूर्व मे यह—ना—रूप मे है जो इसका सम्वन्ध दर्द भाषा से जोडती है।

हिन्दको

पश्चिमोत्तर उपसमुदाय की भाषा, नमक-पर्वतमाला के मध्यभाग से प्रारम्भ होकर उत्तर मे झेलम, कटक और हज़ारा जिले तक (जहाँ इसे हिन्दको नाम से पुकारा जाता है) चली जाती है। इसे पेशावर के हिन्दू भी बोलते हैं।

अवांकी, हिन्दको, पोठ्वारी

पूर्वोत्तर उप-समुदाय अधिक महत्वपूर्ण है। यह नमक-पर्वतमाला के शेष भाग को न केवल पूर्वी किनारे तक वरन् पश्चिमी किनारे तक आच्छादित किये हुए हैं। यहाँ इसे अवान् कवीले के लोग बोलते है। वहाँ से यह सिन्धु नदी को पार करके कोहाट मे प्रवेश करती हुई हज़ारा तक चली जाती है, जहाँ यह हिन्दको

नाम से विख्यात है। इसके उत्तर-पूर्व मे यह पोठ्वारी नाम से प्रसिद्ध है। (सन् १९२१ की जनगणनानुसार इसके वोलनेवालो की सख्या ४,२३,८०२ थी।) यह रावलपिण्डी, झेलम एव गुज़रात जिले के कुछ भाग मे इसी नाम से विख्यात है। मरी की पहाडियो तथा हज़ारा ज़िले के कुछ भागो मे यह अपनी विभापाओ सहित वोली जाती है।

चिभाली, पुंछी

अन्तिम रूप मे यह कश्मीर के दक्षिण की पर्वत शृखलाओ के निचले प्रदेश की भापा है। यहाँ यह चिभ् तथा अन्य जातियो और पुछ रियासत की वोली है।

लहँदा तथा पंजाबी की तुलना

जहाँ तक शब्द-समूह का सम्वन्ध है, लहँदा पजावी से वहुत भिन्न है किन्तु इस विषय मे यह सिन्वी के निकट है। इसके कतिपय शब्द कश्मीरी (जो एक दर्दीय भापा है) मे पाये गये है और इसमे ऐसे शब्द भी मिलते हैं जो किसी समय कश्मीरी मे व्यवहृत होते थे किन्तु जो अव उसमे अप्रचलित हो गये हैं। पजावी से लहँदा का मुख्य अन्तर तो इसके व्याकरण-सम्वन्धी रूपो मे ही दृष्टिगोचर होता है। लहँदा मे एक यथार्थ अथवा शुद्ध भविष्यत् काल है जिसका विशिष्ट वर्ण—स—है। (इसमे ष्य स—भविष्यत् काल है।) इसी प्रकार इसमे कर्मवाच्य—इ—प्रत्यय सयुक्त करके सम्पन्न होता है। इनमे से पहले का व्यवहार तो केन्द्रीय पजावी मे विलकुल नही होता और दूसरे का प्रयोग भी विरल ही होता है। लहँदा मे सिन्धी तथा दर्दी भापाओ से स्वतत्र अनेक सर्वनामीय प्रत्यय तथा ऐसे अनुसर्ग व्यवहृत होते है जिनका पजावी मे अभाव है। इसकी उत्तरी वोलियाँ दक्षिणी की अपेक्षा अविक कठोर तथा सानुनासिक है और उनकी कतिपय अपनी विशेषताएँ हैं। इनमे से, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सम्वन्वकारक मे—दा—के स्थान पर—ना—का प्रयोग, व्यजनान्त सज्ञा-पदो का तिर्यक मे व्यवहार तथा वर्तमानकालिक कृदन्त Present Participle के प्रयोग हैं।

साहित्य तथा लिपि

लोकगाथाओ तथा लोकगीतो के अतिरिक्त, लहँदा मे अन्य कोई भी साहित्य नही है। चूंकि इसके वोलनेवालो मे मुसलमानो की सख्या अविक है, अतएव

इसके लिखने के लिए प्राय फारसी लिपि का व्यवहार होता है। कतिपय हिन्दू पजाब तथा सिन्ध मे सामान्यतया प्रचलित लडा-लिपि[1] का भी व्यवहार करते है। यह लिपि वहुत अपूर्ण एव दोषपूर्ण है। इसमे दो या तीन आदि स्वर है किन्तु अन्य स्वरो का इसमे अभाव है। इसके व्यजन भी अस्पष्ट हैं और यह स्थान-स्थान पर वदलती जाती है। लिखनेवाले को छोडकर अन्य किसी व्यक्ति के लिए इसका पढना कठिन है और कभी-कभी तो लिखनेवाला भी इसे नही पढ पाता। सन् १८१९ मे कैरी ने "उच्च" प्रदेश के आस-पास की बोली मे बाइविल का अनुवाद प्रकाशित कराया था। इसकी लिपि लडा थी। उसने इस बोली को 'उच्ची' की सज्ञा दी थी।

सिन्धी

सिन्धी सिन्ध प्रदेश की भाषा है। सिन्ध प्रदेश सिन्धु नदी के उभय तटो पर २९° उत्तरी अक्षाश से प्रारम्भ होकर, उसके नीचे की ओर, समुद्रतट तक फैला

सिन्धी की बोलियाँ

	सर्वेक्षण
विचोली	१३,७५,६८६
सिराइकी	११,१२,९२६
थरेली	२,०४,७४९
लासी	४२,६१३
लाडी	४०,०००
कच्छी	४,९१,२१४
अनिर्णीत	७,०३१
योग	३२,७४,२१९

हुआ है। उत्तर मे सिन्धी लहँदा मे विलीन हो जाती है जिससे कि इसका निकट का सम्वन्ध है। सिन्ध प्रदेश मे लहँदा की एक विभाषा सिराइकी हिन्दकी, पश्चिमी पजाव

१. इस शब्द का लहँदा शब्द से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जिसका कि अर्थ पश्चिम होता है।

से आगत विखरी हुई जातियो द्वारा वोली जाती है। इसके वोलनेवालो की सख्या लगभग साढे तैतीस लाख है, जो न्यूनाधिक रूप मे डेनमार्क की जनसख्या के वरावर है। सिन्धी की छै स्वीकृत वोलियाँ ये है—विचोली, सिराइकी, थरेली, लासी, लाडी तथा कच्छी। इनमे से प्रथम सिन्ध के मध्य भाग मे वोली जाती है। यह परिनिष्ठित वोली है और इसमें साहित्य-रचना होती है। सिराइकी, वास्तव मे विचोली का ही एक रूप है और इसे पृथक् वोली मानना उचित नही है। विचोली और इसमे एकमात्र अन्तर यह है कि इसका उच्चारण वहुत स्पष्ट होता है। इसके शब्द-समूह मे भी किंचित् भिन्नता है और कभी-कभी लोग भ्रम-वश इसे तथा उसके पास ही वोली जाने वाली सिराइकी हिन्दकी को एक ही मान लेते है। सिन्धी मे 'सिरो' शब्द का अर्थ किसी वस्तु का "सिर" होता है। इसका व्यजनात्मक अर्थ होगा 'प्रतिस्रोत' (up stream) या 'उत्तरी'। यह अर्थ 'लाड॒' अथवा निचले सिन्ध को ध्यान मे रखकर किया गया है। सिन्धी लोगो के अनुसार सिराइकी पूर्ण शुद्ध भाषा है। एक प्रचलित सिन्धी मुहावरे मे तो यहाँ तक कहा गया है कि 'लाड॒' का विद्वान् भी 'सिरो' मे जाकर वैल वन जाता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव मे 'सिरो प्रदेश' की सीमा भी सापेक्षिक ही है और स्थान के अनुसार इसमे अन्तर आता जाता है। सिन्धु के निचले भाग मे रहनेवाले व्यक्ति के लिए 'सिरो' का क्षेत्र अधिक विस्तृत है और लाड॒ के निवासी के दृष्टिकोण से सिरो-क्षेत्र का, व्यावहारिक रूप मे, विचोली अथवा सिन्ध के मध्यभाग से तात्पर्य है।

लासी, लाड़ी

लासी वस्तुत. सिन्धी का ही एक रूप है। यह लासवेला रियासत मे वोली जाती है। यह विचोली एव लाडी के वीच की कड़ी है। लाडी, लाड॒ प्रदेश की वोली है और यह गँवारू और असभ्य मानी जाती है। किन्तु इसमे प्राचीन भाषा के वहुसख्यक रूप उपलब्ध हैं और यह दर्दीय भाषाओ की एक महत्वपूर्ण विशेषता का दिग्दर्शन कराती है। यह है, घोष—महाप्राण ध्वनि के हकार के लोप की, जो अव विचोली मे नही मिलती।

थरेली, कच्छी

थरेली तथा कच्छी दोनो मिश्रित वोलियाँ है। इनमे थरेली, थारु अथवा

।सन्ध के रेगिस्तान के शिकारी तथा बहिष्कृत लोगो की बोली है। वस्तुत यह सिन्ध तथा मारवाड की राजनीतिक सीमा की बोली है। यह सिन्धी तथा राजस्थानी के बीच की कडी है और ज्यो-ज्यो हम राजस्थान की ओर बढते हैं त्यो-त्यो इसके तथा राजस्थानी के कृत्रिम मिश्रण द्वारा अन्ततोगत्वा सिन्धी, राजस्थानी मे विलीन हो जाती है।

दूसरी ओर कच्छी, सिन्धी और गुजराती का सम्मिश्रण है। यह कच्छ प्रदेश मे बोली जाती है।

साहित्य तथा लिपि

सिन्धी मे बहुत थोडा साहित्य है और इसमे कुछ ही पुस्तकें लिखी गयी हैं। इसकी मुख्य लिपि लडा है जो सामान्यतया एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदल जाती है और जिसके पढने मे बडी कठिनाई पडती है। यहाँ गुरुमुखी तथा नागरी लिपि का भी प्रयोग होता है किन्तु सिन्धी के उच्चारण की विशिष्टता के कारण, कतिपय नवीन ध्वनि-चिह्नो के साथ साधारणत. फारसी लिपि का ही व्यवहार किया जाता है।

सिन्धी का इतिहास

अपनी एकाकी स्थिति के कारण सिन्धी भाषा मे अनेक ऐसी व्याकरण एव ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ वर्तमान हैं जो अन्य भाषाओ से लुप्त हो चुकी हैं। इस प्रकार यह बाहरी उपशाखा का आदर्श उदाहरण है। प्राचीन काल मे सिन्ध प्रदेश मे पुराना व्राचड देश भी सम्मिलित था। यही के अपभ्रश से सिन्धी की उत्पत्ति हुई है। आज भी इसमे अनेक ऐसी विशेषताएँ है जो सैकडो वर्ष पूर्व व्राचड अपभ्रश मे वर्तमान थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दू वैयाकरणो ने व्राचड देश मे बोली जानेवाली एक पैशाची भाषा का भी उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि पिशाच लोग किसी युग मे, व्राचड अपभ्रश बोलनेवालो के साथ-साथ वर्तमान सिन्ध मे रहते थे। आज इन्ही के वशज सिन्धी भाषा बोलते हैं। पैशाची तथा दर्द की एक मुख्य विशेषता जो आज उनकी प्रतिनिधि भाषाओ एव बोलियो मे मिलती है, यह है कि अन्य भारतीय आर्य भाषाओ की भाँति इनमे स्वरमध्यग—त—का लोप नही होता और वह सुरक्षित रहता है। अन्य प्राकृतो मे यह—त—पहले—द—मे परिवर्तित हुआ और तदुपरान्त उसका लोप हो गया। यह

प्रक्रिया न्यूनाधिक रूप मे आज भी लहँदा, सिन्धी तथा पंजाबी मे दृष्टिगोचर होती है। चूंकि पंजाबी की उत्पत्ति एक मिश्रित अपभ्रंश से हुई है, अतएव उसमे त-सहित तथा त-रहित, दोनो प्रकार के रूप मिलते हैं किन्तु लहँदा तथा सिन्धी मे निश्चित रूप से त-सहित रूप ही मिलते है। इस प्रकार हिन्दी 'सीया' (सीआ) के स्थान पर लहँदा मे 'सीता' (सिन्धी मे दूसरे रूप का प्रयोग होता है) शब्द प्रयुक्त होता है किन्तु पजाबी मे 'सीता' एव 'सीआ' दोनो शब्द व्यवहृत होते हैं। इसी प्रकार हिन्दी 'किया' के स्थान पर लहँदा मे 'कीता', सिन्धी मे 'कीतो' रूप होते हैं किन्तु पंजाबी मे इसके 'कीता' एव 'करिआ' दोनो रूप उपलब्ध है। हिन्दी 'पीया' (पीआ, शराब पीने के अर्थ मे), लहँदा एव पंजाबी मे 'पीता' तथा सिन्धी मे 'पीतो' हो जाता है। विशुद्ध भीतरी उपशाखा की हिन्दी जैसी भाषा मे, जैसा कि ऊपर दिया जा चुका है, 'त' का लोप हो जायगा और इसके 'सीआ' (सीया), 'कीआ' (कीया) तथा 'पीआ' (पीया) रूप होगे।[1]

भूतकालिक कृदन्त का ल-प्रत्यय

दर्दीय भाषाओ मे क्रिया के भूतकालिक कृदन्त का रूप, एक स्थान के अतिरिक्त कही भी विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित नही करता। कोहिस्तानी की मैंयाँ

१. यहाँ पर यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए कि यह मेरा सुझाव है कि लहँदा अथवा सिन्धी, पैशाची (अर्थात् दर्दीय) बोली से उद्भूत हुई है। चूँकि ब्राचड प्रदेश में अपभ्रंश तथा पैशाची दोनो प्रचलित थीं, अतएव इससे हम यही परिणाम निकाल सकते हैं कि पिशाच लोग उसी जाति के नहीं थे जो कि स्थानीय अपभ्रंश बोलते थे। अतएव वे विदेशी थे और तर्क के आधार पर वे केकय लोगो मे से थे। यदि हम यह बात मान लें कि पिशाच लोगों का मूल स्थान पामीर के नीचे कहीं था, तो वे लोग स्वात की घाटी से होते हुए सिन्धु, केकय एवं ब्राचड प्रदेश मे आये होंगे। उनका यह आगमन उस समय हुआ होगा जब यहां के मूल-निवासी जिन्हे वे मूलस्थान पर मिले होगे, भाषा के विकास की उस अवस्था मे होंगे, कि वे 'पीता' तथा उसी प्रकार के शब्दों मे 'त्' को सुरक्षित रखे होंगे। सिन्धी तथा लहंदा में त् वर्ण लुप्त नहीं हुआ है, जब कि स्वाभाविक विकास के कारण पूर्व में त् लुप्त हो गया है। इसका कारण सिन्धी और लहंदा पर विदेशी पिशाच

बोली मे यह ल-प्रत्ययान्त है। उदाहरणार्थ 'कुट्', 'कूटना' या 'मारना' क्रिया का भूतकालिक कृदन्तीय रूप इसमे 'कुटगिल' होगा। इसके आकस्मिक उदाहरण हमे शिणा भाषा मे भी मिल जाते है, किन्तु भीतरी उपशाखा की भारतीय आर्य भाषाओ अथवा लहँदा मे इस प्रकार के कोई उदाहरण नही मिलते, यद्यपि सिन्धी मे पुन इसके रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ भूतकालिक कृदन्तीय रूप, साधारण-तया—यो प्रत्ययान्त होता है, जैसे 'मारणु', मारना', धातु से मार्‌यो', 'मारा', रूप बना, किन्तु जब इस कृदन्त के विशेषण रूप पर बल देने की आवश्यकता पडती है तो अन्तिम—ओ बदल कर 'लु' हो जाता है, तब इसका रूप बनता है—'मार्‌यलु' अर्थात् "वह व्यक्ति जो मारे जाने की दशा मे है।"

गुजराती भीतरी उपशाखा की भाषा है, किन्तु जैसा हम आगे देखेंगे यह बाहरी उपसमुदाय की एक अन्य भाषा पर अध्यारोपित की गयी है, उसके लक्षण इसमे अभी भी देखे जा सकते हैं। इनमे से एक तो यह ल-प्रत्यय ही है जो गुजराती मे भी उसी रूप मे व्यवहृत होता है जिस प्रकार सिन्धी मे। यथा—'मारचो' या मारेल अर्थात् मारा। इसके और भी दक्षिण मे, बाहरी उपशाखा की मराठी, मे हम ल-प्रत्यय को एकमात्र भूतकालिक कृदन्त के 'मारिला', मारा रूप मे पाते हैं। इसी प्रकार हम बाहरी उपशाखा की शेष अन्य भाषाओ मे भी यह 'ल' प्रत्यय पाते है,

लोगों की भाषा का प्रभाव हो सकता है। इस प्रकार का प्रभाव नूतनता की दिशा में न होकर सुरक्षा की दिशा मे अधिक होगा। अतएव हमे पैशाची की अन्य विशेषताओ के अवशेष (जैसे द् का त् मे परिवर्तित हो जाना) नहीं मिलते। क्योकि ये मूल भाषा के लिए विदेशी रहे होंगे। मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह विशुद्ध सिद्धान्त है; किन्तु त् का इन भाषाओं मे सुरक्षित रहने का कारण किसी अनार्य भाषा के अतिरिक्त अन्य नहीं है, अतएव ऊपर की व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कोई चारा भी नहीं है। स्थान तथा ध्वनि सम्बन्धी नियमो के अनुसार पैशाची ही एक ऐसी भाषा है जो ऐसा करने मे समर्थ है। यह लिखने के बाद डाक्टर पी० टेडेस्को (Dr. P. Tedesco) ने त् के सम्बन्ध में इससे भिन्न एक दूसरी व्याख्या जे० ए० ओ० एस० (J. A O. S. XLIII, p 385) तथा उसके आगे दी है। इस लेखक का लेख भी जे० आर० ए० एस० (J. R. A S. 1925), पृ० २२२ तथा उसके आगे देखें।

यथा—उड़िया मे 'मारिला', बगला मे 'मारिल', बिहारी मे 'मारल्' तथा असमियाँ मे 'मारिल्'। इस तरह यह ल-प्रत्यय न केवल सम्पूर्ण पूर्वीय भारतीय आर्य भाषाओ मे ही प्रचलित है वरन् यह श्रृंखलारूप मे एक बोली से दूसरी बोली मे प्रवेश करता



चित्र १५

हुआ भारत के उस पार अरब सागर तक पहुँच जाता है। वहाँ से यह उत्तर की ओर गुजराती और सिन्धी को प्रभावित करता हुआ किन्तु लहँदा को लाँघता (छोडता) हुआ, यह हिन्दू कोहिस्तान के दर्दीय प्रदेश मे पदार्पण करता है। इस प्रकार यह बाहरी उपशाखा की समस्त भाषाओ के प्रगाढ़ सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। यद्यपि असमियाँ तथा मराठी एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं और कोई भाषा-भाषी एक-दूसरे की भाषा को समझने मे पूर्णतया असमर्थ होगा तथापि कोई भी व्यक्ति डिब्रूगढ से बम्बई तक की अट्ठाईस सौ मील की यात्रा मे और वहाँ से दर्दिस्तान तक उस अवस्था का उल्लेख न कर सकेगा जहाँ उसने एक भाषा के क्षेत्र से दूसरी भाषा के क्षेत्र मे

प्रवेश किया हो। फिर भी वह भारतीय महाद्वीप की आठ विभिन्न भाषाओ—असमियाँ, बगला, उडिया, मराठी, गुजराती, सिन्धी, लहँदा और कोहिस्तानी तथा अन्य बहुत सी बोलियो—के क्षेत्र से गुजरा होगा।

(कच्छी गुजराती)

दक्षिण-पूर्व मे सिन्धी कच्छी बोली से होती हुई गुजराती मे विलीन हो जाती है। आगे चलकर, भीतरी उपशाखा के अन्तर्गत गुजराती के सम्बन्ध मे लिखा जायगा। आधुनिक युग मे गुजराती भीतरी उपशाखा की भाषा है किन्तु पजाबी की भाँति ही वह उस क्षेत्र पर स्थानापन्न है जहाँ प्राचीन काल मे बाहरी उपशाखा की भाषा प्रचलित थी। गुजारती को इस समय यही छोड़कर जब हम भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट के साथ-साथ, बम्बई से लगभग सौ मील उत्तर, पुर्तगाली उपनिवेश डमन के निकट पहुँचते हैं तब हम मराठी-क्षेत्र के सम्पर्क मे आते हैं।

मराठी

मराठी का विस्तार अपनी बोलियो के सहित प्राय सम्पूर्ण भारतीय प्रायद्वीप मे है। यह लगभग एक करोड नब्बे लाख मनुष्यो की भाषा है जो स्पेन की जनसख्या से बीस लाख कम है। बम्बई प्रान्त मे यह दक्षिणी पठार के उत्तर मे तथा उस भूमि की पट्टी मे भी फैली हुई है जो घाट के पहाड़ो और अरब सागर के बीच मे पडती है

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
मराठी	१ ८०,११,९४८	१,८७,९७,८३१

और गोआ से लगभग सौ मील दक्षिण की ओर प्रसरित है। यह बरार के अधिकाश भाग तथा हैदराबाद के निजाम राज्य के एक बडे उत्तर-पश्चिमी भाग की भाषा है। यह मध्य प्रदेश के दक्षिणी भाग को पार कर (दक्षिण के उन स्थानो को छोडती हुई जहाँ की भाषा तेलुगु है) बस्तर रियासत के एक बडे भाग को अधिकृत किये हुए है। यहाँ यह उडिया की विभाषा भत्री के द्वारा उसमे विलीन हो जाती है। मराठी के उत्तर मे पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमश गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र है। इनमे से प्रथम तीन भीतरी उपशाखा की भाषाएँ
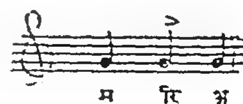
हैं और मराठी इनमे विलीन नही होती। इसके विपरीत इन भीतरी उपशाखा की भाषाओ तथा मराठी मे अन्तर स्पष्ट है। दूसरी ओर मराठी की सबसे पूर्वी बोली वस्तर की हलवी का, पडोस की पूर्वी हिन्दी की विभाषा छत्तीसगढी से इतना निकट का सम्बन्ध है कि यह कहना कठिन है कि वास्तव मे यह किसकी विभाषा है।[1] दूसरे शब्दो मे, मराठी हलवी के द्वारा पूर्वी हिन्दी मे विलीन हो जाती है। इससे और पूर्व मे यह उडिया मे अन्तर्भुक्त हो जाती है जो वस्तुत बाहरी उपशाखा की भाषा है। हम यह देख चुके हैं कि जब सिन्धी मे किसी क्रिया के विशेषणात्मक रूप पर जोर देने की आवश्यकता होती है तब उसके भूतकालिक कृदन्तीय रूप मे ल–प्रत्यय सयुक्त किया जाता है। गुजराती में भी हम इसी रूप को कुछ विस्तार से पाते हैं किन्तु वहाँ यह प्रयोग साततिक नही है। मराठी मे अतीत काल व्यक्त करने के लिए, एकमात्र साधन के रूप मे हम इस ल–प्रत्यय को पहली बार पाते है और वहाँ अतीत काल को प्रकट करने के लिए कोई अन्य वैकल्पिक साधन नही है। इसी प्रकार बाहरी उपशाखा की शेष अन्य भाषाओ मे भी अतीत काल प्रकट करने के लिए एकमात्र यही साधन प्रयुक्त होता है।

मराठी मे बलात्मक स्वराघात

एक विषय मे मराठी मे समस्त आर्य-भाषाओ से भिन्नता है। वैदिक युग की भाषा मे प्रत्येक शब्द मे सुर अथवा सगीतात्मक स्वराघात था। यह ठीक उसी रूप मे था जिस रूप मे हम भारत-चीनी भाषा के अनेक उदाहरणो मे पाते हैं। यहाँ प्रत्येक शब्द मे विशिष्ट ध्वन्यात्मक आरोह-अवरोह था। यह उस बलात्मक स्वराघात से सर्वथा भिन्न था जिससे हम अग्रेजी मे परिचित हैं। जहाँ वैदिक सस्कृत के बोलनेवाले कहते हैं,



वहाँ हम कहते है



चित्र १६

१. पीछे पृष्ठ ५९,६० इस सम्बन्ध मे देखो।

मराठी मे प्राचीन सुर (tone) के कुछ-कुछ अवशेष वर्तमान है, यद्यपि आज वे सुर नही है किन्तु ये निर्बल बलात्मक स्वराघात मे परिणत हो गये है, जैसा कि हम 'मरिअ' के उच्चारण मे आज-कल पाते है।[1]

मराठी शब्दसमूह

मराठी का साहित्य विशाल एव लोकप्रिय है। इसके कवियो ने जन-भाषा मे ही रचनाएँ की है और इन रचनाओ मे उन्होने शुद्ध तद्भव शब्दो का प्रयोग किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठी भाषा तद्भव शब्दो से पूर्ण है। यद्यपि बाद के युग मे महाराष्ट्र के विद्वानो ने तत्सम शब्दो के प्रयोग से भाषा की शैली को उच्च बनाने का उद्योग किया और उन्हे आशिक सफलता भी मिली किन्तु इस कार्य मे उन्हे इतनी अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी जितनी बँगला के विद्वानो को मिली थी। अन्य प्रदेशो की अपेक्षा महाराष्ट्र पर, तुर्कों के आक्रमण बहुत बाद मे हुए और इन्हे विफल करने मे भी यहाँ के लोगो को थोडी-बहुत सफलता मिली। इसका एक परिणाम यह हुआ कि फारसी से मराठी मे बहुत कम शब्द आये। बीम्स के अनुसार मराठी चपल भाषा है और अपनी गठन के अनुसार यह अनेक अनुरणन एव झकृत-मूलक शब्दो का निर्माण कर लेती है। अन्य भारतीय आर्य भाषाओ की अपेक्षा इसमे प्राकृत, अपभ्रश, न्यूनताबोधक तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दो की सख्या अधिक है। मराठी के लिखने तथा छापे मे प्राय नागरी अक्षरो का व्यवहार होता है, किन्तु पत्रव्यवहार मे कभी-कभी 'मोडी' लिपि चलती है। छत्रपति शिवाजी महाराज (सन् १६२७-१६८०) के मत्री श्री बालाजी आवाजी ने नागरी लिपि मे यत्किचित् परिवर्तन करके तथा उसे शिरोरेखा-विहीन बनाकर 'मोडी' लिपि का आविष्कार किया था।

१. जे० आर० ए० एस० (J R A S, 1916, 203) तथा उसके आगे के पृष्ठो मे प्रो० टर्नर का 'द-इण्डो-जरमनिक एक्सेन्ट इन मराठी' (The Indo-germanic Accent in Marathi) शीर्षक लेख देखो। यहाँ पर मैंने जो उदाहरण दिया है वह मैक्समूलर के सस्कृत व्याकरण (Max. Muller's Sanskrit Grammar) मे भी उदाहरण रूप मे आया है। कतिपय भाषाओ जैसे बगला मे बलात्मक स्वराघात अन्तिम दो अक्षरो के आगे भी होता है।

मराठी साहित्य

मराठी के सबसे प्राचीन लेखक जिनकी कृतियाँ आज भी उपलब्ध हैं, नामदेव तथा ज्ञानोबा हैं। इनका आविर्भाव काल १३वी शती का अन्तिम चरण है और इन्होने वैष्णव धर्म से प्रेरणाएँ ग्रहण की थी। श्रीधर (जिनका समय १६वी शती का अन्तिम भाग है) अपनी पुराणो की टीका के लिए प्रसिद्ध हैं। (श्रीधरकृत श्रीमद्‌भागवत की सस्कृत टीका का सस्कृत-साहित्य मे विशिष्ट स्थान है।) किन्तु इन सबसे अधिक प्रख्यात थे सन्त तुकाराम या तुकोबा। ये शिवाजी के समकालीन थे और इन्होंने १७वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे रचनाएँ की थी। इनके विठोबा-सम्बन्धी अभग (गेय पद) तो महाराष्ट्र के घर-घर मे प्रचलित है। सन्त तुकाराम के सबसे प्रसिद्ध उत्तराधिकारी मोरोपन्त (सन् १७२०) हुए थे। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ की ही तरह मराठी की प्राय समस्त आरम्भिक रचनाएँ पद्य मे ही उपलब्ध है, यद्यपि गद्य मे लिखित यत्किंचित् महत्व की कथाएँ या इतिहास के ढग के विवरण भी प्राप्त है।

मराठी की विभाषाएँ अथवा बोलियाँ

सर्वेक्षण मे मराठी की उन्तालीस बोलियो का उल्लेख किया गया है। इनमे स कुछ को ही बोली कहा जा सकता है, अधिकाश तो वस्तुत परिनिष्ठित भाषा की शैली मात्र है जिनमे स्थानो तथा बोलनेवाली जातियो की भिन्नता के कारण अन्तर आ गया है। उदाहरणार्थ रत्नागिरि के उत्तर की कोकणी प्राय परिनिष्ठित मराठी के अनुरूप ही है किन्तु यहाँ के निवासी के अनुसार यह दो विभाषाओ मे विभक्त है। इनमे से एक है ब्राह्मणो की कोकणी तथा दूसरी मुसलमानो की। इन सभी सूक्ष्म भेदो का परीक्षण सर्वेक्षण के पृष्ठो मे यथास्थान किया जा चुका है किन्तु यहाँ उनकी चर्चा करना स्पष्ट ही अप्रासगिक प्रतीत होता है। यहाँ पर केवल चार विभाषाओ का उल्लेख ही पर्याप्त होगा। ये हैं—देशी, परिनिष्ठित कोकणी, बरार तथा मध्यप्रदेश की मराठी एव कोकणी।

परिनिष्ठित कोंकणी

पूना के आसपास विशुद्ध देशी मराठी बोली जाती है। वस्तुत यही परिनिष्ठित भाषा है। मराठा विजेताओ के साथ-साथ मराठी बहुत दूर तक फैली है और इनके बोलनेवालो के कई उपनिवेश, जैसे-बड़ोदा जो एक मराठा राज्य है (यद्यपि

भौगोलिक दृष्टि से यह गुजरात का अग है), सागर तथा मध्यभारत के अन्य भागो मे हैं। परिनिष्ठित कोकणी वस्तुत डमन तथा रत्नागिरि के उत्तरी भाग मे बोली जानेवाली देशी का ही एक भेद है। इसके दक्षिण मे, गोआ के निकटवर्ती प्रदेश मे,

मराठी की विभाषाएँ

	सर्वेक्षण
देशी	६१,९३,०८३
परिनिष्ठित कोकणी	२३,५०,८१७
मध्यप्रदेश तथा बरार की बोली	७६,७७,४३२
कोकणी	१५,६५.३९१
अनिर्णीत	२,२५,२२५
योग,	१,८०,११,९४८

वास्तविक कोकणी बोली जाती है। परिनिष्ठित कोकणी वस्तुत (वास्तविक) कोकणी तथा देशी के मध्य की बोली है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान मे बदलती गयी है और सर्वेक्षण मे इसकी अठारह विभिन्न बोलियो का वर्णन किया गया है।

बांकोटी, संगमेश्वरी, परभी

दक्षिण मे परिनिष्ठित कोकणी बाकोटी तथा सगमेश्वरी के रूप मे वास्तविक कोकणी के निकट पहुँच जाती है। ये दोनो बोलयाँ मध्य कोकण मे बोली जाती हैं। इनमे से बाकोटी भाषा-भाषी मुसलमान हैं तथा इसके बोलनेवालो की सख्या १७८७ है।[1] सगमेश्वरी बोलनेवालो की सख्या १३,३२,८०० है। इसके और उत्तर मे इस पर गुजराती का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है और इधर यह 'परभी' उपबोली का नाम धारण कर लेती है। इसके बोलनेवालो की सख्या १,६०,००० है।

१. उपबोलियो के बोलनेवालो की यहाँ जो संख्या दी गयी है, वह केवल सर्वेक्षण की ही संख्या है।

और इसे बम्बई, थाना तथा उत्तर मे डमन तक के सम्पूर्ण मराठी भाषा-भाषी बोलते है।

कुणबी, कोळी

कुणबी उपबोली के बोलनेवाले प्रसिद्ध कुणबी जाति के लोग हैं। इसके बोलनेवालो की सख्या ३,६८,००० है। इसी प्रकार कोळी उपबोली के बोलनेवाले बम्बई शहर, थाना, कोलावा एवं जजीरा के कोळी लोग हैं। इसके बोलनेवालो की सख्या १,८९,१८६ है। परिनिष्ठित कोकणी बोली मे सालसिट के पुर्तगाली मिशनरियो ने थोड़े बहुत साहित्य की भी रचना की है। सत्रहवी शती मे इन्होंने थाना ज़िले मे प्रचलित बोली का व्याकरण भी तैयार किया था और इसी मे बाइबिल का सक्षिप्त अनुवाद भी प्रस्तुत किया था।

बरारी बोली

बरार, मध्यप्रदेश तथा निज़ाम राज्य मे प्रचलित मराठी और परिनिष्ठित देशी मे उतना ही कम अन्तर है जितना परिनिष्ठित कोकणी से। यो तो इनमे छोटे-मोटे और स्थानीय विशेषताओ को लेकर अनेक अन्तर हैं किन्तु मुख्य अन्तर है अन्तिम स्वर का लघु अथवा ह्रस्व उच्चारण। जैसे-जैसे हम पूर्व की ओर बढते जाते हैं वैसे-वैसे मराठी पडोस की पूर्वी हिन्दी मे विलीन होती जाती है। बरार तथा उसके आसपास के निज़ाम राज्य की बोली का नाम "वर्हाडी" है और उसके बोलने वालो की सख्या २०,८४,०२३ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे परिनिष्ठित मराठी का प्रतिनिधि होना चाहिए था क्योकि वर्तमान बरार प्रदेश ही प्राचीन विदर्भ अथवा महाराष्ट्र प्रदेश का परिवर्तित रूप है। किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। इसका कारण यह है कि बाद की शताब्दियो मे राजनीति का केन्द्र क्रमश. सुदूर पश्चिम की ओर बढता गया और इसी के साथ-साथ परिनिष्ठित मराठी का केन्द्र भी परिवर्तित होता गया। इधर वर्धा नदी जो वस्तुत मध्यप्रदेश को बरार से पृथक् करती है वर्हाडी एवं अन्य उपबोली 'नागपुरी' के बीच की सीमारेखा मानी जा सकती है। इनमे से पहली—वर्हाडी—मध्यप्रदेश के बैतूल ज़िले मे भी प्रचलित है किन्तु दूसरी ओर बरार स्थित बासिम तथा बुल्डाना ज़िले के पश्चिमी भाग की मराठी वर्हाडी न होकर पूने की देशी मराठी के अधिक निकट है।

नागपुरी

मध्यप्रदेश के दक्षिणी अर्धभाग की भाषा भी मराठी ही है। इसका स्थानीय रूप नागपुरी नाम से प्रसिद्ध है तथा इसके बोलनेवालो की संख्या १८,२३, ४७५ है। यथार्थ रूप मे यह ठीक वर्हाडी की ही भाँति है; किन्तु अन्यत्र जैसे-जैसे हम पूर्व को बढते हैं, यह परिनिष्ठित भाषा से दूर हटती जाती है और स्थान-भेद से इसमे परिवर्तन भी आते जाते हैं। सागर ज़िले मे प्रचलित मराठी नागपुरी नही है अपितु यह परिनिष्ठित मराठी ही है। ब्रिटिश भारत मे यह क्षेत्र नागपुर राज्य से नही आया अपितु पेशवा के राज्य से आया था और इसीलिए यहाँ के मराठी भाषा-भाषी भी पूने से आये थे, नागपुर से नही। इसका एक परिणाम हुआ कि ये नागपुर के लोगो को किंचित् घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ठीक यही बात दमोह तथा जबलपुर ज़िलो मे बिखरे हुए मराठा परिवारो के प्रति भी है। नागपुरी के सुदूर पूर्वीय-क्षेत्र बालाघाट के ज़िले मे भाषा बिलकुल बदल गयी है और यहाँ यह "मर्हेटी" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

हलबी

मध्य-प्रदेश के इस भाग मे, बालाघाट तथा भण्डारा के ज़िले नागपुरी की पूर्वी सीमाएँ हैं। इसके कुछ और पूर्व मे हम पूर्वी हिन्दी की उपभाषा छत्तीसगढी के सम्पर्क मे आते हैं। इस क्षेत्र के दक्षिण मे मराठी चाँदा ज़िले के उत्तरी भाग मे अधिकार कर लेती है (दक्षिणी भाग मे वस्तुत तेलुगु प्रचलित है) और धीरे-धीरे यह 'हलबी' मे अन्तर्भुक्त हो जाती है। हलबी का एक नाम बस्तरी भी है। इसके बोलनेवालो की सख्या १,०४,९७१ है। बहुत दिनो तक किसी भी भाषा के वशज रूप मे इसका वर्गीकरण नही किया गया था। सर्वेक्षण मे तो यह आर्य तथा द्रविड, दोनो की कई भाषाओ से विकृत मिश्रित-भाषा के रूप मे अकित की गयी है तथा इसे मराठी और उडिया के बीच की कडी कहा गया है किन्तु इसका मूल आधार मराठी ही है। बस्तर राज्य की हलबी को छत्तीसगढी बोलनेवाले मराठी, और मराठी बोलनेवाले छत्तीसगढी मानते हैं। इसकी मिश्रित प्रकृति को प्रकट करने के लिए यह कथन ही पर्याप्त है। हलबी बस्तर राज्य के मध्य भाग मे बोली जाती है। इसके दक्षिण मे तेलुगु भाषा का क्षेत्र है। बस्तर के उत्तर-पूर्वी कोने मे "भत्री" बोली बोली जाती है। यह हलबी एव उडिया की मध्यवर्ती भाषा है और इसका वर्गीकरण उडिया की विभाषा के रूप मे किया गया है, किन्तु इसे हलबी की उपभाषा भी

माना जा सकता है। इसके ठीक पूर्व मे उडिया का क्षेत्र है। इस प्रकार हम देखते है कि मराठी भारतवर्ष के आर-पार, अरव सागर से लेकर उस स्थान तक फैली हुई है जहाँ से वगाल की खाड़ी की दूरी केवल दो सौ मील रह जाती है। अव तक (मराठी कहने से) हमारा ध्यान स्वभावत. वम्वई प्रान्त मे वोली जानेवाली एक विशेष वोली पर ही केन्द्रित था और साधारणतया भारतीय आर्य भाषाओ की सुदूर दक्षिण-पश्चिमी भाषा के अन्तर्गत ही इसका वर्गीकरण किया गया था। किन्तु ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे 'दक्षिणी' कहना कितना उपयुक्त है।

कोकणी

वम्वई प्रान्त की ओर पुन प्रत्यावर्तित होकर हम मराठी के एक ऐसे रूप पर विचार करेंगे जो यथार्थ मे उसकी एक वोली है और जो परिनिष्ठित भाषा का विकृत रूप नही है। यह कोकण की भाषा कोकणी है जो उत्तर मे मलवन् से लेकर दक्षिण मे करवार तक वोली जाती है। यह पुर्तगाली उपनिवेश गोआ की भाषा है और यह विस्तृत रूप मे वेलगाँव जिले, उत्तरी तथा दक्षिणी कनारा एव सावन्तवाडी रियासत मे वोली जाती है। गोआ मे इसे साधारणतया गोआनी कहा जाता है। इसके अन्य स्थानीय नाम भी हैं किन्तु इन स्थानीय वोलियो मे इतना कम अन्तर है कि उनका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है। मराठी की वोली के रूप मे, प्राचीन युग मे ही कोकणी स्वपूर्वज प्राकृत से पृथक् हो गयी थी। यही कारण है कि इसमे तथा पूना की परिनिष्ठित मराठी मे वहुत अन्तर है। निश्चय ही कुछ अशो मे इसमे ध्वन्यात्मक विकास की प्राचीन अवस्था के रूप सुरक्षित हैं तथा क्रियापदो का भी वाहुल्य है। इसका कोई साहित्य उपलब्ध नही है क्योकि गोआ-विजय के पश्चात् पुर्तगालियो ने इसकी हस्तलिखित पुस्तको को काफिरो का धर्मग्रन्थ कहकर नष्ट कर दिया था। किन्तु इधर पुर्तगाली मिशनरियो के तत्त्वावधान मे, ईसाई धर्म से सम्वन्ध रखनेवाला नूतन साहित्य प्रकाश मे आ रहा है। इनमे से टॉमस स्टिफेन्स नामक एक अग्रेज ने, जो गोआ मे सन् १५७९ ई० मे आया था और वही सन् १६१९ ई० मे उसकी मृत्यु हुई थी, सर्वप्रथम कोकणी व्याकरण की रचना की थी। उसकी लेखनी से प्रसूत हमे वाइविल का पद्यवद्ध कोकणी अनुवाद भी प्राप्त है जो आज भी वहाँ प्रिय एव प्रचलित है। कोकणी का प्राचीन साहित्य नागरी लिपि मे लिखा जाता था और केरी ने भी वाइविल के अनुवाद मे इसी को अपनाया था। वाद मे, इसके लिए

कनारी लिपि प्रयुक्त हुई और अन्तत मगलोर क्रिश्चियन कालेज के जेसुट पादरियो ने अपने कई ग्रन्थो मे रोमन लिपि का प्रयोग किया। आधुनिक साहित्य पूर्णतया धार्मिक है और अब यह तीनो लिपियो मे लिखा जाता है।

सिहली

यहाँ सिहली का उल्लेख भी आवश्यक है। यद्यपि यह भारतीय आर्य-भाषा का ही एक रूप है तथापि न तो सर्वेक्षण मे ही इसका वर्णन है और न यह भारत की भाषा ही है। यह सीलोन मे, मुख्यत उस द्वीप के दक्षिणी मध्य भाग मे बोली जाती है। सीलोन मे यह निश्चित रूप से भारत के पश्चिमी भाग से बौद्धधर्म के साथ गयी थी। भारत मे इसकी निकटतम सम्बन्धिनी भाषा मराठी है किन्तु इसमे तथा मराठी मे काफी अन्तर है और इस सम्बन्ध के बहुत कम चिह्न स्पष्ट है।

माह्ल

सिहली की एक विभाषा माह्ल है जो मालद्वीप तथा मिनिकाय द्वीप मे बोली जाती है।

पूर्वी समुदाय

पूर्वीय समुदाय की भाषाओ मे उडिया, बिहारी, बँगला तथा असमियाँ (असमी) की गणना की जाती है। मोटे तौर पर बनारस के पूर्व की समस्त आर्य-भाषाएँ इसके अन्तर्गत आ जाती हैं।

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
उडिया	९०,४२,५२५	१,०१,४३,१६५
बिहारी	३,७१,८०,७८२	३,४३,४२,४३०[1]
बँगला	४,१९,३३,२८४	४,९२,९४,०९९
असमियाँ	१४,४७,५२३	१७,२७,३२८
योग	८,९६,०४,१४३	९,५५,०७,०२२

१. जनगणना की रिपोर्ट मे प्रायः सभी बिहारी भाषा-भाषियों को पश्चिमी

उड़िया

उड़िया या उत्कली उड़ीसा प्रदेश तथा उसके सीमावर्ती क्षेत्रो मे बोली जाने-वाली एक आर्य-भाषा है। उत्तर मे यह मिदनापुर सहित बालासोर ज़िले के एक भाग को अपने मे सन्निविष्ट कर लेती है जो १८ वी शती के अन्तिम दशक के एक प्रशासकीय अध्यादेश 'दीवानी' के अन्तर्गत बिहार, बगाल और उड़ीसा के नाम मे विख्यात है। यह छोटा नागपुर डिवीजन के सिहभूम ज़िले तथा उससे राज-नीतिक रूप मे सलग्न अन्य रियासतो की भी भाषा है। पश्चिम मे यह सम्भलपुर के अधिकाश भाग की भाषा है जिसे हाल मे ही उड़ीसा प्रदेश मे मिलाया गया था। साथ ही यह मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के कुछ भागो तथा इन दोनो जिलो के बीच की रियासतो और उडीसा खास की भी भाषा है। दक्षिण मे यह गजाम जिले के उत्तर मे तथा इससे सयुक्त भारतीय रियासतो और विजगापट्टम की जैपुर एजेन्सी मे बोली जाती है। इस प्रकार यह ब्रिटिश भारत के चार प्रदेशो—बिहार और उडीसा, बगाल, मध्यप्रदेश तथा मद्रास मे बोली जाती है। इसका विस्तार क्षेत्र ८२,०००

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणनानुसार
परिनिष्ठित	८३,५२,२२८	
उत्तर की मिश्रित बोलियाँ	५,८२,७९८	
भत्री	१७,३८७	
अनिर्णीत	९०,११२	
योग	९०,८२,५२५	१,०१४३,१६५

वर्गमील है जो कि न्यूनाधिक रूप मे यूगोस्लाविया के बराबर है और इसके बोलने-वालो की सख्या (नब्बे लाख) सयुक्त रूप से नार्वे तथा स्वीडन की जनसख्या से कुछ ही अधिक है।

हिन्दी के अन्तर्गत दिखाया है और उनकी संख्या ७३३१ दिखायी गयी हैं। ऊपर जो सख्या दी गयी है वह लगभग ठीक है।

भाषा का नामकरण

इसे उडिया, ओड्री या उत्कली अथवा ओड्र या उत्कल की भाषा कहते हैं। ये दोनो नाम अग्रेजी ओरिसा (हिन्दी उडीसा) के प्राचीन रूप हैं। कभी-कभी इसे 'उरिया' भी कहते हैं जो उडीसा का अशुद्ध उच्चारण मात्र है। उडिया के प्राचीनतम उदाहरण तेरहवी शताब्दी के एक शिलालेख मे उपलब्ध है जिसमे कतिपय उड़िया शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। इसके एक शताब्दी बाद के एक शिलालेख मे प्राप्त कतिपय वाक्यो से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस युग तक यह भाषा पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी और आधुनिक भाषा से इसका पार्थक्य अक्षर-विन्यास या व्याकरण मे बहुत कम था।

भाषागत सीमाएँ

उड़िया उत्तर मे बँगला, उत्तर-पश्चिम मे बिहारी, पश्चिम मे पूर्वी हिन्दी की उपभाषा छतीसगढी तथा दक्षिण मे तेलुगु से घिरी हुई है। दक्षिण-पश्चिम मे यह भत्री से होती हुई मराठी की हलवी विभाषा मे अन्तर्भुक्त हो जाती है।

बोलियाँ

केवल भत्री ही उडिया की यथार्थ विशुद्ध बोली है। उत्तर मे अनेक मिश्रित बोलियाँ हैं जो आधी बँगला और आधी उडिया है। इन मिश्रित भाषाओ के जितने बोलनेवाले है उतने ही इनके रूप भी हैं और इनका सम्मिश्रण भी आकस्मिक ढग से इनके बोलनेवालो के अनुपात के अनुसार हुआ है। कभी वाक्य का आरम्भ तो उडिया शब्द से होता है और अन्त बँगला से, कभी इसके ठीक विपरीत भी होता है और कभी-कभी तो वाक्य-रचना मे दोनो का सम्मिश्रण रहता है। किन्तु इस प्रक्रिया से कोई निश्चित बोली नही बन पाती। अन्य स्थानो मे उडिया के उच्चारण तथा स्वराघातो के बहुत से स्थानीय रूप मिलते हैं, किन्तु सम्पूर्ण उडिया-क्षेत्र मे प्राय परिनिष्ठित रूप का ही अनुगमन किया जाता है।

भत्री

भत्री बोली वास्तव मे, उड़िया तथा मराठी के बीच की है और इसका एक मात्र नमूना जिसे मैंने देखा है, नागराक्षरो मे लिखित है, उड़िया मे नही।

लिपि

उडिया का सबसे बडा दोष उसकी अत्यन्त भोंडी तथा विचित्र लिपि है। इसका मूलाधार वही है जो नागरी लिपि का है किन्तु स्थानीय लेखक इसे सरकण्डे की कलम से ताडपत्रो पर लिखते है। ताड़पत्रो पर कलम से जो चिह्न या निशान बनाये जाते हैं वे स्पष्ट होते हैं किन्तु उन्हे और भी स्पष्ट बनाने के लिए इन पत्रो पर स्याही पोत देते हैं और तब इन पर के अक्षर उभर आते हैं। ताड़पत्र अत्यधिक कमजोर होते हैं अतएव सीधे नीचे-ऊपर लिखने से वे फट जाते है, किन्तु उनके अधिक लम्बे और कम चौड़े होने के कारण सीधी रेखावाले नागराक्षरो को ऊपर से नीचे लिखने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही रह जाता। यही कारण है कि उडिया लिखनेवालो को अपने अक्षर वक्र एव गोलाकार रूप मे एक दूसरे को घेरते हुए बनाने पडते हैं। उडिया की किसी भी मुद्रित पुस्तक को पढने के लिए बड़ी तीव्र दृष्टि कीआवश्यकता होती है क्योकि मुद्रणालय की सुविधा की दृष्टि से इसके टाइप बहुत छोटे बनाने पडते हैं। प्राय- सभी रूपो मे उड़िया अक्षरो का अधिकांश भाग ये टेढी रेखाएँ ही होती हैं जब कि अक्षरो की वास्तविक आत्मा, जिससे एक दूसरे से भेद उत्पन्न किया जाता है, उसके मध्यभाग मे अवस्थित रहती है। यह अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि बहुधा इसे देखना बड़ा कठिन हो जाता है। प्रथम दृष्टि मे तो किसी भी उडिया पुस्तक मे केवल रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु दुबारा देखने पर यह ज्ञात होता है कि इनके भीतर भी कुछ तत्व है।

बंगला से सम्बन्ध

कुछ रूपो में व्याकरण-रचना की निकट समान-रूपता के आधार पर कलकत्ते के कतिपय पण्डितो ने एकाधिक बार इसे बँगला की एक बोली कहा है, किन्तु वास्तव में वे गलती पर हैं। उडिया वस्तुतः बँगला की भगिनी है, पुत्री नही। इनकी पारस्परिक समानताओ का कारण यह है कि ये दोनो एक ही मूलस्रोत प्राचीन, मागधी अपभ्रश से प्रसूत हैं। बँगला की भाँति ही इसमें वचन के रूपो का अभाव है और जब कभी बहुवचन रूपो को प्रकट करने की आवश्यकता होती है तो इसे बहु-वचन-वाची शब्दो की सहायता से सम्पन्न किया जाता है। उड़िया मे भी अन्य पूर्वी भाषाओ की भाँति एकवचन की क्रिया के साथ, उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष का प्रयोग केवल अशिक्षित लोग ही करते हैं। यह प्रयोग उस समय होता है जब आदर प्रदर्शन की आवश्यकता नही होती। बँगला के मुकाबिले मे उडिया में यह एक बडी

विशेषता है कि इसमे जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढा भी जाता है। उडिया मे उस प्रकार के अस्पष्ट व्यञ्जनो एव भग्न स्वरो का अभाव है जिसके कारण विदेशियो के लिए शुद्ध बँगला बोलना कठिन है। उड़िया के प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अक्षर का इतना स्पष्ट उच्चारण होता है कि इसके सम्बन्ध मे यह कथन बहुत ही उपयुक्त है कि अपनी श्रुति-मधुर ध्वनि एव सगीतात्मक लय के साथ ही यह पूर्ण रूप से काव्यमय है और इसका अर्जन एव इस पर अधिकार करना कठिन नही है। बँगला मे जहाँ तक सम्भव है, बलात्मक स्वराघात अन्तिम अक्षर पर होता है। इसकी सहायता के लिए इसके बादवाले अक्षर उच्चारण मे सक्षिप्त अथवा अस्पष्ट हो जाते हैं किन्तु अच्छी उड़िया मे प्रत्येक वर्ण का स्पष्ट उच्चारण होता है और यदि अक्षर दीर्घ हुआ तो उपान्त अक्षर पर, अन्यथा उसके पूर्व के अक्षर पर ही स्वराघात होता है। उडिया क्रियापदो की गठन अत्यन्त सरल एव पूर्ण है। इसमे कालो की सख्या अधिक है किन्तु वे इतने पूर्ण एव तार्किक ढग से सजाये गये हैं तथा उनकी ऐसी क्रमबद्ध व्यवस्था है कि इनके सिद्धान्त बडी सरलता से मस्तिष्क पर अकित हो जाते है और ये याद हो जाते हैं। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इसमे क्रियावाचक विशेष पदो (Verbal Nouns) के वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् के पूरे रूप उपलब्ध है और बँगला मे जहाँ अपूर्ण तुमन्त (Infinitives) एव क्रियासूचक सज्ञापद (Gerund) का प्रयोग होता है, वहाँ उड़िया मे इन क्रियावाचक विशेष्य पदो का ही प्रयोग प्रचलित है। बँगला मे क्रियावाचक विशेष्य पदो के अभाव का एक परिणाम यह हुआ है कि अति साधारण बात को भी यहाँ विचित्र ढग से व्यक्त करना पडता है। जब किसी बँगला भाषी-भाषी को तुमन्त के भाव को प्रकट करना होता है तो इसके लिए वह वर्तमानकालिक कृदन्तीय (present participle) रूप का प्रयोग करता है और उसकी सहायता से वह बँगला के अन्य कालो के रूपो का निर्माण करता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकार प्रयुक्त शब्द न तो कृदन्त ही रह जाता है और न उसका वर्तमानकालिक रहना ही आवश्यक है। दूसरी ओर उडिया मे ऐसे स्थानो पर उपयुक्त क्रिया-विशेष्य पद प्रयुक्त होते हैं और आवश्यकतानुसार विभिन्न कारको मे उनके रूप सम्पन्न करके भाव को व्यक्त किया जाता है। चूँकि इस प्रकार के प्रयोग मे प्रत्येक तुमन्त पद किसी न किसी क्रिया-विशेष्य पद का कारक होता है, इसलिए उडिया व्याकरण मे तुमन्त प्रकार का सर्वथा अभाव रहता है। उडिया के आरम्भिक जाननेवाले को भी यह अवगत है और आवश्यकतानुसार वह स्वत तुमन्त अथवा क्रियासूचक सज्ञापद बना लेता है।

इस सम्बन्ध मे उड़िया व्याकरण लौकिक सस्कृत से भी कही अधिक पूर्ण विकास की अवस्था मे है और इसकी तुलना केवल वेद की प्राचीन सस्कृत भाषा से की जा सकती है। इसके गठन तथा शब्दससमूह, दोनो की पुरातनता सम्पूर्ण रूप से इसकी भाषा मे परिलक्षित होती है और इसका कारण भी निश्चित रूप से इसकी भौगोलिक स्थिति है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही उड़ीसा एक पृथक् देश रहा है। पूर्व मे यह समुद्र से तथा पश्चिम मे यह आदिवासी वन्य जातियो से आबाद पर्वतमाला से घिरा हुआ है और अपने बुरे जलवायु के कारण भी कुख्यात है। इसके दक्षिण की भाषा द्रविड है जो पूर्णतया एक भिन्न परिवार की है। उधर उत्तर मे भी बगाल के साथ इसका बहुत कम राजनीतिक सम्बन्ध है।

अन्य भाषाओं का प्रभाव

दूसरी ओर सुदीर्घ काल तक उडीसा विजित देश रहा। प्राय. आठ सौ वर्षों तक इस पर तैलग राजाओ ने शासन किया और आधुनिक युग मे पचास वर्षों तक यह नागपुर के भोसले के अधिकार मे रहा। इन दोनो के शासन का उडीसा पर बडा गहरा प्रभाव पडा। उडिया मे अनेक शब्द तथा मुहावरे तेलुगु और मराठी से आये हैं और ये आज भी सुरक्षित हैं। जहाँ तक हमे ज्ञात है, विदेशी तत्वो मे केवल यही ऐसे महत्वपूर्ण हैं जो उडिया मे बलात् प्रवेश कर गये हैं। इसमे मुसलमानो के सम्पर्क से कुछ फारसी के शब्द भी आये हैं और इसी प्रकार अंग्रेजो के आधिपत्य के साथ-साथ न्यायालय सम्बन्धी एव अन्य शब्द अग्रेजी से आये हैं।

उड़िया साहित्य

उडिया मे विशाल साहित्य उपलब्ध है। इसमे अधिकतर धार्मिक काव्य की रचना हुई है और उसमे भी कृष्ण-काव्य का प्रमुख स्थान है। मातृभाषा के रूप मे उड़िया का प्रसार अपने ही प्रदेश तक सीमित है, किन्तु इसके बोलनेवाले भारत के विभिन्न भागो मे भी मिलते हैं। ये अधिकाश घरेलू नौकर अथवा पालकी ढोनेवाले होते हैं।

बिहारी

अनेक शताब्दियो से बिहार प्रदेश का राजनीतिक सम्बन्ध बगाल की अपेक्षा आज के उत्तर प्रदेश से ही अधिक रहा। यहाँ तक कि रामायण महाकाव्य की रचना

के युग मे भी अयोध्या (आधुनिक अवध) के राजकुमार रामचन्द्र ने मिथिला अथवा आधुनिक उत्तरी बिहार की प्रसिद्ध राजकुमारी सीता के साथ विवाह किया था। विहार का मुख सदैव उत्तर-पश्चिम की ओर रहा, बगाल की ओर से तो उस पर शत्रुतापूर्ण आक्रमण ही होते रहे। इन्ही कारणो से लोग बिहारी भाषा को यू० पी० मे प्रचलित हिन्दी का ही एक रूप मानते है, किन्तु वास्तव मे यह तथ्य के सर्वथा विपरीत है। बिहार तथा बगाल मे पारस्परिक चाहे जो दुर्भावना हो, बिहारी भाषा बँगला की बहिन है और पश्चिम की बोली से उसका बहुत दूर का सम्बन्ध है। बँगला तथा उडिया की भाँति ही बिहारी का प्रादुर्भाव भी सीधे प्राचीन मागध अपभ्रश से हुआ है। बिहारी आज उसी क्षेत्र को अधिकृत किये हुए है जहाँ किसी युग मे मागधी अपभ्रश प्रचलित थी और इसमे अभी तक मूल-भाषा की प्राय सभी विशेषताएँ सुरक्षित हैं। केवल ध्वनि-सम्बन्धी एक बात मे इसमे मूल-भाषा से अवश्य अन्तर आ गया है और वह है ऊष्म वर्ण (श, ष, स) के उच्चारण मे। इसका कारण भी वस्तुत पश्चिमोत्तर प्रदेश का राजनीतिक प्रभाव है। इन वर्णों के उच्चारण मे बगाल तथा केन्द्रीय भारत मे एक विशेष उच्चारण-पद्धति की ओर सकेत है। वह सकेत यह है कि जो व्यक्ति 'स' का उच्चारण 'श' की भाँति करता है उसे लोग बगाली मान लेते हैं और उसके साथ तदनुकूल व्यवहार भी करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि मन से अपने को पूर्व के न माननेवाले बिहारी भाषा-भाषियो ने 'स' के पश्चिमी उच्चारण को ही ग्रहण करने की चेष्टा की और इसमे वे सफल भी हुए। किन्तु यह परिवर्तन भी सापेक्षिक दृष्टि से बहुत बाद का है क्योकि यद्यपि बिहारी भाषा-भाषी 'स' का उच्चारण ठीक करते हैं किन्तु वह यहाँ की कैथी लिपि मे लिखा 'श' हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन वैयाकरणो ने मागधी मे 'श' के उच्चारण की जिस विशेषता का उल्लेख किया है वह बिहारी मे प्रकारान्तर से आज भी है।

भाषागत सीमाएँ

बिहारी केवल बिहार की ही भाषा नही है वरन् वह उस प्रदेश की सीमा के बाहर भी बोली जाती है। पश्चिम मे यह उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो तथा अवध के कुछ भागो मे भी बोली जाती है। इसकी पश्चिमी सीमा, मोटे तौर पर उस देशान्तर रेखा को मान सकते है जो बनारस से होकर गुजरती है यद्यपि यह बनारस शहर के कुछ दूर पश्चिम तक भी बोली जाती है। दक्षिण मे छोटा नागपुर

के दो ऊँचे चौरस मैदानो तक इसका क्षेत्र है। इसी प्रकार उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण मे सिहभूमि (जो एक उडिया-भाषी जिला है) तक और दक्षिण-पूर्व मे मानभूम से लेकर उत्तर-पश्चिम मे वस्ती जिले तक इसका प्रसार है। इसके द्वारा अधिकृत सम्पूर्ण भू-भाग ९०,००० वर्गमील है जो यूगोस्लाविया के विस्तार-क्षेत्र से ३००० वर्गमील अधिक है और इसके वोलनेवालो की सख्या ३,७०,००,००० है जो इटली की जनसख्या से कुछ ही कम है। इसकी भाषागत सीमाएँ पूर्व मे वँगला, उत्तर मे हिमालय की वोलियाँ, पश्चिम मे पूर्वी हिन्दी तथा दक्षिण मे उडिया भाषाएँ निर्धारित करती हैं।

वोलियाँ

विहारी की तीन मुख्य वोलियाँ—मैथिली, मगही तथा भोजपुरी हैं। प्रत्येक की कई उपवोलियाँ है। मैथिली अथवा तिरहुतिया चम्पारन जिले के कुछ भाग,

	सवक्षण	१९२१ की जनगणना
मैथिली	१,०२,६३,३५७	..
मगही	६५,०४,८१७	.
भोजपुरी	२,०४,१२,६०८	.
योग	३,७१,८०,७८२	३,४३,४२,४३०[1]

पूर्वी मुगेर, भागलपुर तथा पश्चिमी पूर्णिया मे वोली जाती है। अपने शुद्धतम रूप मे यह दरभगा जिले की वोली है। इसमे कुछ साहित्य तो पन्द्रहवी शती मे लिखा गया था। विद्यापति ठाकुर इसी युग मे हुए थे और अपनी सस्कृत-रचना के लिए उन्होंने कुछ प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इनकी एक कृति वँगला मे भी अनूदित हुई थी जो अनेक वर्षों तक परीक्षार्थियो के लिए सिरदर्द उत्पन्न करनेवाली थी।

१. पीछे पृष्ठ...की टिप्पणी देखो।

मैथिली

मैथिली के मधुरतम गीत ही विद्यापति की प्रसिद्धि का मुख्य आधार है। इनका स्थान उन प्राचीन गायको मे अन्यतम है, जिनके राधा-कृष्ण सबधी पदो ने पूर्वी भारत के धार्मिक विश्वासो पर पूर्ण प्रभाव डाला है। इनके पदो को प्रसिद्ध हिन्दू धर्म-सुधारक चैतन्य देव, जिनका सोलहवी शताब्दी मे आविर्भाव हुआ था, अत्यन्त तन्मयता के साथ गाते थे और इस प्रकार उनके माध्यम से विद्यापति के पद बगाल के प्रत्येक घर मे गाये जाने लगे। इसके बाद तो विद्यापति का अनुकरण करनेवाले अनेक कवि प्रकाश मे आये जिनमे से बहुतो ने तो उनके नाम पर ही पदो की रचना की। यही कारण है कि विद्यापति तथा अन्य कवियो के पदो मे आज भेद करना कठिन हो गया है। बगाल मे सकलित वृहत् एव प्रामाणिक सग्रहो मे इन गीतो मे भेद करना इसलिए और भी दुरूह हो गया है कि इनकी प्रारम्भिक मैथिली का रूप पीढियो से आते हुए बगला छदो और मुहावरो के अनुकूल होकर अत्यधिक परिवर्तित हो गया है। मैथिली साहित्य मे अनेक नाटककार भी दरभगा मे हुए। इन नाटको की रचना-पद्धति इस प्रकार थी कि स्थानीय प्रथा के अनुसार इनका ढाँचा तो सस्कृत का होता था किन्तु इनके गीत मैथिली के होते थे। मैथिली मे कतिपय महाकाव्य भी लिखे गये जिनमे से एक के कुछ अश आज भी मिलते हैं।

मगही

मगही दक्षिणी विहार तथा हजारीवाग के छोटा नागपुर जिले मे बोली जाती । यह उस प्रदेश के दो उत्तरी प्लेटोओ (उच्च चौरस भूमि) मे प्रसरित है। क्षिणी प्लेटो मे मगही नही बोली जाती, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इधर ोजपुरी का एक ही रूप प्रचलित है। मगही मे लिखित साहित्य का अभाव है। न्तु सन् १८१८ मे कैरी ने इसमे नूतन वाइविल का अनुवाद किया था। इसके काशित रूप मे कतिपय लोक-कथाएँ तथा लोक-गीत भी उपलब्ध है। उत्तरी बहार, जहाँ कि आजकल मगही बोली जाती है, प्राचीन मगध था, और यही स्तुत मागध अपभ्रंश का केन्द्र भी था।

भोजपुरी

भोजपुरी मुख्यत भोजपुर की भाषा है जो शाहावाद जिले के उत्तर-पश्चिम

में स्थित एक परगने तथा कसवे का नाम है, किन्तु भोजपुरी का क्षेत्र इससे कही अधिक विस्तृत है। यह सम्पूर्ण पश्चिमी विहार तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो मे प्रचलित है। यह पालामऊ के जिले तथा दक्षिणी अथवा छोटा नागपुर के राँची प्लेटो को भी अपनी सीमा में सन्निविष्ट किये हुए है। यह स्थान के अनुसार वदलती जाती है। उदाहरणस्वरूप आजमगढ़ तथा वाराणसी की भोजपुरी शाहा-वाद एव सारन जिलो की भोजपुरी से यत्किंचित् भिन्न है। इसी प्रकार गंगा के उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्रो की भोजपुरी मे भी कुछ अंतर है।

नगपुरिया, मधेसी, सरवरिया, थरुई

इसकी एक महत्वपूर्ण उपवोली छोटा नागपुर की नगपुरिया है। इसी प्रकार इसकी अन्य उपवोलियाँ भी हैं। इनमे से मधेसी भोजपुरी चम्पारन मे, सरवरिया वस्ती तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रो में एव थरुई अथवा भग वोली हिमालय की पर्वतीय जातियो मे वोली जाती है। किन्तु वास्तव मे ये भोजपुरी की छोटी-छोटी उपवोलियाँ है और इनका महत्व भी कम ही है।

पूर्वी

भोजपुरी की तीन मुख्य उपवोलियाँ ये हैं—परिनिष्ठित, पश्चिमी तथा नगपुरिया वोलियाँ। पश्चिमी भोजपुरी को पूर्वी अथवा पूरव की उत्कृष्ट भाषा के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव मे पश्चिमी भारत के लोगो ने स्वाभाविक रूप से यह नामकरण किया है किन्तु इस नाम मे एक दोष यह है कि यह अत्यधिक अनिश्चित है। वास्तव मे पूर्वी शब्द का प्रयोग वहुत शिथिल रूप मे किया जाता है और कभी-कभी इसके अन्तर्गत उन भाषाओ को भी समाविष्ट कर लिया जाता है, जिनसे भोजपुरी का कुछ भी सवध नही है। सच तो यह है कि पूर्वी शब्द का प्रयोग लोग अपने से पूर्व की भाषाओ के लिए करते है। भोजपुरी मे वहुत कम साहित्य है, और जो कुछ है भी वह गत कतिपय वर्षों मे लिखा गया है। वाइविल के कुछ अश के अनुवाद भी इसमे उपलब्ध हैं।

तीनों वोलियो मे पारस्परिक सम्वन्ध

उक्त तीनों वोलियाँ स्वभावत दो भागो मे विभक्त हैं—एक ओर मैथिली एवं मगही तथा दूसरी ओर भोजपुरी। इनके वोलनेवालो का विभाजन नृ-वश की

विशेषताओ के आधार पर भी किया जाता है। इस दृष्टि से मैथिली एव मगही भाषा-भाषियो का एक-दूसरे से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु ये दोनो ही भोजपुरी बोलनेवालो से पृथक् हैं। यहाँ केवल उन्ही विशिष्ट अन्तरो का उल्लेख किया जायगा जो मोटे तौर पर किसी भी व्यक्ति का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। मैथिली और उससे कुछ ही अश कम मगही का उच्चारण भोजपुरी की अपेक्षा अधिक वर्तुलाकार होता है। मैथिली मे 'अ' स्वर का उच्चारण 'ओ' की भाँति होता है और इस सम्बन्ध मे यह बँगला के निकट पहुँच जाता है। इसके विपरीत भोजपुरी मे 'अ' का उच्चारण मध्यदेश मे प्रचलित हिन्दी उच्चारण के समान ही होता है। दूसरी ओर भोजपुरी मे 'अ' को दूर तक खीचकर 'अव्' रूप मे भी उच्चारित किया जाता है। यह उच्चारण अग्रेजी 'awl' मे उच्चरित 'aw' के समान होता है। इन दोनो ध्वनियो का अन्तर इतना अधिक स्पष्ट है और ये इतनी अधिक उच्चरित होती हैं कि इनकी तान (tone) से ही भोजपुरी को तुरन्त पहचाना जा सकता है। सज्ञा के रूपो मे भोजपुरी मे, सम्बन्ध कारक का एक तिर्यक् रूप भी मिलता है जिसका अन्य दोनो बोलियो मे अभाव है। मध्यम पुरुष आदरप्रदर्शक सर्वनाम का रूप जो नित्य की बातचीत मे व्यवहृत होता है, मैथिली तथा मगही मे "**अपने**" है किन्तु भोजपुरी मे यह "**रउरे**" है। मैथिली मे सहायक क्रिया (है), '**छै**' अथा '**अछि**' रूप मे मिलती है, मगही मे यह "**हइ**" हो जाती है किन्तु भोजपुरी मे इसके रूप **बाटे, बाड़े** अथवा '**हवे**' हो जाते है। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ की भाँति ही इन तीनो बोलियो मे भी वर्तमान काल सम्पन्न करने के लिए सहायक क्रिया मे वर्तमान कालिक कृदन्त का रूप सयुक्त करना पडता है। किन्तु मगही में वर्तमान काल का एक अन्य रूप मिलता है—**देख हई**, देखा है। इसी प्रकार भोज-पुरी मे भी एक अन्य रूप मिलता है—**देख-ला**, जिसका वास्तविक अर्थ सदिग्ध है। मैथिली तथा मगही क्रियाओ की रूप-रचना की पद्धति नितान्त जटिल है, किन्तु भोजपुरी क्रियाओ के रूप की पद्धति बँगला और हिन्दी की भाँति ही नितान्त सरल है। बिहार की इन तीनो बोलियो मे और भी अनेक छोटे-मोटे अतर है, किंतु ऊपर जो अन्तर दिये गये हैं, वे विशिष्ट एव उल्लेखनीय हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मैथिली तथा मगही ऐसी जातियो की बोलियाँ हैं, जो रूढिवादिता की चरमसीमा तक पहुँची हैं, जब कि भोजपुरी एक बलाढ्य जाति की व्यावहारिक भाषा है, जो परिस्थितियो के अनुसार अपने को परिवर्तित

करने के लिए सदैव तत्पर रहती है और जिसने सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभाव स्थापित किया है।

जातीय अन्तर

अतिम उल्लेख हमे एक ओर मैथिली तथा मगही भाषा-भाषियो और दूसरी ओर भोजपुरी बोलनेवालो की जातीय भिन्नताओ के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए बाध्य करता है। यह भिन्नता भी बहुत अधिक है। मिथिला का इतिहास बहुत पुराना है और इसकी परम्पराएँ आज भी सुरक्षित हैं। प्राचीन काल से ही इस पर ब्राह्मणो के एक ऐसे वर्ग का अधिकार रहा जो पोदीना, सौंफ और जीरा तक से परहेज करते रहे, शताब्दियो तक मैथिलो ने अपनी अहमन्यता के कारण अन्य जाति के लोगो को अपने समान नही माना, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन्हे उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम से आनेवाले आक्रमणकारियो के समक्ष पराभूत होना पडा, किन्तु इस पर भी इन्होने अपनी वशगत परम्परा को परिवर्तित नही किया। कथा प्रसिद्ध है कि भगवान् राम के विवाह के अवसर पर भी मैथिल ब्राह्मणो ने उसी असभ्य अहमन्यता का प्रदर्शन किया था जो उनके बीसवी शताब्दी के वशजो मे आज भी दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मणप्रभुता की अमिट छाप मिथिला के जनसमुदाय पर भी स्पष्ट है। मिथिला अथवा तिरहुत भारत के अत्यधिक सघन प्रदेशो मे से है, यहाँ निरन्तर जनसख्या मे वृद्धि होती जाती है और उसके साथ ही साथ दरिद्रता भी बढती जाती है। यहाँ के निवासी न तो कृषि के अतिरिक्त जीवनयापन के किसी अन्य साधन का ही प्रयोग करते हैं अथवा न विदेश जाकर ऐसी भूमि को ही अधिकृत करते हैं जहाँ वे खेती कर सकें। दूसरी ओर, यद्यपि मगध का प्रारम्भिक बौद्ध इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध था तथापि यह बहुत दिनो तक मुसलमान आक्रमणकारियो का अड्डा रहा, और अनेक वर्षों तक मुसलमानो के राज्य का केन्द्र-स्थान होने के कारण यह हिन्दू-युग के गौरवपूर्ण दिनो को भूल गया। मगध का अधिकाश भाग जगली और कृषि के लिए अयोग्य है, और इसके शेष भाग मे सिंचाई की सहायता से कठिनाई से खेती होती है। सिंचाई के ये साधन भी प्रागैतिहासिक युग के हैं। इसके कृषक-वर्ग का शताब्दियो से शोषण हो रहा है, और ब्रिटिश शासन मे भी यहाँ के लोग भारत के अन्य पडोसी भागो की अपेक्षा कही अधिक निर्धन, अशिक्षित तथा अनुद्योगी है। पूर्वी हिन्दुस्तान मे एक ऐसा विशेष शब्द प्रचलित है जो इस प्रदेश की जातीय प्रकृति को भलीभाँति

प्रकट करता है। यह शब्द 'भदेश' है और इसके दो अर्थ है। इसका एक अर्थ है असभ्य या जगली किन्तु दूसरा अर्थ है मगध का निवासी। इनमे से कौन मूल अर्थ है और कौन गौण यह कहना कठिन है, किन्तु इस एक शब्द मे ही इस प्रदेश का सम्पूर्ण इतिहास निहित है।

भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र मे बसनेवाले लोग अपनी विशिष्टता के कारण ऊपर की दोनो बिहारी बोलनेवालो से नितान्त भिन्न है। ये वास्तव मे सतर्क तथा क्रियाशील जाति के लोग है। इनमे रूढिवादिता का अभाव है, और ये युद्ध के लिए युद्ध मे प्रवृत्त हो जाते है। ये सम्पूर्ण भारत मे फैले हुए हैं और इनका प्रत्येक व्यक्ति किसी भी सुअवसर से अपने भाग्य-निर्माण के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। पूर्व युग मे इन लोगो ने एक बडी सख्या मे हिन्दुस्तानी सेना मे भरती होकर उसे सुसज्जित किया था, और १८५७ के सिपाही-विद्रोह मे उन्होने महत्वपूर्ण भाग लिया था। जिस प्रकार आयरलैण्ड के निवासी हाथ मे डडा लेकर चलने के शौकीन होते है, ठीक उसी प्रकार लम्बे कद वाले शक्तिशाली भोजपुरियो को हाथ मे लाठी लिये हुए साधारणतया अपने घर से दूर खेतो पर देखा जा सकता है। इनमे से हजारो व्यक्ति ब्रिटिश उपनिवेशो मे जा बसे है और वहाँ से बडे सम्पन्न होकर लौटे हैं। प्रत्येक वर्ष काम की खोज मे इससे भी अधिक लोग उत्तरी बगाल की ओर चले जाते है और वहाँ वे पालकी ढोनेवालो के ईमानदारी के पेशे से लेकर डाका डालने तक का काम करते है। पूर्वी बगाल के जमीन्दार अपने असामियो को नियन्त्रण मे रखने के लिए भोजपुरी सिपाहियो का दल रखते हैं और वहाँ वे दरवान कहलाते है। भोजपुरी ऐसे ही व्यक्तियो की भाषा है और यह ध्यान देने की बात है कि इनकी भाषा सर्वजनसुलभ, सुविधाजनक व्यावहारिक भाषा है और इसमे व्याकरणीय जटिलताओ का नितान्त अभाव है।

लिपि

सम्पूर्ण बिहारी-भाषी क्षेत्र मे कैथी लिपि प्रचलित है। अत्यधिक पूर्ण एव सुन्दर नागरी लिपि के साथ-साथ यह भी सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे प्रयुक्त होती है। यथार्थ मे कैथी को हम नागरी का वह रूप कह सकते है जो शीघ्रता से लिखने के लिए व्यवहृत होता है, किन्तु जैसा कि कुछ लोगो का विचार है, इसे भ्रष्ट-नागरी कहना समीचीन न होगा। कैथी देश के दो छोरो पर स्थित, दो सुदूरवर्ती प्रदेशो, बिहार एव गुजरात की राज्यलिपि है किन्तु किसी तिरहुतवासी पटवारी को

गुजराती पुस्तक पढने मे तनिक कठिनाई नही होती। तिरहुत के ब्राह्मण अपनी एक विशिष्ट लिपि मैथिली का प्रयोग करते हैं। यह बँगला लिपि से बहुत अधिक मिलती जुलती है, किन्तु बंगला लिपि से इसका इतना अन्तर अवश्य है कि पहली बार इसे पढ़ने मे कठिनाई होती है।

बँगला

बँगला गगा नदी के डेल्टा तथा इसके उत्तर एवं पूर्व के निकटवर्ती प्रदेशो की भाषा है। यह चार करोड बीस लाख मनुष्यो की बोली है जो लगभग फ्रास की जनसख्या के बराबर है। गंगा के उत्तर मे इसकी पश्चिमी सीमा को पूर्णिया जिले के पूर्व मे महानदा तक माना जा सकता है। गगा के दक्षिण मे यह छोटा नागपुर के पठारो की तलहटी तक विस्तृत है। मिदनापुर जिले के अधिकाश भाग तथा सिंहभूम जिले के धालभूम नामक प्रसिद्ध स्थान तक इसका क्षेत्र है। पूर्व मे यह गोआलपाडा जिले के आधे भाग को सम्मिलित करती हुई असम घाटी तक चली जाती है। सूरमा घाटी मे यह सम्पूर्ण सिलहट, कछार, मैमनसिंह और ढाका तक फैली हुई है, यद्यपि यहाँ के भूमि-भाग मे आशिक रूप से तिब्बत-बर्मी भाषा-भाषी रहते हैं और इधर उनकी यत्र-तत्र बिखरी बस्तियाँ मिलती हैं। इसके कुछ और दक्षिण मे यह नोआखाली, चटगाँव जिले तथा उसके पहाड़ी भागो एव अराकान मे बोली जाती है। इसके उत्तर मे हिमालय की तिब्बती-बर्मी भाषाएँ, पश्चिम मे बिहारी, दक्षिण-पश्चिम मे उडिया और इसके पूर्व मे तिब्बती-बर्मी तथा असमियाँ भाषाएँ बोली जाती हैं। दक्षिण मे यह बगाल की खाडी से घिरी है। भारतवर्ष की किसी भी भाषा मे, दैनिक व्यवहार की भाषा और साहित्यिक भाषा मे इतना अन्तर नही है जितना कि बँगला मे। इन दोनो को एक ही भाषा की बोलियाँ कहने की अपेक्षा दो स्वतन्त्र भाषाएँ कहना ठीक होगा। पिछले तीस वर्षो तक चार करोड से अधिक व्यक्तियो की वास्तविक अथवा दैनिक जीवन की भाषा के सम्बन्ध ने लोगो को बहुत ही कम ज्ञान था; क्योकि पिछली जनगणना मे उन्होंने मातृभाषा के रूप मे बँगला ही लिखाया था। यूरोपीय वैयाकरण भी, जिनमे से अधिकांश मिशनरी थे और जिन्हे भाषा के सम्बन्ध मे अधिक जानना चाहिए था, प्राय कलकत्ते के पडितो के मार्ग के अनुगामी थे और उन्होंने ग्रन्थो मे कृत्रिम साहित्यिक भाषा से ही उदाहरण दिये। बीम्स ही पहला और एक मात्र अकेला ऐसा लेखक था, जिसने विगत शताब्दी के अन्तिम दशक मे लोगो के नित्य व्यवहार की भाषा

का लेखा करने की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। तभी से भाषा-सर्वेक्षण बहुत कुछ सफलता के साथ बगाली बोलियो का लेखा रखने मे अग्रसर हो सका और इधर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व मे लेखको का एक समुदाय सरल गद्य शैली के प्रति जन-साधारण मे अभिरुचि विकसित कर रहा है और जिसमे पिछली शताब्दी की बँगला और वर्तमान युग की नित्य की भाषा का सुन्दर समन्वय होने लगा है।

बोलियाँ

इस भाषा को बोलियो मे विभक्त करने के लिए विभाजक-रेखा को या तो पूर्व से पश्चिम ओर अथवा लम्बवत् उत्तर से दक्षिण ओर खीचा जा सकता है। प्रथम विभाजन को ग्रहण करने से एक ओर हमे साहित्यिक भाषा मिलती है तो दूसरी ओर जनसाधारण की नित्य व्यवहार की भाषा। साहित्यिक भाषा का रूप यथार्थ मे समस्त बगाल मे एक ही है। इसका प्रयोग केवल पुस्तको तथा समाचार-पत्रो अथवा शिष्टाचार की भाषा के रूप मे होता है, अन्य अवसरो पर बँगला भाषा-भाषी दूसरी भाषा के परिष्कृत रूप का व्यवहार करते हैं। इन दोनो भाषाओ मे केवल वैसी ही असमानता नही है जैसी कि इग्लैण्ड के शिक्षित तथा अशिक्षित समुदायो की भाषा मे वर्तमान है। यह असमानता अत्यधिक है। साहित्यिक बँगला साधारण बोल्चाल की भाषा से न केवल सस्कृत-गर्भित होने के कारण ही भिन्न है, वरन् व्याकरणीय रूपो मे भी उसमे भिन्नता है। साहित्यिक बँगला के व्याकरण का नित्य वार्तालाप मे कही भी प्रयोग नही होता। बोलचाल के रूप वास्तव मे अत्यत सक्षिप्त होते है। साहित्यिक भाषा के इस शब्द—"ओरे रोतुन्दो" के उच्चारण मे चार अक्षर हैं किन्तु इसमे घटकर दो ही रह गये हैं। यही कारण है कि प्रथम भाषा का साधारण ज्ञान दूसरी भाषा को समझने अथवा बोलने मे बहुत कम सहायक सिद्ध हो पाता है।

लम्बवत् (उत्तर से दक्षिण) विभाजन की रेखाएँ केवल-मात्र बँगला की बोलचाल की भाषा से सम्बन्ध रखती है। बँगला की अनेक बोलियाँ हैं। किन्तु एक बोली से दूसरी मे परिवर्तन की गति इतनी मद है कि उनमे से किसी एक के सबध मे यह कहना असभव हो जाता है कि उसका आरम्भ कहाँ से होता है और कहाँ पर अन्त। तो भी पूर्वी तथा पश्चिमी नाम की दो मुख्य शाखाएँ तो स्पष्ट ही हैं। इनमे पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत कलकत्ता तथा हुगली के चारो ओर बोली जाने

वाली परिनिष्ठित भाषा आती है। दक्षिण-पश्चिम की विचित्र बोली मिदनापुर के मध्य भाग मे, और उत्तरी बँगला गगा के उत्तर, पूर्णिया तथा रगपुर के मध्यवर्ती

	सर्वेक्षण	सन् १९२१ की जनगणनानुसार
पश्चिमी	१,८८,६६,६९२	.
पूर्वी	२,२७,३०,६०६	..
अनिर्णीत	३,३५,९८६	.
योग	४,१९,३३,२८४	४,९२,९४,०९९

क्षेत्र मे बोली जाती है। पश्चिमी वगाल मे एक पश्चिमी बोली भी है, जो पडोस की विहारी बोलियो से प्रभावित है, और उसी क्षेत्र मे हमे कुछ टूटी-फूटी भाषाएँ भी मिलती है जो पर्वतीय जातियो मे प्रचलित है। इनमे सवसे प्रमुख सथाल

पश्चिमी वँगला	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	८४,४३,९९६
पश्चिमी	३९,६७,६४१
दक्षिण-पश्चिमी	३,४६,५०२
उत्तरी	६१,०८,५५३
योग	१,८८,६६,६९२

परगना तथा वीरभूमि की माल पहाड़िया है। इसे अव तक लोग द्रविड़ भाषा समझते थे, किन्तु भाषासर्वेक्षण मे इसे भ्रष्ट वँगला के रूप मे अकित किया गया है। उत्तरी वगाल मे तिव्वती-वर्मी कोच लोगो ने वहुत दिनो से अपनी मातृ-भाषा का परित्याग कर दिया है। किन्तु इसके अवशेष उनके द्वारा व्यवहृत वँगला मे मिलते हैं और ज्यो-ज्यो हम उनके मूल-स्थान व्रह्मपुत्र की ओर वढते जाते हैं, त्यो-त्यो यह अवशेष भी अधिक मात्रा मे मिलता जाता है। पूर्णिया मे वोली जानेवाली वँगला मे पडोस की विहारी भाषा मैथिली का अत्यधिक मिश्रण हुआ है और इधर वँगला भाषा को लिखने के लिए कैथी लिपि का प्रयोग किया गया है।

टूटीफूटी बोलियाँ	सर्वेक्षण
खड़िया-ठार	२,२९८
पहाड़िया-ठार	४६२
माल पहाड़िया	२७,९०८
योग	३०,६६८

बंगाल की पूर्वी शाखा के केन्द्र-स्थान के रूप मे ढाका जिले को माना जा सकता है, जहाँ परिनिष्ठित पूर्वी बँगला बोली जाती है। वास्तविक पूर्वी बँगला बोली ब्रह्मपुत्र के पश्चिम मे नही बोली जाती, किन्तु जब हम ढाका से आते हुए

पूर्वी बँगला	सर्वेक्षण
परिनिष्ठित	१,६९,१०,६५१
राजवंशी	३५,०९,१७१
दक्षिण-पूर्वी	२३,१०,७८४
योग	२,२७,३०,६०६

इस नदी को पार करते हैं तब हमे रंगपुर और इसके उत्तर तथा पूर्व के जिलो मे एक उल्लेखनीय विशेष भाषा भी मिलती है, इसे राजवंशी कहते है और यद्यपि यह निस्सन्देह रूप से पूर्वी शाखा की भाषा है तथापि उसमे और इसमे इतना अन्तर है जिससे हमे इसे एक अलग बोली के रूप मे रखने के लिए बाध्य होना पड़ता है। दार्जिलिंग की तराई मे यह 'बाहे' नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वी बँगला की विशेषताओ के चिह्न हमे सर्वप्रथम खुलना तथा जैसोर जिलो एव गगा के डेल्टा के पूर्वी आधे भाग मे दिखाई देते है। पूर्वी बँगला, यहाँ से उत्तर-पूर्वी दिशा मे मेघना के काँठे तथा इसकी सहायक नदियो से सम्बन्धित टिपरा, ढाका, मैमनसिंह, सिलहट तथा कछार जिलो की ओर बढती है। इसके आगे प्रत्येक दिशा मे इन क्षेत्रो की पहाड़ियो के कारण इसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है और सूरमा के काँठे एव मैमनसिंह मे एक सकर बोली मिलती है, जिसे अर्धसभ्य हैजोग अथवा हाजोग लोग बोलते हैं।

हँजोंग

वास्तव मे यह बँगला तथा तिब्बती-वर्मी भाषा का मिश्रण है। बगाल की खाड़ी के किनारे के पूर्वी भू-भाग मे ठीक इसी प्रकार की एक दक्षिण-पश्चिमी बोली बोली जाती है।

	सर्वेक्षण
हैंजोग	५,०००

चक्मा

भीतर की ओर एक विचित्र प्रकार की और बोली का क्षेत्र है। इसका नाम 'चाक्मा' है तथा इसे चटगाँव की पहाडी जातियो के लोग बोलते हैं। इस अन्तिम बोली की अपनी लिपि है। यह वर्मी लिपि के ही समान है किन्तु उससे कही अधिक

	सर्वेक्षण
चाक्मा	२०,०००

प्राचीन है। यहाँ 'डैग्नेत' नामक एक अन्य सकर भाषा भी मिलती है। कुछ लोगो के अनुसार इसका सबध बगला से है किन्तु इधर के विवरण उपस्थित करने वालो ने इसे चीन की मिश्रित भाषा कहा है और इसी रूप मे इसका सर्वेक्षण मे उल्लेख भी हुआ है।[1]

बँगला-उच्चारण

जिस युग मे प्राकृत भाषाएँ भारत की साधारण बोलचाल की भाषा थी उस युग मे भारतीय आर्यों के उच्चारणावयव उन अक्षरो तथा ध्वनियो को, किसी कठिनाई के बिना उच्चारण करने मे असमर्थ थे, जो उनके पूर्वजो के लिए अत्यन्त सरल थी। जिस प्रकार वे उनका भिन्न रूप मे उच्चारण करते थे, उसी प्रकार वे उनका

१. देखो पृष्ठ १५४।

अक्षरविन्यास भी भिन्न रूपो मे करते थे। हिन्दू वैयाकरणो द्वारा उपस्थित किये हुए विवरणो के अनुसार हमे उनकी उच्चारण-शैली का पता चलता है। जब वे धन की देवी जिसे उनके पूर्वज 'लक्ष्मी' कहते थे, विषय मे कुछ कहना चाहते थे तो उन्हे 'क्ष्म' के उच्चारण मे बड़े कष्ट का अनुभव होता था। इसलिए उन्होने इस शब्द का लिखने तथा बोलने मे "लच्छी" अथवा ग्रामीण रूपान्तर "लक्खी" के रूप मे सरलीकरण कर डाला। पुनश्च, जब वे पकाये हुए चावल को, जिसे उनके पूर्वज 'भक्त' कहते थे, माँगना चाहते थे तो उन्हे "क्त" के उच्चारण मे अत्यधिक कठिनाई होती थी। यही कारण है कि इसके स्थान पर वे "भत्त" शब्द का उसी प्रकार प्रयोग करने लगे जिस प्रकार कि "फैक्टम" (factum) शब्द के उच्चारण मे कठिनाई का अनुभव करके इताली वासी बोलने तथा लिखने मे "फैटो" (Fatto) शब्द का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार उनमे से कतिपय लोगो को जब "स" के उच्चारण मे दुरूहता प्रतीत हुई तो उन्हे "श" का प्रयोग करना पडा और जब उन्हे समुद्र विषयक बातें करनी पडी तो उसे "सागर" न कहकर "शागर" अथवा "शायर" कहा। अन्तिम उदाहरण के रूप मे, जब उन्हे बाहर के लिए 'बाह्य' कहना था तो उच्चारण-सौकर्य के लिए उन्हे "बज्झ" कहना पडा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आधुनिक बँगला की उत्पत्ति ऐसी अपभ्रंश से हुई है जिसका मागधी प्राकृत से अति-निकट का सम्बन्ध था और ऊपर के सभी उदाहरण मागधी प्राकृत के ही हैं। उच्चारणावयवो की ठीक यही असमर्थता जो हजारो वर्ष पहले के बगालियो के पूर्व-पुरुषो मे विद्यमान थी आज उनमे भी मौजूद है। आज किसी भी बगाली के लिए "क्ष्म" का उच्चारण उतना ही कठिन है जितना उसके पूर्वजो के लिए था। वह "स" का स्पष्ट उच्चारण नही कर सकता और उसे "श" मे परिणत कर देता है। इसी प्रकार ह्य् के उच्चारण मे उसे अत्यधिक कठिनाई होती है और वह उसे "ज्झ्" कहता है। यहाँ इस सम्बन्ध के थोडे ही उदाहरण दिये जा रहे हैं किन्तु इनकी सख्या अनन्त है। यह होते हुए भी जब कोई बगाली किसी शब्द को सस्कृत से ग्रहण करता है तो वह उसे उसी शुद्ध रूप मे लिखता है जैसा कि वह दो हजार वर्ष पूर्व लिखा जाता था, किन्तु उसका उच्चारण वह इस प्रकार से करता है मानो वह मागधी प्राकृत का ही शब्द हो। वस्तुत वह लिखता है "लक्ष्मी" किन्तु पढता है "लक्खी"। वह लिखता "सागर" किन्तु पढता है "शागर" और यदि कही अशिक्षित हुआ तो कहता है "शायर"। इसी प्रकार वह लिखता है "बाह्य" किन्तु इसका उच्चारण करता है "बज्झ"। दूसरे शब्दो मे

वह लिखता तो संस्कृत है किन्तु पढ़ता है कोई अन्य भाषा। यह ठीक उसी भाँति है, जैसे कि कोई इटली का निवासी लिखे "फैक्टम" और पढ़े "फैटो" अथवा कोई फ्रेंच लिखे लैटिन "सिक्का" (sicca) किन्तु इसका उच्चारण करे "सेशे" (siche) अथवा वह लिखे 'डे होरा इन अव अन्ते' (de hora in ab ante) और उसे पढे "डोरे ना वाँ" (dore' navant)।"

इन समस्त बातो का एक मात्र निष्कर्ष यही है कि किसी भी विदेशी के लिए बँगला का उच्चारण कठिनतम कार्य है। अंग्रेजी की ही भाँति बँगला का उच्चारण भी अक्षर-विन्यास के अनुसार नही होता, यद्यपि इसका कारण वही नही है जो अंग्रेजी का है। आधुनिक साहित्यिक अथवा साधु बँगला के शब्द-समूह मे अधिकाश शब्द सस्कृत के है किन्तु इनमे से कुछ ही शब्द ऐसे हैं जो जैसे लिखे जाते हैं वैसे ही पढे भी जाते है। सच तो यह है कि सस्कृत की जटिल ध्वनियो के उच्चारण के लिए बगाली प्राय व्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं, क्योकि शताब्दियो से इन ध्वनियो का उच्चारण न करने के कारण उनके उच्चारणोपयोगी अवयव असमर्थ एव शिथिल हो गये हैं। फलत बँगला के कई व्यजनो का अर्ध एव स्वरो का भग उच्चारण होता है और इसके लिए प्राचीन बँगलाक्षरो मे कोई नवीन चिह्न नही जोडे गये हैं। इसका परिणाम यह है कि विदेशियो को इन ध्वनियो के उच्चारण के लिए बहुत भटकना पडता है, क्योकि इनके उच्चारण के लिए उनके स्वरयन्त्र उसी प्रकार से अनुपयुक्त हैं जिस प्रकार सस्कृत-ध्वनियो के उच्चारण के लिए बगालियो के।

साहित्य

बँगला मे मौलिक तथा जनप्रिय साहित्य उपलब्ध है। इसकी रचना पन्द्रहवीं शती से अठारहवी शती के अन्तिम काल तक सम्पन्न हुई थी। इसके बाद तथाकथित ज्ञान एव पाण्डित्य के पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप आधुनिक बँगला साहित्य अस्तित्व मे आया। यह साहित्य अधिकाशत- अंग्रेजी आदर्श पर निर्मित हुआ हैं तथा इसके अन्तर्गत अनेक श्रेष्ठ ग्रथ एव कतिपय महान् कृतियाँ हैं किन्तु वास्तव मे ये उतनी जनप्रिय नही है। पुराने लेखको मे सम्भवत चण्डीदास तथा मुकुन्दराम ही ऐसे हैं जिनकी कृतियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इनकी रचनाएँ हृदय से उद्भूत हुई हैं तथा इनके पदो मे वास्तविक काव्य एव शक्तिशाली वर्णन-शैली के दर्शन होते है। मुकुन्दराम के कतिपय पदो का स्वर्गीय प्रोफेसर कावेल ने अंग्रेजी मे सुन्दर अनुवाद किया है।

लिपि

बँगला-लिपि नागरी का ही उप-रूप है जो पूर्वी भारत मे प्राय ग्यारहवी शताब्दी मे प्रतिष्ठापित हुई थी। इसी लिपि के अन्य रूप, असमियाँ तथा मैथिल ब्राह्मणो द्वारा विहारी की उपभाषा मैथिली के लिए प्रयुक्त किये जाते है।

असमियाँ

असमियाँ वाहरी उपशाखा की अन्तिम भाषा है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह असम घाटी की भाषा है। सुदूर पश्चिमी भाग को छोड़कर, जहाँ असमियाँ गोआलपाडा जिले मे बँगला मे अन्तर्भुक्त हो जाती है, इस सम्पूर्ण-क्षेत्र मे केवल मात्र यही एक आर्य-भाषा है। अन्यत्र यह हिन्द-चीनी तथा आस्ट्रिक-भाषाओ

असमियाँ	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पूर्वी अथवा परिनिष्ठित	८,५९,९५०	..
पश्चिमी	५,४३,५००	..
मयाँग	२३,५००	..
झरवा	९,०००	..
अनिर्णीत	११,६०२	
योग	१४,४७,५५२	१७,२७,३२८

से पूर्णतया घिरी हुई है। इन आर्येतर भाषाओ का इस पर अधिक प्रभाव नही पडा है। इसमे कुछ शब्द अन्य भाषाओ से उधार लिये गये हैं और प्राचीन आर्य-भापा के कतिपय रूप (जैसे सर्वनामीय प्रत्ययो का प्रयोग) भी इसमे सुरक्षित है। इसका मुख्य कारण यह है कि पडोस की जातियो मे भी इस प्रकार के मुहावरे प्रचलित रहे होगे। पश्चिमी असमियाँ तथा घाटी के पूर्वी किनारे पर वोली जानेवाली भाषा मे वहुत कम अन्तर है। किन्तु इसकी वास्तविक वोली मनीपुर राज्य तथा सिलहट और कछार के हिन्दुओ द्वारा बोली जानेवाली 'मयाग' अथवा 'विश्नुपुरिया' वोली है। भौगोलिक स्थिति के कारण मयाग, असमियाँ की अपेक्षा बँगला की विभाषा मानी जानी चाहिए और यदि इसका वर्गीकरण बँगला के अन्तर्गत किया जाय तो कुछ गलत भी न होगा, किन्तु मैंने इसे असमियाँ के अन्तर्गत रखा है क्योकि इसमे इस भाषा की विशेषताएँ विद्यमान हैं।

झरवा

यहाँ पर एक मिश्रित व्यापारिक भाषा का भी उल्लेख किया जा सकता है जो गारो पर्वतमालाओ की तलहटी मे 'झरवा' नाम से विकसित हुई है। यह बँगला, गारो तथा असमियाँ के सम्मिश्रण से निर्मित भाषा है। असमियाँ लोगो को अपने घर तथा प्रदेश से वेहद मोह है और असम घाटी के वाहर जिन स्थानो मे इसके बोलनेवाले पर्याप्त सख्या मे निवास करते है, वे हैं इस प्रदेश की पर्वत-मालाएँ तथा सिलहट एव कछार के बँगला-भाषी जिले।

उड़िया की तरह असमियाँ भी बँगला की वहन है, पुत्री नही। यह उत्तरी बँगाल से होती हुई विहार से आयी है, खास बगाल से नही। एक वार इस विषय पर वडा विवाद हुआ था कि असमियाँ बँगला की एक वोली है अथवा नही? इसका मुख्य आधार इसके अधिकाश शब्द थे जिस पर अनन्त काल तक विवाद किया जा सकता है। वास्तव मे भाषा तथा वोली मे अन्तर स्पष्ट करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार 'विभेद' तथा 'प्रकार' एवं पहाडी तथा पहाड मे अन्तर करना कठिन है। यह ठीक है कि असमियाँ का व्याकरण बँगला से किसी भी रूप मे अधिक भिन्न नही है, किन्तु यदि उपलब्ध लिखित साहित्य की दृष्टि से इस सम्बन्ध मे विचार करें तो यह निस्सन्देह सिद्ध हो जायगा कि असमियाँ का स्वतन्त्र अस्तित्व है, यह स्वतन्त्र जाति की भाषा है, इसका अपना स्तर है तथा यह बँगला से भिन्न है।

असमियाँ तथा बँगला की तुलना

असमियाँ तथा बँगला के उच्चारण मे अत्यधिक अन्तर है। इसमे 'अ' का उच्चारण अग्रेजी हॉट (hot) के 'ओ' की भाँति तो होता ही है, इसके अतिरिक्त इसका एक उच्चारण अग्रेजी "ग्लोरी" (glory) के 'ओ' की भाँति खीचकर भी किया जाता है। जिस प्रकार आधुनिक ग्रीक मे मात्रा के बदले स्वराघात (Accent) का प्रयोग होता है, उसी प्रकार असमियाँ मे ह्रस्व तथा दीर्घ स्वर मे अत्यल्प अन्तर है। इसी प्रकार इसमे मूर्धन्य तथा दन्त्य व्यंजन वर्णो मे अन्तर नही है क्योकि इनका उच्चारण अर्धमूर्धन्य अग्रेजी 'टी' (t) तथा 'डी' (d) की भाँति होता है। 'च' तथा 'छ' व्यजनो का उच्चारण इसमे अग्रेजी 'सिन्' (Sin) के 'स्' की तरह होता है और 'ज्' का उच्चारण अग्रेजी एज्योर (Azure) के (z) की भाँति होता है। दूसरी ओर 'स्' का उच्चारण कठ से, एक विचित्र रूप से 'लोख' (Loch) मे

प्रयुक्त ख (ch) की तरह होता है। इसमे सज्ञा के रूप प्राय. वोलचाल की बँगला की भाँति ही होते हैं। किन्तु क्रिया के रूपो मे ऐसी अनेक विशेषताएँ मिलती है जिनका उल्लेख यहाँ सम्भव नही है। बँगला के मुकाविले मे असमियाँ (असमियाँ साहित्य तक) मे तत्सम शब्दो का बहुत कम प्रयोग होता है।

साहित्य

असमियाँ लोगो का अपने जातीय साहित्य पर गर्व करना उचित ही है। इतिहास लेखन मे, जिसमे शेष भारत वहुत पिछड़ा हुआ है, असमियाँ लोगो को अन्य साहित्य की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। गत छै सौ वर्षों की ऐतिहासिक घटनाएँ यहाँ सावधानी से सुरक्षित रखी गयी हैं और उनकी प्रामाणिकता विश्वसनीय है। ये इतिहास ग्रन्थ मूलत. आहोम विजेताओ के अनुकरण पर लिखे गये है। इनके नाम भी आहोम ही हैं और ये सख्या तथा परिमाण, दोनो मे अधिक हैं। देश की परम्परा के अनुसार प्रत्येक असमियाँ भद्र पुरुष के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक था और प्रत्येक श्रेष्ठ वश, सरकारी एव अन्य कर्मचारी अपनी समकालीन घटनाओ का सूक्ष्म विवरण रखता था। किन्तु असमियाँ साहित्य केवल इतिहास तक ही सीमित नही है। इसमे अन्य सत्तर ग्रन्थो का भी विवरण मिलता है। ये मुख्य रूप से धार्मिक ग्रन्थ हैं। असम प्रदेश के पुराने एव श्रेष्ठ कवियो मे श्री शकरदेव का नाम सर्वोपरि है। इनका समय सोलहवी शताब्दी का पूर्वार्घ भाग है। इन्होंने श्रीमद्भागवत पुराण का असमियाँ मे अनुवाद किया था। अन्य कवियो मे राम सरस्वती तथा माधवदेव प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम ने 'महाभारत' तथा 'रामायण' का अनुवाद किया था तथा द्वितीय ने 'भक्तिरत्नावली' तथा अन्य कविताओ की रचना की थी। आयुर्वेद का व्यावहारिक ज्ञान असम प्रदेश के अनेक उच्च वश के लोग प्राप्त करते थे और भद्र लोगो के लिए तो इसका ज्ञान परमावश्यक समझा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि असमियाँ मे इस विषय के अनेक ग्रथो की रचना हुई। इन ग्रथो मे से अधिकाश सस्कृत के तद्विषयक ग्रथो के अनुवाद हैं। इसी प्रकार पिछले पाँच सौ वर्षो मे लिखित कम से कम चालीस असमियाँ नाटको का विवरण मिलता है और इनमे से कई तो आज भी ग्रामीण "नामघरो" मे खेले जाते है। सन् १८१९ मे सिरामपुर के मिशनरियो ने सम्पूर्ण वाइविल का अनुवाद असमियाँ मे तैयार किया था और अव तक इसके अनेक सस्करण प्रकाशित

हो चुके हैं। बाद मे अमेरिका के बैपटिस्ट मिशन प्रेस ने ईसाई धर्म-सम्बन्धी एवं अन्य ग्रन्थो को असमियाँ मे प्रकाशित कराया और इस प्रकार पडोस की बंगला भाषा के सम्मिश्रण से बचाकर उसके शुद्ध रूप को सुरक्षित रखा।

लिपि

असमियाँ तथा बँगला लिपि प्राय. एक ही है। इसमे व-ध्वनि को द्योतित करने के लिए एक नवीन चिह्न का प्रयोग किया जाता है जिसका बँगला-लिपि मे अभाव है।

चौदहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाएँ—मध्य उपशाखा

पूर्वी हिन्दी

अब हम उस भाषा पर विचार करेंगे जो बाहरी तथा भीतरी उपशाखाओ की मध्यवर्तिनी है। यह उस प्रदेश की भाषा है जहाँ भगवान् रामचन्द्र ने जन्म ग्रहण किया था। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने इसी की मातृस्थानीया भाषा मे अपने शिष्यो को धर्मोपदेश किया था। इसी क्षेत्र की भाषा अर्धमागधी प्राकृत के रूप मे विकसित होकर, बाद मे जैनधर्म की पवित्र भाषा बनी तथा इसकी वर्तमान उत्तरा-

मध्य उपशाखा

पूर्वी हिन्दी	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
अवधी	१,६१,४३,५४८	
बघेली	४६,१२,७५६	
छत्तीसगढी	३७,५५,३४३	
योग	२,४५,११,६४७	२,२५,६७,८८२[1]

धिकारिणी पूर्वी हिन्दी अपनी काव्यात्मक प्रतिभा के प्रभाव के परिणामस्वरूप भगवान् राम की प्रेम-गाथा के प्रकाशन का माध्यम बनी। फलत हिन्दुस्तान के आधे साहित्य की रचना के लिए इसका प्रयोग किया गया।

१. जनगणना मे पूर्वी हिन्दी के सभी बोलने वाले लोग पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत दिखाये गये है और वहाँ १३,९९,५२८ व्यक्ति पूर्वी हिन्दी भाषा भाषी बताये गये हैं। ऊपर जो सख्या दी गयी है, वह बहुत कुछ ठीक है।

पूर्वी हिन्दी की तीन विभाषाएँ—अवघी, बघेली तथा छत्तीसगढी—छै प्रदेशो—अवध, आगरा (उत्तर प्रदेश), बघेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, छोटा नागपुर तथा मध्य प्रान्त (मध्य प्रदेश) के कुछ भागों को अधिकृत किये हुए हैं। हरदोई जिले तथा फैजावाद के कुछ अग को छोड़कर समस्त अवध मे इसका विस्तार है। आगरा प्रान्त मे यह मोटे तौर पर बनारस से लेकर बुन्देलखण्ड के हमीरपुर जिले तक फैली हुई है। इसके अन्तर्गत समस्त बवेलखण्ड, उत्तर-पूर्वी बुन्देलखण्ड, मिर्जापुर मे सोन का पश्चिमी एव दक्षिणी क्षेत्र, चगभकार, सरगुजा, उदयपुर एव कोरिया रियासतें तथा छोटा नागपुर मे जशपुर रियासत का एक भाग आता है। मध्य प्रान्त (मध्य प्रदेश) मे यह जबलपुर तथा मडला जिलो एव छत्तीसगढ की सामन्तीय रियासतो के अधिकाश भाग मे प्रसरित है।

विभाषाएँ

पूर्वी हिन्दी की तीनो बोलियां एक दूसरी से अत्यधिक मिलती-जुलती हैं। वास्तव मे बघेली तथा अवधी मे इतना कम अन्तर है कि यदि पृथक् विभाषा के रूप मे बघेली का अस्तित्व जनता मे स्वीकृत न होता तो मैं इसे अवधी की ही एक वोली मानता। छत्तीसगढी पड़ोस की मराठी तथा उड़िया भाषाओ के प्रभाव के कारण पर्याप्त अन्तर प्रदर्शित करती है, किन्तु अवधी से इसका निकट सम्बन्ध स्पष्ट है।

अवधी और बघेली

अवधी-बघेली विभाषा उत्तर प्रदेश, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, चंगभकार तथा जबलपुर और मडला जिलो के पूर्वी हिन्दी के सम्पूर्ण क्षेत्र को अधिकृत कर लेती है। यह मध्य-प्रदेश के पूर्वी तथा पश्चिमी भाग की बिखरी जातियो द्वारा भी बोली जाती है। यदि हम अवधी और बघेली की सीमारेखा का निर्धारण करना चाहें तो इसे, जहाँ से यमुना नदी फतेहपुर और बाँदा जिले के बीच मे बहती है वहाँ से इलाहाबाद जिले की दक्षिणी सीमा तक मान सकते हैं। यह सीमा एक प्रकार से अनिश्चित ही है क्योंकि इन दोनो के बीच ऐसे विशेष तथ्य उपलब्ध नही हैं जिनके आधार पर इन्हें पृथक् किया जा सके।

छत्तीसगढ़ी

छत्तीसगढी, पूर्वी हिन्दी के शेष भाग को अधिकृत करती है। दूसरे शब्दो मे हम

यह कह सकते है कि उदयपुर, कोरिया तथा सरगुजा की रियासतें, जशपुर का एक भाग तथा छत्तीसगढ का अधिकाश भाग इसके अन्तर्गत आते है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूर्वी हिन्दी देश के उस विषम आयताकर भू-भाग मे फैली हुई है जो नेपाल से प्रारम्भ होकर (किन्तु उसे सम्मिलित न करते हुए) मध्य प्रदेश की वस्तर रियासत तक, पूर्व से पश्चिम की अपेक्षा अधिकाशत उत्तर से दक्षिणी की ओर प्रसरित है। मोटे तौर पर इसकी औसत लम्वाई ७५० मील तथा चौडाई २५० मील एव क्षेत्रफल १, ८७,५०० वर्गमील है। इसके वोलनेवालो की सख्या ब्राजील, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया की सयुक्त जनसख्या अथवा सयुक्त प्रान्त आगरा व अवध (अब उत्तर प्रदेश) की जनसख्या के वरावर है।

प्रमुख क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य स्थानो की भाषा के रूप मे

लखनऊ दरवार की भाषा का गौरव वहन करने के कारण अवधी अव उत्तर प्रदेग के पूर्व के आधे भाग तथा विहार के अधिकाश भाग के मुसलमानो की भी भाषा हो गयी है, यद्यपि विहार के इस क्षेत्र के हिन्दुओ की भाषा विहारी है। यह कहना कठिन है कि इनमे से कितने मुसलमान अवधी का प्रयोग करते हैं, किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अनुमानत यह सख्या दस लाख के लगभग होगी।

देशान्तर-स्थित अवधी-भाषी

पूर्वी हिन्दी-भाषियो की एक वहुत वडी सख्या उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे विखरी पडी है। अवधवासियो की एक वडी सख्या को, जो नौकरी की खोज मे वाहर गये हुए है, यदि छोड भी दें तो इस प्रदेश के वहुत से लोग हमारी (अग्रेजी) सेना के सिपाही के रूप मे मिलेंगे।

भाषागत सीमाएँ

पूर्वी हिन्दी उतर मे नेपाल-हिमालय की भाषाओ तथा पश्चिम मे, पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न वोलियो से आवृत है जिनमे कनौजी तथा वुन्देली मुख्य है। इसके पूर्व मे विहारी की भोजपुरी एव उडिया भाषा का क्षेत्र हे और दक्षिण मे यह मराठी से घिरी हुई है।

बाहरी तथा भीतरी उपशाखा की भाषाओं मे पूर्वी हिन्दी का स्थान

यदि हम इस विषय मे पूर्णरूप से गवेषणा करें कि पूर्वी हिन्दी का उसके पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओ से क्या सम्बन्ध है, तो इसके लिए बहुत स्थान की आवश्यकता होगी। उच्चारण के सम्बन्ध मे यह पश्चिमी भाषाओ की मुख्य विशेषताओ का अनुसरण करती है किन्तु सज्ञा के रूपो (यद्यपि इसकी अपनी विशिष्टताएँ भी हैं) के सम्बन्ध मे यह प्रमुख रूप से बिहारी का अनुसरण करती है। इसी प्रकार सर्वनाम के रूपो मे भी यह पूर्वीय भाषाओ का अनुगमन करती है। उदाहरणार्थ इसके उत्तम-पुरुष सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम का रूप "मोर" है न कि "मेरा"। क्रिया के रूपो मे यह विशुद्ध मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण करती है। हम यह देख चुके हैं कि पूर्वीय भाषाओ का इस सम्बन्ध मे विशेष लक्षग यह है कि ये अतीत काल मे ल-प्रत्ययान्त होती हैं तथा इनमे आवश्यकतानुसार विभिन्न पुरुषो के सर्वनामो के लघुरूप भी सयुक्त हो जाते है। पूर्वी हिन्दी मे ल-कृदन्तीय रूपो का प्रयोग नही होता किन्तु बिहारी भाषा के पुरुषवाची सर्वनामो के लघु रूप इसमे सयुक्त हो जाते है। उदाहरणार्थ पश्चिमी हिन्दी के अतीत काल के कृदन्त का रूप है "मारा", जो "मारिआ" का सक्षिप्त रूप है किन्तु इसका बिहारी रूप है "मारिल"। पश्चिमी हिन्दी के 'मारा' पद मे कोई प्रत्यय नही है। बिहारी मे इसका रूप है "मारिलस" जिसमे "स" वस्तुत प्रत्यय है और इससे तात्पर्य है, 'वह" (अथवा यथार्थ मे 'उसके द्वारा')। पूर्वी हिन्दी पश्चिमी हिन्दी के 'मारिआ' रूप को ग्रहण करके उसमे बिहारी के 'स'-प्रत्यय को सयुक्त करती है और तब इसमे 'मारिअ-स' रूप सिद्ध होता है किन्तु प्राय यह 'मारिस' रूप मे उच्चरित होता है। भविष्यत् काल मे तो इनमे और भी अधिक सम्मिश्रण हुआ है। इसका (पूर्वी हिन्दी का) उत्तम-पुरुष तो पूर्वी भाषाओ का अनुसरण करता है और अन्य पुरुष पश्चिमी भाषाओ का। मध्यमपुरुष इन दोनो के बीच डॉवाडोल स्थिति मे रहता है। इस प्रकार "मैं मारूँगा" को पूर्वी हिन्दी मे "मारबो" कहा जायगा किन्तु "वह मारेगा" को पश्चिमी हिन्दी मे "मारिहै" कहा जायगा। इस तरह हम देखते है कि पूर्वी हिन्दी की स्थिति मध्य-देशीय एव पूर्वी भाषाओ के बीच की है। इसकी यह स्थिति ठीक अर्ध-मागधी की ही भाँति है जिससे यह उद्भूत हुई है।

अवधी साहित्य

मलिक मुहम्मद

पूर्वी हिन्दी की दो विभाषाओ—अवधी तथा बघेली मे प्रचुर साहित्य उपलब्ध

है। इनमे से अवधी साहित्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसके प्रारम्भिक लेखको मे सबसे अधिक उल्लेखनीय जायस के एक मुसलमान, मलिक मुहम्मद (सन् १५४०ई०) थे जिन्होने प्रसिद्ध दार्शनिक महाकाव्य 'पद्मावती' की रचना की थी। इस ग्रथ मे उत्कृष्ट काव्य के माध्यम से परम सुन्दरी पद्मावती की प्राप्ति के लिए रतनसेन के प्रयास, अविजित चित्तौड़ पर अलाउद्दीन के भयानक आक्रमण, रतनसेन की वीरता तथा विजयी तातार से प्रतिष्ठा एव सतीत्व की रक्षा के लिए पद्मावती के प्राणोत्सर्ग का वर्णन है। इसके साथ ही 'पद्मावत' एक रूपक भी है जिसमे आत्मा को विशुद्ध ज्ञान-तत्त्व की खोज मे सलग्न दिखाया गया है और इस मार्ग मे मानव को विचलित करनेवाले जो लोभ-मोह आदि आते है उनका भी चित्रण किया गया है। मलिक मुहम्मद के जीवन का आदर्श बहुत ऊँचा था और इस मुसलमान सन्त के ग्रन्थ मे उसके देशवासी हिन्दुओ के उच्च प्रेम, सहानुभूति एव प्रेरणाओ के दर्शन होते हैं, जो उस समय अन्धकार मे प्रकाश टटोल रहे थे और जिसकी उन्हें कभी-कभी झलक भर मिल जाती थी।

तुलसीदास

इसके अर्ध शताब्दी के अनन्तर कवि एव सुधारक गो० तुलसीदास (मृत्यु सन् १६२३ ई०) हुए। आप अग्रेजी के कवि शेक्सपियर के समकालीन थे। तुलसीदास अद्‌भुत व्यक्ति थे और आज भी उनका जितना प्रभाव है, यदि उसे दृष्टि मे रखते हुए हम विचार करे तो निश्चित रूप से उनकी गणना उन आधे दर्जन लेखको मे होगी जिन्हें एशिया ने उत्पन्न किया है। ऐसे महान् लेखक के सम्बन्ध मे कुछ अधिक कहना ही उचित होगा। यूरोप के लोग गोस्वामीजी को केवल रामकथा के लेखक के रूप मे जानते है किन्तु वे इससे कही महान् थे। वस्तुत रामकथा के गायको मे उनका स्थान अन्यतम है। गगा-यमुना के दोआब मे निवास करनेवाले अनेक कृष्णभक्त कवियो के विपरीत वे काशी मे रहते थे और वहाँ कीर्ति अर्जित करके अपने लिए अद्वितीय स्थान बना लिया था। उनके अनेक शिष्य थे—आज भी इनकी सख्या लाखो है किन्तु उनका अनुकरण करनेवाला कोई नही है। आज जब हम शताब्दियो पीछे की ओर दृष्टिपात करते है तो उनके महान् व्यक्तित्व को अपनी ही ज्योति से प्रकाशित भारत के त्राणकर्ता एव पथ-प्रदर्शक के रूप मे पाते है। उनका प्रभाव कभी कम नही हुआ अपितु बढता ही गया। जब हम तत्रग्रस्त बगाल के भाग्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते है अथवा कृष्ण-पूजा के नाम पर होनेवाले विलासपूर्ण कृत्यो पर दृष्टिपात करते

हैं तब हम तुलसीदासजी के महत्व का मूल्याकन कर पाते है, जिन्होंने उत्तर भारत मे सर्वप्रथम ससार के पापो की जघन्यता एव भगवान् की अनन्त दया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था—

'चाहे कोई छोटा हो या बडा, जो भगवान् से पूर्ण प्रेम करता है वही पूर्ण प्रार्थना भी करता है।' किन्तु गोस्वामीजी ने इस आदर्शमय धर्म का केवल उपदेश ही नही दिया अपितु जनता द्वारा इसे स्वीकृत कराने मे भी उन्हे सफलता मिली। उन्होने कोई सम्प्रदाय नही चलाया और न कोई धार्मिक सिद्धान्त ही स्थिर किये तथापि उनका महान् ग्रथ नौ करोड व्यक्तियो के लिए वैसा ही आदरणीय एव मान्य है जैसी ईसाइयो के लिए बाइबिल और यह उन लोगो के लिए सौभाग्य की बात है कि ऐसे ग्रथ का उन्हे पथप्रदर्शन प्राप्त है। जनता के लिए रामचरितमानस आदर्श सिद्ध ग्रथ है। इसका प्रभाव केवल बहुसख्यक अशिक्षित लोगो पर ही नही पडा है किन्तु उनके अनुगामी अनेक ग्रथकर्ताओ पर भी स्पष्ट है और विगत शताब्दी के आरम्भ से मुद्रणकला के आविर्भाव के साथ-साथ तो इनकी सख्या मे विशेष रूप से अभिवृद्धि हुई है। रामायण के अग्रेजी अनुवाद की भूमिका मे श्री ग्राउज़ महोदय लिखते हैं—"दरबार से लेकर झोपड़े तक प्रत्येक व्यक्ति के हाथ मे यह ग्रथ मिलता है और हिन्दू जाति के प्रत्येक वर्ग ने चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो या वृद्ध, इसे पढा, सुना और एक स्वर से इसकी प्रशसा की है।" वास्तव मे भारत के इतिहास मे तुलसीदास के महत्व का मूल्याकन करना सरल नही है। यदि थोडी देर के लिए मानस के साहित्यिक महत्व पर हम विचार न भी करे तो भी उसकी सार्वभौम स्वीकृति के सम्बन्ध मे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना पडेगा कि भागलपुर से पजाब तथा हिमालय से नर्मदा तक इसका प्रचार एव प्रसार है। आज से आधी शताब्दी पूर्व मुझसे एक वृद्ध पादरी ने कहा था कि उत्तर भारत के लोगो (की सस्कृति) को तब तक भलीभाँति नही समझा जा सकता जब तक तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है उसकी प्रत्येक पक्ति को हृदयगम न कर लिया जाय। अब मैं अनुभव कर रहा हूँ कि उस व्यक्ति का कथन कितना सत्य था।

भारत के साहित्य के इतिहास मे गोस्वामीजी ने जो महान् स्थान प्राप्त किया उसका यह परिणाम हुआ कि उनके द्वारा व्यवहृत अवधी, उनके बाद से, उत्तर भारत मे एक विशेष प्रकार की काव्य-रचना के लिए एक मात्र भाषा स्वीकृत हो गयी। पिछली तीन शताब्दियो मे भारतीय काव्य-साहित्य के लिए राम अथवा कृष्ण की कथाएँ ही वस्तुत प्रेरणा का स्रोत रही हैं। कृष्ण के आरम्भिक जीवन की लीला-

भूमि होने का सौभाग्य गगा-यमुना के बीच के दोआव तथा उसके दक्षिण-स्थित मथुरा जिले को प्राप्त है और उनकी लीलाओ को अकित करने के लिए इस क्षेत्र की भाषा ब्रजभाखा अपनायी गयी है। किन्तु राम-साहित्य सम्बन्धी प्रभूत साहित्य-रचना के लिए अवधी का व्यवहार किया गया है। इतना ही नही, अवधी का प्रयोग इससे बहुत अधिक हुआ है और कृष्णकाव्य को छोडकर उत्तर भारत के शेष साहित्य के दस भागो मे से नौ भागो की रचना अवधी मे हुई है। उदाहरण-स्वरूप गत शताब्दी के आरम्भ मे काशीनरेश के लिए महाभारत जैसे बृहत् ग्रथ का अनुवाद अवधी मे प्रस्तुत किया गया था। इस बोली मे रचना करनेवालो की सख्या अधिक है और इसमे कई महत्त्वपूर्ण ग्रथ हैं।

बघेली साहित्य

अवधी के एक अन्य रूप बघेली मे भी प्रचुर साहित्य है। रीवाँ के राजाओ की सरक्षकता मे यहाँ बघेली के अनेक कवि हुए जिनकी रचनाओ की आज भी पर्याप्त ख्याति है। ये अच्छे विद्वान् थे तथा इन्होने रीति-ग्रथो की रचना की। इन ग्रथो से काव्यालोचन-सम्बन्धी उनके सूक्ष्म तत्वो का विकास हुआ किन्तु इनके रचयिता वास्तव मे स्वय काव्य-स्रष्टा न थे।

पंद्रहवाँ अध्याय

भारतीय आर्य-भाषाएँ—भीतरी उपशाखा

अब हम भीतरी उपशाखा की भाषाओ पर विचार करेगे। इस उपशाखा की भाषाएँ दो समुदायो—केन्द्रीय तथा पहाडी—मे विभाजित हैं। केन्द्रीय समुदाय के अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी, पजाबी, राजस्थानी, गुजराती, भीली तथा खानदेशी आती हैं।

भीतरी उपशाखा	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
केन्द्रीय समुदाय	८,१६,६५,८२१	८,१७,४५,९५५
पहाडी समुदाय	२१,०४,८०१	१९,१७,५३७
योग	८,३७,७०,६२२	८,३६,६३,४९२

केन्द्रीय समुदाय	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पश्चिमी हिन्दी	३,८०,१३,९२८	४,१२,१०,९१६[1]
पजाबी	१,२७,६२,६३९	१,६२,३३,५९६[2]
राजस्थानी	१,६२,९८,२६०	१,२६,८०,५६२
गुजराती	१,०६,४६,२२७	९५,५१,९९२
भीली	२६,९१,७०१	१८,५५,६१७
खानदेशी	१२,५३,०६६	२,१३,२७२
योग	८,१६,६५,८२१	८,१७,४५,९५५

१. पृष्ठ ३०९ की पाद-टिप्पणी देखो।

२. जनगणना मे पंजाबी के अन्तर्गत अनेक लहँदा भाषी भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिन्दी पजाब-स्थित सरहिन्द तथा उत्तर प्रदेश-स्थित इलाहाबाद के मध्यवर्ती क्षेत्र की भाषा है। वस्तुत यह भू-भाग प्राचीन काल का मध्य देश है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।[1] यही भारतीय आर्यों की पवित्र जन्मभूमि भी है। इसी भूभाग से होकर भारत के पौराणिक युग की रहस्यपूर्ण नदी, सरस्वती अदृश्य रूप से प्रवाहित होती है और पूर्वी पजाब के बालुकामय प्रदेश मे विलीन होकर, प्रयाग मे गगा-यमुना से मिलकर त्रिवेणी का निर्माण करती है। उत्तर मे पश्चिमी हिन्दी हिमालय की तराई तक विस्तृत है, किन्तु दक्षिण मे यह पूर्व दिशा के अतिरिक्त, जहाँ यह बुन्देलखण्ड के अधिकाश भाग तथा मध्यप्रदेश के कुछ भाग को आवृत करती

पश्चिमी हिन्दी	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
हिन्दुस्तानी	१,६६,३३,१६९	
बाँगरू	१,६५,७८४	
ब्रजभाखा	७८,६४,२७४	
कनौजी	४४,८१,५००	
बुन्देली	६८,६९,२०१	
योग	३,८०,१३,९२८	४,१२,१०,९१६

है, यमुना के काँठे से अधिक दूर तक नही जाती। इसके बोलनेवालो की सख्या तीन करोड अस्सी लाख है जो प्राय इटली के बराबर तथा इग्लैण्ड की जनसख्या से चालीस लाख अधिक है। इसकी कई स्वीकृत बोलियाँ हैं जिनमे हिन्दुस्तानी, ब्रजभाखा, कनौजी तथा बुन्देली प्रमुख हैं। इसमे दक्षिण-पूर्वी पजाब की भाषा बाँगरू को भी सम्मिलित किया जा सकता है। इनमे से हिन्दुस्तानी अब साहित्य की भाषा बनती जा रही है, अतएव इस पर सबसे बाद मे विचार करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

१. देखो, पृष्ठ २२९।

ब्रजभाखा

ब्रजभाखा का मुख्य क्षेत्र केन्द्रीय दोआब तथा इससे सटे हुए दिल्ली के दक्षिणी भाग से लेकर इटावा तक का प्रदेश है। इसका मुख्य केन्द्र मथुरा शहर के चारो ओर है। यमुना के दक्षिण तथा पश्चिम मे यह गुडगाँव, भरतपुर तथा करौली राज्य एव ग्वालियर राज्य के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र मे बोली जाती है। पश्चिम और दक्षिण मे यह धीरे-धीरे राजस्थानी मे अन्तर्भुक्त हो जाती है। प्राय. दो सहस्र वर्षो से अधिक समय तक मथुरा क्षेत्र भारतीय आर्य-सभ्यता का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। परम्परा के अनुसार भगवान् कृष्ण ने अपने आरम्भिक जीवन की लीला यहीं विस्तारित की थी। इस प्रकार यह स्वाभाविक था कि इस प्रदेश की भाषा, जो सीधे शौरसेनी प्राकृत से उद्भूत है, साहित्य के लिए प्रयुक्त की जाती। सस्कृत नाटको मे उच्चवर्गीय नारी पात्रो की साधारण वार्ता इस शौरसेनी प्राकृत मे ही मिलती है तथा दिगम्बर जैन लोगो ने इसी के एक रूप का अपने धार्मिक ग्रथो मे प्रयोग किया है। प्राचीन काल मे शूरसेन देश का एक भाग 'व्रज' अर्थात् गोचरभूमि के नाम से विख्यात था। इसी से आधुनिक ब्रज शब्द की उत्पत्ति हुई, जिसके नाम पर इसकी भाषा का "ब्रजभाखा" नामकरण किया गया। आधुनिक भाषा के अत्यधिक प्रसिद्ध लेखक अन्ध-कवि सूरदास थे जिनकी कविता का उत्कर्षकाल सोलहवी शताब्दी का मध्य भाग था। जिस प्रकार तुलसीदास ने रामकथा का गान किया उसी प्रकार सूरदास ने कृष्ण-कथा का गान किया था। भारतीय विचारधारा के अनुसार इन दोनो ने ही काव्य-कला को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि अन्य सामान्य कवियो ने एक भी ऐसी पक्ति नही लिखी जो इन कवि-गुरुओ मे से किसी एक की रचना मे न मिलती हो। यूरोपीय विद्वानो के अनुसार इन दोनो मे बहुत थोडी समानता है। सूरदास ने प्रभूत परिमाण मे रचना की। उन्होने केवल एक ही स्वर मे गाया और निस्सन्देह वह बहुत मधुर था। किन्तु तुलसी सुधारक एव महात्मा थे। उन्होंने न तो किसी सम्प्रदाय की स्थापना की और न किसी निर्धारित विश्वास को मानने के लिए ही उपदेश दिया। वे प्राय समस्त मानवीय भावनाओ के कुशल गायक थे। सूर केवल एक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक ही न थे वरन् वे एक ऐसी कवि-परम्परा के स्रष्टा भी थे जिसका मुख्य वर्ण्य-विषय कृष्ण की यौवनलीला अथवा गोपीकृष्ण की लीला था। यह परम्परा आज भी चल रही है और इसके कवि ब्रजभाखा के माध्यम से ही अपने भावो की अभिव्यक्ति करते है। इनके अनुगमन करनेवालो मे सबसे प्रसिद्ध

बिहारीलाल हुए जिनका समय सत्रहवी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है तथा जिनकी 'सतसई' विख्यात है।

कनौजी

कनौजी, निचले दोआब के प्राय इटावा जिले से लेकर इलाहाबाद के निकटवर्ती प्रदेश तक की बोली है। कनौज के प्राचीन शहर के दूसरी ओर, जिससे इसने अपना नाम ग्रहण किया है, यह गगा को पार कर हरदोई जिले के और उत्तर के भूमि-भाग तक प्रसरित है। व्रजभाखा से इसका बहुत निकट का सम्बन्ध है और वास्तव मे यह उसकी उप-भाषा जैसी ही है। अपनी पडोसी भाषा (व्रज) के अत्यधिक आधिपत्य मे होने के कारण इसमे बहुत कम साहित्य-रचना हुई है, किन्तु विगत शताब्दी के आरम्भ मे सिरामपुर के मिशनरी लोगो ने इसमे बाइबिल (न्यू-टेस्टामेंट) का अनुवाद किया था। यदि हम इस अनुवाद को प्रामाणिक मान ले तो आधुनिक कनौजी से व्याकरण सम्बन्धी ऐसे अनेक रूप लुप्त हो गये है जो एक शताब्दी पूर्व उसमे वर्तमान थे और जो आज भी राजस्थान की कुछ बोलियो तथा नेपाल की खस बोली मे उपलब्ध है।

बुन्देली

बुन्देली पश्चिमी हिन्दी की बोली है। यह बुन्देलखण्ड तथा उसके समीपस्थ प्रदेशो मे बोली जाती है। इसमे न केवल बुन्देलखण्ड एजेन्सी ही सम्मिलित है वरन् इसके अन्तर्गत जालौन, हमीरपुर, झाँसी तथा ग्वालियर राज्य का पूर्वी भाग भी आ जाता है। यह भूपाल तथा दमोह के समीपवर्ती क्षेत्रो, सागर, सिवनी, नरसिंहपुर तथा मध्यप्रदेश के होशगाबाद एव छिन्दवाडा जिलो के कुछ भागो मे भी बोली जाती है। बाँदा, यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत ही आता हे किन्तु यहाँ बुन्देली नही बोली ज..।। यहाँ मिश्रित बाली का व्यवहार होता है किन्तु मुख्यतया वह बघेली ही है। बुन्देली मे थोडा साहित्य भी है। इसका आरम्भ छत्रसाल तथा उनके थोडे ही समय पूर्व के पूर्वजो के समय, अठारवी शताब्दी के प्रथम चरण से होता है। सिरामपुर के मिशनरियो ने इसमे भी बाइबिल (न्यू-टेस्टामेट) का अनुवाद किया था। महोबा नगर बुन्देलखण्ड मे ही हे। इसके वैभव तथा इस पर पृथ्वीराज के आक्रमण एव आल्हा-ऊदल की वीरता का वर्णन 'आल्ह-खण्ड" नामक लोक-

गाथा मे उपलब्ध है। बुन्देली मे लिखित इस गाथा को उत्तर भारत के चारण चारो ओर गाते फिरते हैं।

ये तीनो विभाषाएँ—व्रजभाखा, कनौजी तथा बुन्देली—परस्पर बहुत निकट हैं और भीतरी उपशाखा की भाषा के विशिष्ट एव विशुद्ध रूप है।

बाँगरू

पजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग मे वोली जानेवाली पश्चिमी हिन्दी के अनेक स्थानीय नाम है, किन्तु सर्वत्र इसका रूप एक ही है। हरियाना प्रदेश के हिसार एव जीद क्षेत्रो मे यह यूरोपीय विद्वानो द्वारा 'हरियानी' नाम से अभिहित की जाती है। भाषा के इसी रूप को रोहतक, दुजन तथा दिल्ली एव कर्नाल के आसपास के क्षेत्रो मे हिन्दी कहा जाता है। इस प्रदेश के निवासी जाति अथवा क्षेत्र के अनुसार इसे कभी 'जाटू' अथवा कभी बाँगरू कहते है। गगा के पश्चिम, दक्षिण-पश्चिमी पजाब के ऊँचे तथा सूखे बाँगर प्रदेश की भाषा का यह बाँगरू नाम बहुत ही उपयुक्त है और आगे यह इसी नाम से अभिहित की जायगी। पश्चिमी हिन्दी की इस बोली के उत्तर तथा पश्चिम मे पजाबी और दक्षिण मे अहीरवाटी और मारवाडी (दोनो राजस्थानी की विभाषाएँ) है। बाँगरू मे इन तीनो बोलियो का सम्मिश्रण मिलता है, यद्यपि इसका आधार पश्चिमी हिन्दी ही है। उत्तर मे इसका विस्तार-क्षेत्र कर्नाल से आगे नही है। कर्नाल के उत्तर मे स्थित अम्बाला जिले के पश्चिम मे बोली जानेवाली पश्चिमी हिन्दी का रूप प्राय ऊपरी दोआब मे व्यवहृत 'हिन्दुस्तानी' के अनुरूप ही है। इसका वर्णन आगे किया जायगा। पश्चिमी अम्बाला मे पजावी बोली जाती है।

हिन्दुस्तानी

स्थानीय बोली के रूप मे हिन्दुस्तानी पश्चिमी हिन्दी की विभाषा है जो धीरे-धीरे पजावी मे अन्तर्भुक्त होती जाती है। इसका व्याकरण तो पश्चिमी हिन्दी का है किन्तु इसके प्रत्यय पजावी के हैं। पश्चिमी हिन्दी के वास्तविक सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग—"कौ" है जिसका पजावी रूप—"दा" है। पश्चिमी हिन्दी की विभाषा हिन्दुस्तानी ने "कौ" से "क्" और पजावी के "दा" से "आ" ग्रहण करके "का" अनुसर्ग का निर्माण किया है। इसी प्रकार इसके विशेषण तथा कृदन्त-पदो का भी निर्माण हुआ है।

स्थानीय बोली के रूप मे

हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोणो से विचार करना आवश्यक है—(१) पश्चिमी हिन्दी की स्थानीय बोली के रूप मे, (२) हिन्दुस्तान की विख्यात साहित्यिक भाषा तथा सम्पूर्ण भारत मे प्रचलित भाषा (अन्तर्प्रान्तीय भाषा) के रूप मे। स्थानीय बोली के रूप मे इसे गगा के ऊपरी दोआब, रुहेलखण्ड तथा पजाब के अम्बाला ज़िले के पूर्व मे बोली जानेवाली पश्चिमी हिन्दी की विभाषा माना जा सकता है। रुहेलखण्ड मे यह धीरे-धीरे कनौजी तथा अम्बाला मे पजाबी मे अन्तर्भुक्त हो जाती है। गुड़गाँव को छोडकर, जहाँ हिन्दुस्तानी का ब्रजभाखा मे अन्तर्भाव हो जाता है, शेष पूर्वी पजाब की भाषा बाँगरू है। गुडगाँव के पूर्व मे तो वस्तुत ब्रजभाखा प्रतिष्ठापित है। इसके निकटस्थ प्रदेशो की भाषा का रूप, केवल कुछ साधारण बातो को छोड़कर, प्राय वही है जो हिन्दुस्तानी-व्याकरण मे उपलब्ध है।[1] किन्तु वास्तव मे हिन्दुस्तानी की प्रतिष्ठा ऊपरी दोआब की स्थानीय बोली के रूप मे उतनी नही है।

साहित्यिक तथा अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप मे

यूरोपवालो के लिए यह सामान्यत सम्पूर्ण भारत की और विशेष रूप से हिन्दुस्तान की शिष्ट भाषा है। स्वय इसका नाम भी यूरोपवालो की ही देन है, साथ ही

१. यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि यहाँ हिन्दुस्तानी तथा उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया गया है वह बहुत से लेखको द्वारा दिये गये विवरण से अत्यधिक भिन्न है। बात यह है कि इस सम्बन्ध में इन लेखकों का आधार 'मीर अम्मन कृत' बागो बहार की भूमिका है। मीर अम्मन के अनुसार उर्दू एक प्रकार की मिश्रित भाषा है, और इसकी उत्पत्ति दिल्ली बाजार मे विभिन्न जातियो के मिलने से हुई है।

ऊपर उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, वह सर्वप्रथम सन् १८८० में सर चार्ल्स लायल (Sir Charles Lyall) द्वारा प्रस्तुत किया गया था और भाषा-सर्वेक्षण ने यह सिद्ध कर दिया है कि श्री लायल का विचार इस सम्बन्ध मे पूर्णतः ठीक था। वास्तव मे हिन्दुस्तानी ऊपर दोआब की बोल-चाल की भाषा है और इसी पर साहित्यिक पालिश चढ़ायी गयी है और इसके साथ ही साथ इनमे से कुछ ग्रामीण मुहावरे निकाल भी दिये गये हैं।

यह इस बात की ओर सकेत भी करता है कि यह नाम केवल प्रस्ताव मात्र ही है। जो लोग यूरोप के लोगो के प्रभाव मे है, उनके अतिरिक्त अन्य भारतीय इस नाम का बहुत कम प्रयोग भी करते है। अन्तर्प्रान्तीय भाषा[1] के रूप मे हिन्दुस्तानी दिल्ली दरबार से सपृक्त बाजार से उद्भूत होकर, मुगल साम्राज्य के सेनानायको द्वारा भारतवर्ष मे चारो ओर फैलायी गयी। तब से इसका स्थान सुरक्षित है। इसके अनेक भेद है जिनमे उर्दू, रेख्ता, दक्खिनी तथा हिन्दी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उर्दू

उर्दू हिन्दुस्तानी का वह रूप है जो फारसी लिपि मे लिखा जाता है तथा जिसमे फारसी-अरबी शब्द स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहृत होते हैं। 'उर्दू' शब्द की उत्पत्ति 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा दिल्ली के किले की शाही छावनी से बतलायी जाती है। प्रधान रूप से यह पश्चिमी हिन्दुस्तान के शहरो मे, मुसलमानो तथा फारसी सस्कृति से प्रभावित हिन्दुओ द्वारा बोली जाती है। यह सत्य है कि हिन्दुस्तानी की प्रत्येक शैली मे कुछ न कुछ फारसी शब्दो का व्यवहार होता है। यहाँ तक कि ये (फारसी-शब्द) पृथ्वीराज के पत्र व्यवहार तक मे मिलते हैं जो तुर्कों के भारत-विजय के पूर्व दिल्ली के शासक थे। फारसी के कई शब्द तो ग्रामीण बोलियो तक पहुँच गये हैं और काशी के हरिश्चन्द्र जैसे आधुनिक हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक तक ने इनका व्यवहार किया है। ऐसे (फारसी) शब्दो को बहिष्कृत करके भाषा को शुद्ध बनाना वैसा ही होगा जैसे अग्रेजी से लैटिन शब्दो का बहिष्कार करना होगा। किन्तु उच्च-उर्दू मे फारसी शब्दो का व्यवहार अत्यधिक मात्रा मे हुआ है। इस स्तर की रचनाओं मे, सम्पूर्ण वाक्य मे, केवल व्याकरण मात्र तो भारतीय रहता है अन्यथा आदि से अन्त तक सभी शब्द फारसी के रहते हैं। जैसा कि सर चार्ल्स लायल ने ठीक ही लिखा है, यह विचित्र

१ किसी उपयुक्त शब्द के अभाव मे ही यहाँ पर मैंने यह शब्द (Lingua Franca) का प्रयोग किया है; यद्यपि यह बहुत उपयुक्त नहीं है। वास्तव मे लिंगुआ फ्रैंका एक मिश्रित भाषा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप मे व्यवहृत होती है। परन्तु यद्यपि हिन्दुस्तानी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप मे व्यवहृत होती है, तथापि यह मिश्रित भाषा नहीं है। इस विचार को प्रकट करने के लिए मेरे पास अंग्रेजी मे कोई अन्य शब्द नहीं है।

बात है कि हिन्दुस्तानी मे फारसी की यह अतिशय बहुलता उन विजेताओ के कारण नही हुई है जो यहाँ की जनता की भाषा से अपरिचित थे। इसके विपरीत उर्दू की उन्नति का श्रेय उन सहज स्वभाववाले हिन्दुओ को है जो अपने शासको की भाषा को ग्रहण करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते है। इसके प्रणेता वस्तुत शासन मे नियुक्त और फारसी से परिचित कायस्थ तथा खत्री थे, ईरान के लोग अथवा फारसी से प्रभावित तुर्क लोग नही, जो कई शताब्दियो तक साहित्यिक कार्यो के लिए अपनी ही भाषा का व्यवहार करते थे।[1] इसका एक परिणाम यह हुआ कि उनकी बोलचाल की भाषा को लिखने के लिए फारसी लिपि व्यवहृत होने लगी और इसके फलस्वरूप फारसी शब्दो का भी अधिक व्यवहार होने लगा जिन्हे लिखने मे यह लिपि अधिक अभ्यस्त थी। "फारसी अब भारत के लिए विदेशी भाषा नही है। यद्यपि इसका अत्यधिक प्रयोग रुचिकर नही है तथापि हिन्दू (हिन्दी ?) साहित्य से इसे बहिष्कृत करने का प्रयास (जैसा कि कुछ लोगो ने किया है) मूर्खतापूर्ण तथा राजनीतिक भूल होगी।" मैंने यह उद्धरण सर चार्ल्स लायल की पुस्तक[2] से केवल यह प्रदर्शित करने के लिए दिया है कि एक प्रतिष्ठित विद्वान् एक विवादग्रस्त प्रश्न के एक पक्ष पर किस प्रकार अपना विचार प्रकट करता है। उसने जिस सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन

१. इसी प्रकार से अंग्रेजी भी भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त हो रही है। एक घोड़ा डाक्टर ने कुत्ते द्वारा अपने घाव के चाटे जाने के सम्बन्ध में मुझसे कहा: "कुत्ते का सैलिवा बहुत एन्टीसेप्टिक है Kutte ka saliva bahut antiseptic hai" इसी प्रकार डा० ग्राहम बेली (Grahame Bailey) ने एक पंजाबी दाँत के डाक्टर को अपने को डाक्टर के दाँत निकालने मे व्यस्त देखकर कहते सुना "कन्टिनुअली इक्सकवेट न करो, Continually excavate na karo" सन् १९११ की यू० पी० की जनगणना के पृष्ठ २८४ मे एक वकील के वाक्य इस रूप मे उद्धृत किये गये हैं "इस पोजीशन का इनकन्ट्रोवर्टिबुल प्रूफ दे सकता हूँ। और मेरा ओपिनियन यह है कि डिफेन्स का आर्गूमेन्ट वाटर होल्ड नहीं कर सकता है।" Is position ka incontrovertible proof de sakata hun aur mera opinion yeh hai ki defence ka argument water hold nahi kar sakata hai

२. Sketch of the Hindustani language [Edinburgh 1880 p.9]

किया है, वह ठीक है और मेरा विचार है कि इसका कोई विरोध भी नहीं करेगा। हिन्दुस्तानी मे जब कोई शब्द घरेलू बनकर मान्यता प्राप्त कर लेता है तब किसी को भी उसके प्रयोग पर आपत्ति करने का अधिकार नही है, चाहे उसका मूल स्रोत कुछ भी क्यो न हो। हाँ, लोगो के विचार इस सम्बन्ध मे अवश्य ही भिन्न हो सकते है कि किस शब्द को इस प्रकार की मान्यता प्राप्त हो चुकी है और किसे नही। अन्ततोगत्वा यह शैली का प्रश्न है और अग्रेजी की भाँति ही हिन्दुस्तानी की भी अनेक शैलियाँ हैं। मैं स्वय उस हिन्दुस्तानी का पक्षपाती हूँ जिसमे सन्देहात्मक शब्दो को स्थान नही दिया जाता, किन्तु मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि वास्तव मे यह रुचि का प्रश्न है।

रेख़्ता, रेख़्ती

रेख़्ता (विकीर्ण अथवा मिश्रित) उर्दू का वह रूप है जो पुरुषो द्वारा कविता मे व्यवहृत होता है। यह नाम रचना की उस शैली से ग्रहण किया गया है जिसमे फारसी शब्द बिखरे रूप मे प्रयुक्त होते हैं। जब उस विशेष बोली मे कविता की रचना की जाती है जो स्त्रियो मे प्रचलित है तथा जिसका शब्द-समूह भी उन्ही का होता है तो उसे रेख़्ती नाम से अभिहित किया जाता है।

दक्खिनी

दक्खिनी हिन्दुस्तानी का वह रूप है जिसका प्रयोग दक्षिण (डेकेन) मे रहनेवाले मुसलमान करते हैं। उर्दू की भाँति यह भी फारसी लिपि मे ही लिखी जाती है, किन्तु यह फारसी शब्दो से बहुत-कुछ मुक्त है। इसमे हिन्दी व्याकरण के कई ऐसे रूप (जैसे "मुझको" के लिए "मेरे को") सुरक्षित हैं जो उत्तर भारत के ग्रामीण लोगो मे प्रचलित है किन्तु जो साहित्यिक भाषा मे नही प्रयुक्त होते। इसकी कतिपय स्थानीय बोलियाँ भूतकालिक सकर्मक क्रिया के पूर्व, कर्ता कारक के अनुसर्ग—'ने' का व्यवहार नही करती जो वास्तव मे पश्चिमी हिन्दुस्तान की समस्त विभाषाओ का एक प्रमुख लक्षण है।[1]

१. मोटे तौर पर, बम्बई की दक्खिनी तथा सतपुड़ा के उत्तर की बोली में अनुसर्ग 'ने' का प्रयोग होता है; किन्तु यह प्रयोग मद्रास की दक्खिनी मे नहीं होता।

हिन्दी

हिन्दी शब्द का कई विभिन्न अर्थों मे प्रयोग किया जाता है। यह वस्तुत फारसी शब्द है, भारतीय नही। फारसी लेखको ने इसका प्रयोग हिन्द (भारत) के निवासियो के लिए, उन्हे हिन्दुओ अथवा मुसलमानेतर भारतीयो से पृथक् करने के लिए किया है। अमीर खुसरो लिखता है—"जो भी जीवित हिन्दू बादशाह के हाथो मे पडा उसे हाथी के पावो के नीचे कुचलवा दिया गया, किन्तु मुसलमान जो 'हिन्दी' थे, उनकी जिन्दगी बख्श दी गयी।"[1] इस अर्थ मे (और इस अर्थ मे इसका प्रयोग आज भी हिन्दुस्तान मे होता है) बँगला और मराठी भी उतनी ही हिन्दी है जितनी दोआब की भाषा (हिन्दी)। दूसरी ओर यूरोपीय लोग इस (हिन्दी) शब्द का दो परस्पर विरोधी अर्थों मे प्रयोग करते है। इनमे से एक अर्थ मे, हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है जिसका रूप सस्कृत-गर्भित अथवा फारसी-रहित होता है तथा जिसका प्रयोग हिन्दू लोग साहित्यिक भाषा के रूप मे करते हैं। इसके मुद्रण के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता है। दूसरे अर्थ मे, कभी-कभी हिन्दी का प्रयोग, साधारणत बगाल तथा पजाब के मध्य मे बोली जानेवाली समस्त ग्रामीण बोलियो के लिए किया जाता है। इन पृष्ठो मे, मैं 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार इनमे से केवल प्रथम अर्थ मे ही कर रहा हूँ। अतएव यह हिन्दी—कभी-कभी इसे 'उच्च हिन्दी' भी कहा जाता है—उन हिन्दुओ की साहित्यिक गद्य की भाषा है जो उर्दू का व्यवहार नही करते। यह हाल की ही भाषा है और इसका प्रचलन अग्रेजो के प्रभाव से विगत शताब्दी के प्रारम्भ मे हुआ था। उस समय तक, जब कोई भी हिन्दू गद्य लिखता था और वह उर्दू का प्रयोग नहीं करता था तो वह अपनी स्थानीय बोली, अवधी, बुन्देली, व्रजभाखा तथा वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी आदि का ही व्यवहार करता था। लल्लूलाल[2] ने डाक्टर गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रेमसागर' लिखकर इन सबमे बडा परिवर्तन उपस्थित कर दिया। जहाँ तक 'प्रेमसागर' के गद्यभाग का सम्बन्ध है,

१. इलियट, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया [Elliot, History of India, iii 539]

२ आधुनिक हिन्दी (गद्य) के प्रथम लेखक लल्लूलालजी नहीं थे। इनके कुछ ही दिन पूर्व सदल मिश्र तथा कतिपय अन्य लेखक भी हुए थे, किन्तु उनकी रचना आरभिक अवस्था की थी और हाल मे ही काशी के उन पुरातनवादियो ने उसे पुनर्जीवित किया है, जो गुजराती ब्राह्मण होने के कारण लल्लूलालजी से द्वेष करते हैं।

यह ग्रन्थ क्रियात्मक रूप मे उर्दू मे ही लिखा गया है, किन्तु इसके लेखक ने उन स्थानो मे जहाँ उर्दू-गद्य का लेखक फारसी शब्दो का प्रयोग करता भारतीय आर्यभाषा के शब्दो का प्रयोग किया है। लल्लूलाल का यह कार्य वस्तुत ऊपरी दोआब की वास्तविक भाषा की ओर, अपने-आप, प्रत्यावर्तित होने का था। यह नूतन प्रयोग वास्तव मे प्रारम्भ से ही सफल रहा। इस प्रथम ग्रन्थ मे वर्णित विषय ने समस्त धार्मिक हिन्दुओ का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और अरबी की भाँति लेखक की सगीतात्मक एव लयात्मक शैली ने उनके कर्ण-कुहरो को आनन्द से आप्लावित कर दिया। फिर इस भाषा ने एक अभाव की भी पूर्ति की। इसने हिन्दुओ को एक राष्ट्रभाषा प्रदान की। इसने दूरस्थ प्रदेशो मे रहनेवाले लोगो को उनके विचार व्यक्त करने के लिए एक ऐसी भाषा दी जिसमे मुसलमानो के अपावन शब्द न थे। यह सर्वत्र ही सहज बोधगम्य थी क्योकि यह वह भाषा थी जिसे प्रत्येक हिन्दू शासन से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यो मे प्रयुक्त करता था तथा जिसका शब्द-समूह उत्तरी भारत की समस्त भारतीय आर्यभाषाओ की सम्मिलित सम्पत्ति थी। इसके अतिरिक्त इसके पूर्व, टीका तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यो को छोडकर, किसी भी भारतीय भाषा मे बहुत ही कम गद्य लिखा गया था। तब तक सम्पूर्ण रूप से साहित्य की रचना केवल पद्यो तक ही सीमित थी। अतएव बगाल से लेकर पजाब तक, सम्पूर्ण हिन्दुस्तान ने प्रेमसागर की भाषा स्वाभाविक रूप से हिन्दू-गद्य का आदर्श बन गयी और आज तक इसने अपना स्थान उसी रूप मे अक्षुण्ण रखा है। आज उत्तर भारत का कोई हिन्दू जब गद्य लिखने बैठता है तो वह उर्दू अथवा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाषा मे लिखने का स्वप्न नही देखता, किन्तु जब वह पद्य-रचना करने बैठता है तब वह स्वभावत प्राचीन विभाषाओ, जैसे तुलसीदास की अवधी अथवा आगरे के अन्ध कवि सूर की ब्रजभाखा मे से किसी एक को अपनाता है। इधर साहित्यिक हिन्दी मे भी काव्य-रचना के कुछ प्रयत्न किये गए हैं किन्तु मेरे विचार मे ऐसे प्रयत्न अल्पमात्रा मे अनिश्चित कदाचित् ही सफल हो सकेंगे। भारत मे, परम्परा ने विशिष्ट भाषा मे काव्य-रचना की प्रवृत्ति की नीव दूर तक गहरी चली गयी है और यह पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी है। यह भाषा सर्वप्रिय है तथा यह सभी लोगो, यहाँ तक कि एक साधारण कृषक तक के लिए बोधगम्य है। जब तक तुलसीदास जैसे महान् कवि का प्रभाव रहेगा तब तक इसका प्रयोग समाप्त न होगा।

लल्लूलाल के समय से अब तक हिन्दी ने अपनी शैली से सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय ऐसे चिह्नो का विकास किया है जो उसे उर्दू से पृथक् कर देते है। इनमे से

मुख्य नियम शब्दो के क्रम के सम्बन्ध मे हैं जो उर्दू की अपेक्षा कम मुक्त हैं। इधर हाल ही से हिन्दी भी सस्कृत पडितो के हाथ मे, तथा सस्कृत के माध्यम से हिन्दी पढनेवाले कतिपय यूरोपीय लेखको के प्रोत्साहन के प्रभाव मे पडकर सस्कृत की जटिल शब्दावली मे फँस गयी है तथा साहित्यिक बँगला की भाँति ही पतनोन्मुख होने का परिचय दे रही है, यद्यपि इसके ऐसा होने का कोई कारण नही है। हिन्दी का अपना शब्द-समूह विशाल है। इसकी जडे उन ग्रामीण कृषको की भाषा मे हैं जिस पर यह आधारित है। अतएव आधुनिक हिन्दी पुस्तको मे जो सस्कृत के शब्द मिलते हैं उनमे से अधिकाश व्यर्थ एव दुर्बोध्य ग्रथियो के समान हैं। कुछ लोगो की धारणा है कि सस्कृत शब्दो के व्यवहार से शैली उत्कृष्ट हो जाती है। यह उसी प्रकार की बात है जैसे कोई अठारह वर्ष की सुन्दरी अपनी मातामही का बेलबूटेदार अधोवस्त्र पहनकर अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करे। कतिपय योग्य विद्वान्, स्वय इस प्रकार की विशुद्धता से अप्रभावित रहकर इस सहज ग्राह्य सक्रामक प्रवृत्ति के विरुद्ध सघर्ष कर रहे हैं और हमे आशा है कि वे अपने प्रयत्नो मे सफल होगे।

हिन्दुस्तानी, उर्दू तथा हिन्दी

हिन्दुस्तानी के तीन प्रधान रूपो की व्याख्या हम निम्नलिखित ढग से कर सकते है— हिन्दुस्तानी मुख्य रूप से उत्तरी दोआब की भाषा है, साथ ही यह भारत की राष्ट्रभाषा भी है। यह फारसी तथा नागरी, दोनो ही लिपियो मे लिखी जा सकती है तथा बिना किसी शुद्धि के ही, फारसी तथा सस्कृत शब्दो की अत्यधिक बहुलता को बचाते हुए साहित्य मे भी इसका प्रयोग हो सकता है। तब 'उर्दू' को हिन्दुस्तानी का वह रूप कहकर सीमित किया जा सकता है जिसमे फारसी शब्दो का प्रयोग पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है और इसीलिए इसे बडी सरलता से केवल फारसी लिपि मे ही लिखा जा सकता है। ठीक इसी भाँति 'हिन्दी' को हिन्दुस्तानी के उस रूप के अन्तर्गत सीमित किया जा सकता है जिसमे सस्कृत शब्दो की प्रचुरता रहती है और इसी कारण यह तभी बोधगम्य होती है जब यह नागरी लिपि मे लिखी जाती है। ये परिभाषाएँ स्वर्गीय श्री ग्राउस द्वारा प्रस्तावित की गयी थी और इनकी यह विशेषता है कि ये स्पष्ट एव बोधगम्य हैं तथा ये अपनी सीमाओ का अतिक्रमण नही करती। अभी तक इन शब्दो का बहुत शिथिलता से प्रयोग होता रहा है। अन्ततोगत्वा, मैं 'पूर्वी-हिन्दी' का प्रयोग मध्य उपशाखा की बोलियो के लिए करता हूँ जिनमे अवधी मुख्य है और इसी प्रकार 'पश्चिमी-हिन्दी' का प्रयोग उस समूह की बोलियो के लिए

करता हूँ जिसमे व्रजभाखा तथा (अपने विविध रूपो सहित) हिन्दुस्तानी का प्रमुख स्थान है।

साहित्य

साहित्यिक भाषा के रूप मे हिन्दुस्तानी के प्राचीनतम नमूने 'उर्दू' अथवा 'रेख्ता' मे उपलब्ध है। ये नमूने काव्य-ग्रथो मे ही मिलते है। रेख्ता शैली का प्रारम्भ दक्षिण (डेकेन) मे सोलहवी शताब्दी के अन्त मे हुआ था। इसके सौ वर्ष बाद वली औरगाबादी के द्वारा इसे निश्चित परिनिष्ठित रूप प्राप्त हुआ। वली को इसलिए रेख्ता का जनक कहा जाता है। वली का उदाहरण बडी शीघ्रता से दिल्ली मे अपनाया गया। यहाँ कवियो की एक नवीन परम्परा चल पडी जिसके विशिष्ट प्रतिभाशाली सदस्यो मे प्रसिद्ध व्यग्यकाव्य के रचयिता सौदा (मृत्यु १७८० ई०) तथा मीर तकी (मृत्यु १८१० ई०) मुख्य थे। इन्ही के समान-स्तर के कवियो की एक अन्य परम्परा की प्रतिष्ठा लखनऊ मे, अठारहवी शताब्दी के मध्य मे, दिल्ली के पतनकाल मे हुई। उर्दू तथा पूर्वी एव पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न बोलियो की कविताओ का सबसे महत्वपूर्ण अन्तर उनके छन्द-विधान का है। उर्दू का छन्द-विधान फारसी का है किन्तु अन्य बोलियो अथवा भाषाओ के छन्द भारतीय परम्परा के है। इतना ही नही, उर्दू का रचनाविधान पूर्णतया फारसी रूपरेखा पर आधारित है। यह प्राचीन ग्रन्थो से, जिनसे इस देश के साहित्य की उत्पत्ति हुई है, नितान्त भिन्न है। साहित्यिक माध्यम के रूप मे, उर्दू गद्य की उत्पत्ति विगत शताब्दी के प्रारम्भ मे कलकत्ते मे हुई। हिन्दी गद्य की भाँति ही, इसके लिए भी प्रारम्भिक प्रयत्न, अग्रेजो के प्रभाव एव हिन्दुस्तानी के दोनो रूपो (हिन्दी एव उर्दू) मे पाठ्यपुस्तके लिखने के लिए, फोर्टविलियम कालेज मे किये गये। उर्दू गद्य की प्रारम्भिक सुपरिचित पुस्तको मे मीर अम्मन कृत 'बागो-बहार' एव हफीजुद्दीन अहमद प्रणीत "खिरद् अफरोज" का प्रमुख स्थान है। यही स्थान हिन्दी मे लल्लूलाल कृत "प्रेमसागर" का है। तब से उर्दू तथा हिन्दी, दोनो के गद्य के मार्ग बहुत प्रशस्त हो गये हैं और गत शताब्दी मे जो विशाल गद्य-साहित्य प्रकाश मे आया है उसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। सम्भवत मुहम्मद हुसेन (आज़ाद) तथा पडित रतननाथ (सरशार) उर्दू गद्य के प्रमुख लेखको मे से हैं। हिन्दी मे बनारस के स्वर्गीय हरिश्चन्द्र ने सार्वभौम रूप से प्रथम स्थान ग्रहण किया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऊपर की परिभाषा के अनुसार हिन्दी (खडी बोली हिन्दी) मे काव्य-साहित्य का एक प्रकार से अभाव है। पिछले वर्षो

मे सीमित क्षेत्र मे, इस सम्बन्ध मे कुछ प्रयोग अवश्य किये गये हैं। हिन्दी के सभी महत्वपूर्ण काव्य-ग्रथ पूर्वी अथवा पश्चिमी हिन्दी की बोलियो मे लिखे गये है। आधुनिक उर्दू मे अनेक श्रेष्ठ कवि हैं जिनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध सम्भवत अल्ताफ हुसैन (हाली) हैं। इनके शेरो का अनुवाद स्वर्गीय श्री जी० ई० वार्ड ने वडी कुशलता से किया है।

पजाबी

पजाबी पजाव प्रदेश के आधे पूर्वी भाग मे, राजपूताने की वीकानेर रियासत के उत्तरी कोने मे तथा जम्मू रियासत के दक्षिणी अर्धान्श मे वोली जाती हैं। उत्तर तथा उत्तर-पूर्व मे यह हिमालय की निचली पर्वतमालाओ की पश्चिमी पहाडी वोली से, पूर्व मे पश्चिमी हिन्दी (पूर्वी अम्बाला मे वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी तथा यमुना से सटे हुए पश्चिम स्थित प्रदेश मे बाँगरू) से, दक्षिण मे राजस्थानी की बागडी तथा वीकानेरी विभाषाओ से और पश्चिम मे लहँदा से घिरी हुई है। लहँदा के सम्बन्ध मे लिखते हुए इसके तथा पजावी के पारस्परिक सम्बन्ध का कुछ विवरण पीछे दिया जा चुका है।[1] वहाँ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि सम्पूर्ण पजाब दो नितान्त भिन्न प्रकार की भाषाओ की मिलन-भूमि है। दूसरे शब्दो मे यहाँ प्राचीन वाहरी उपशाखा की भाषा, जो यदि वास्तव मे दर्दीय नही है तो भी दर्द भाषा से अत्यधिक प्रभावित है और जो सिन्धु नदी के काँठे से पूर्व की ओर फैली थी, तथा (भीतरी उपशाखा की) प्राचीन मध्य देश की भाषा, जो आधुनिक पश्चिमी हिन्दी की पूर्वज भाषा थी तथा जो यमुना के काँठे से पश्चिम की ओर पसरित हुई थी, मिलती हैं। पजाव मे इन दोनो ने ही अपनी सीमाओ का अतिक्रमण किया है। पूर्वी पजाब मे पुरानी लहँदा के साथ-साथ दर्दीय भाषा की लहर प्राय समाप्त हो जाती है और वहाँ प्राचीन पश्चिमी हिन्दी अधिकार जमा लेती है। इसके परिणास्वरूप यहाँ की भाषा पजावी है, पश्चिमी पजाव मे प्राचीन पश्चिमी हिन्दी का प्राय अवसान हो गया है और यहाँ की भाषा अब आधुनिक लहँदा है। वास्तव मे पजाबी तथा लहँदा के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खीचना असम्भव है। इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही किया जा सकता है कि ७४° पूर्वी देशान्तर को इन दोनो भाषाओ की सीमा मान

१. देखो अध्याय १३ मे लहँदा तथा पंजाबी की तुलना।

लिया जाय, किन्तु इस प्रकार का कार्य वस्तुत. अनिश्चित दशा को एक प्रकार से निश्चित करने का प्रयत्न मात्र होगा। दूसरी ओर पश्चिमी हिन्दी तथा पजावी के बीच की विभाजक रेखा इतनी स्पष्ट है कि इसे सरहिन्द से होकर गुजरनेवाली देशान्तर रेखा को माना जा सकता है। इसका अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि सुदूर पूर्वी पजाव की भाषा पश्चिमी हिन्दी, पश्चिमी पजाव की लहँदा तथा केन्द्रीय मध्य-पूर्व पजाव की भाषा पजावी है।

प्राचीन पंजाब

केन्द्रीय तथा पश्चिमी पंजाव की भाषाओ (पंजावी और लहँदा) के मिश्रित रूप का स्पष्टीकरण यहाँ के निवासियो की उस चाल-ढाल एवं व्यवहार से हो जाता है जिसका उल्लेख एक विरोधी लेखक ने महाभारत मे तथा आकस्मिक रूप से पाणिनि ने अपने व्याकरण मे किया है। यद्यपि वह केन्द्र, जहाँ से सस्कृत सभ्यता का प्रसार हुआ था, पवित्र सरस्वती नदी से दूर नही है तथापि ऊपर के उल्लेखो से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे पंजाव की सामाजिक रीति-नीति मध्य-देश से अत्यधिक भिन्न थी। किसी युग मे यहाँ के निवासी शासनहीन एवं अराजकतापूर्ण अवस्था मे रहते थे और दूसरे युग मे यहाँ एक भी ब्राह्मण न था (जो वास्तव मे धर्म-निष्ठ हिन्दुओ के लिए भयानक वात है)। यहाँ के लोग छोटे-मोटे गाँवो मे रहते थे तथा उनके शासक ऐसे राजा थे जो पारस्परिक लूटपाट एव कलह मे प्रवृत्त थे। केवल यही नही कि यहाँ कोई ब्राह्मण न था, वरन् यहाँ जातिपाँति का भी भेद न था और जहाँ था भी, वहाँ लोग अपनी जाति छोड़कर अन्य जाति ग्रहण कर सकते थे। जनसाधारण मे यहाँ वेद के प्रति कोई आदरभाव न था और देवताओ के लिए यहाँ यज्ञ-याग की प्रथा भी न थी। यहाँ के लोग वर्वर तथा असभ्य थे। ये लोग मदिरा-पान करते थे तथा सभी प्रकार के मास का भी भक्षण करते थे। इनकी स्त्रियाँ स्थूल-काय, पीली तथा अत्यधिक आचरण-भ्रष्ट थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वे वहुपतित्व की अवस्था मे रहती थी और यहाँ सम्पत्ति का उत्तराधिकारी अपना पुत्र नही वरन् वहन का पुत्र होता था।[1] यह कहना कठिन है कि इस विवरण की प्रत्येक वात सत्य

१. ऐसा प्रतीत होता है कि इस विवरण को लिखनेवाले के मस्तिष्क मे जाट लोगों मे प्रचलित रीति-रिवाज का ध्यान था।

ही है। सच तो यह है कि ये तथ्य विरोधियो द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु ये सत्य हो या असत्य, इनसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मध्य देश तथा पजाव की रीति-नीति, चाल-ढाल एव भाषा मे पर्याप्त अन्तर था।

पजावी एक करोड तीस लाख व्यक्तियो की भाषा है जो प्राय चेकोस्लोवाकिया की जनसख्या के बरावर है। इसकी दो बोलियां हैं—परिनिष्ठित तथा डोगरी।

बोलियाँ	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणनानुसार
परिनिष्ठित	१,११,८०,६११	१,४७,९५,३०९[1]
डोगरी	१२,२९,२२७	४,१८,६७८
अनिर्दिष्ट	३,५२,८०१	१०,१९,६०९
योग	१,२७,६२,६३९	१,६२,३३,५९६[1]

परिनिष्ठित विभाषा, केन्द्रीय पजाव के मैदानी भागो मे बोली जाती है किन्तु स्थान-स्थान पर इसमे अन्तर आता गया है। अमृतसर के आसपास अर्थात् 'माझ' अथवा वडी दोआव के मध्य मे बोली जानेवाली भाषा परम शुद्ध मानी जाती है। इसकी प्रमुख लिपि लडा है जिसका विवरण अध्याय १३ मे लहँदा भाषा की लिपि के रूप मे दिया जा चुका है। यह लिपि लेखक के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के लिए अस्पष्ट रहती है और कभी-कभी तो यह लेखक के लिए भी स्पष्ट नही रह पाती। परम्परा के अनुसार सिक्खो के द्वितीय गुरु अगददेव ने जब यह देखा कि इस लिपि मे लिखित धार्मिक 'वाणियाँ'अशुद्ध पढी जा सकती हैं, तो उन्होंने नागरी लिपि की सहायता से इस लिपि को परिवर्धित तथा विकसित किया। इसी से यह लिपि "गुरुमुखी" अथवा गुरु के मुख से निसृत लिपि के रूप मे प्रसिद्ध हुई। इसी गुरुमुखी लिपि का अव मुद्रित पाठ्यपुस्तको मे पंजाब के सिक्ख लोग प्रयोग करते हैं और वहाँ के हिन्दू भी इसी का व्यवहार करते हैं। वहाँ के मुसलमान तो प्राय फारसी लिपि का ही व्यव-हार करते है।

१. जनगणना में दी हुई संख्या अधिक है, इनमें से बहुत लोगों को लहँदा के अन्तर्गत दिखाना चाहिए था।

डोगरी

डोगरी पंजावी की वह विभाषा है जो जम्मू रियासत तथा उससे सयुक्त खास पजाव के कुछ भागो मे वोली जाती है। यह परिनिष्ठित विभाषा से वहुत मिलती-जुलती है। इसके संज्ञा के रूप तथा शब्द-समूह पजावी से भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि इन पर लहँदा तथा कश्मीरी का प्रभाव पडा है।

टक्करी लिपि

इसकी अपनी लिपि है जिसका नाम टक्करी है। यह पजावी की लडा लिपि से वहुत मिलती-जुलती है। इसका यह नामकरण 'टक्क' जाति के नाम पर हुआ है। टक्क लोगो की राजधानी "शाकल" थी। डा० फ्लीट के अनुसार आधुनिक स्याल-कोट ही प्राचीन 'शाकल' था।

साहित्य

पजावी मे वहुत थोडा साहित्य है जिसमे लोकगाथाएँ (Ballads) तथा लोक-महाकाव्य (Folk epics) प्रमुख हैं। इनमे कुछ गाथाएँ तो वहुत वडी एव महत्वपूर्ण है। उल्लेखनीय गाथाओ मे प्रसिद्ध वीर राजा 'रसालू', 'हीर-राँझा' और 'मिर्जा' तथा 'साहिवाँ' है। वारिस शाह द्वारा प्रणीत 'हीर-राँझा' की भाषा को आदर्श एव परम शुद्ध पजावी माना जाता है। यह अत्यधिक जनप्रिय कथा है और इसके विशिष्ट स्थलो के ग्रामोफोन रेकर्ड समस्त देश मे विकते है।[1]

गुरु-ग्रन्थ साहव

सिक्खो का धर्मग्रन्थ यद्यपि गुरुमुखी लिपि मे लिखा गया है तथापि उसका अधिकाश प्राचीन हिन्दी मे रचा गया है। इसकी कुछ 'वाणियो' की रचना तो पजावी मे भी हुई है। इनमे से कतिपय तो अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इधर हाल ही मे मुद्रण-

१. जी० सी० असबार्न (G. C Usborne) द्वारा किया हुआ इसका अनुवाद पूरक के रूप में इण्डियन एन्टिक्वेरी (Indian Antiquary) में प्रकाशित हुआ था। इसका पहला लेख १९२१ के खण्ड ५० के अप्रैल वाले अंक मे प्रकाशित हुआ था।

कला के आगमन के साथ-साथ पजाबी मे थोडा गद्य-साहित्य भी अस्तित्व मे आया है। सिरामपुर के मिशनरियो ने नये टेस्टामेंट (बाइबिल) तथा पुराने टेस्टामेन्ट के कुछ भागो का अनुवाद परिनिष्ठित पजाबी मे तथा बीकानेर की सीमा पर बोली जानेवाली एक मिश्रित विभाषा 'भटनेरी' मे नये टेस्टामेंट का केवल रूपान्तर प्रस्तुत किया है।

बृहत्तर पंजाबी

पजाबी हमारे सिक्ख सैनिको की भाषा है। इस प्रकार यह न केवल भारत के विभिन्न भागो मे ही पायी जाती है वरन् यह दूरस्थ चीन देश मे भी सुनी जाती है जहाँ सन्धिबद्ध बन्दरगाहो मे सिक्ख पुलिस नियुक्त है।

सामान्य विशेषताएँ

मध्य देश से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त भाषाओ मे पजाबी ही ऐसी है जो सस्कृत तथा फारसी से आगत शब्दो से सबसे अधिक मुक्त है। प्राय सभी विचारो को प्रकट करने की क्षमता रखते हुए इसमे सहज ग्रामीण आकर्षण है जो इसके बोलनेवाले कृषको की सरलता को द्योतित करता है। बहुत अशो मे हिन्दी से इसका वही सम्बन्ध है जो बर्नस् कवि की स्काच भाषा का दक्षिणी अग्रेजी से है।

राजस्थानी तथा गुजराती

पजाबी के ठीक दक्षिण मे लगभग एक करोड साढे बयासी लाख राजस्थानी भाषा-भाषियो का क्षेत्र है जो इग्लैण्ड तथा वेल्स की आधी जनसख्या के बराबर है। जिस प्रकार पजाबी उत्तर-पश्चिम मे मध्य देश की प्रसरित भाषा का प्रतिनिधित्व करती है, उसी प्रकार राजस्थानी उसके दक्षिण-पश्चिम मे प्रसरित भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। इस अन्तिम प्रसार-कार्य मे मध्यदेश की भाषा राजस्थानी-क्षेत्र से होती हुई गुजरात के समुद्र तट तक पहुँच गयी है। यहाँ यह गुजराती का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार राजस्थानी तथा गुजराती का अति निकट का सम्बन्ध है। सच तो यह है कि राजस्थानी और गुजराती न्यूनाधिक रूप मे एक ही भाषा की दो पृथक् विभाषाएँ हैं।[1] मध्यदेश से राजपूताना तथा गुजरात मे निष्क्रमण की अनेक

१. राजस्थानी की मारवाड़ी बोली से गुजराती का जो अन्तर है वह हाल ही

कथाएँ है। इनमे सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत युद्ध के समय गुजरात मे द्वारका की स्थापना का है। जैन परम्परा के अनुसार गुजरात के प्रथम चालुक्य शासक गगा-दोआब के कन्नौज प्रदेश से आये थे और नवी शताब्दी मे पश्चिमी राजपूताना के गुर्जर राजपूत भीलमाल अथवा भीनमाल ने इस नगर को अधिकृत किया था। मारवाड के राठौरो का यह कथन है कि वे वहाँ बारहवी शताब्दी मे कन्नौज से आये थे। जयपुर के कछवाहो का यह दावा है कि वे अवध से आये थे. जब कि एक अन्य परम्परा के अनुसार चालुक्यवशी लोग पूर्वी पजाब से आये थे। राजपूताना तथा गुजरात का प्रगाढ राजनीतिक सम्बन्ध इस ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर प्रदर्शित किया जाता है कि मेवाड के गहलोत यहाँ गुजरात से ही आये थे। कतिपय प्रतिष्ठित विद्वानो ने यह तथ्य स्वीकार कर लिया है कि कुछ राजपूत जातियाँ गूजरो से उद्भूत हुई हैं। इन विद्वानो का यह भी कथन है कि गूजरो के बिखरने का एक केन्द्र, राजपूताना स्थित आबू पर्वत या उसके आसपास का भूमि-भाग था। भारत मे गुर्जर लोग, हूण तथा अन्य लुटेरी जातियो के साथ लगभग छठी शताब्दी मे प्रविष्ट हुए थे और ये शीघ्र ही शक्तिशाली बन गये। मुख्य रूप से ये लोग पशुपालक जाति के थे किन्तु इनके अपने सैनिक तथा मुखिया भी थे। जब इस जाति ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया तो उसे ब्राह्मणो ने क्षत्रियो के समकक्ष स्थान प्रदान किया तथा उन्हे राजपूत अथवा रात्रपुत्र (राजा के लड़के) की संज्ञा से विभूषित किया। इनमे से कुछ लोग तो ब्राह्मण भी बन गये, किन्तु इस जाति की एक बहुत बड़ी सख्या अपनी पशु-पालक प्रवृत्ति के कारण गुर्जर के रूप मे एक उपजाति बनकर रह गयी। इन्हे ही आधुनिक भाषा मे 'गूजर' कहते हैं।

राजस्थानी

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, राजस्थानी राजस्थान की भाषा है। यहाँ राजस्थान का प्रयोग उसी अर्थ मे किया जा रहा है जिस अर्थ मे टॉड ने किया है। यह राजपूताना, मध्यभारत के पश्चिमी भाग, मध्यप्रान्त, सिन्ध तथा पजाब के निकटवर्ती क्षेत्रो मे बोली जाती है। पूर्व मे यह ग्वालियर राज्य मे, पश्चिमी हिन्दी की बुन्देली

का है। ऐसी कविताएँ भी उपलब्ध हैं, जो पन्द्रहवीं शती में मारवाड़ी मे लिखी गयी थीं, किन्तु आगे चलकर इनके रूप मारवाड़ी और गुजराती दोनो मे मिलने लगे।

विभाषा मे विलीन हो जाती है। उत्तर मे यह करौली तथा भरतपुर रियासतो और गुडगाँव जिले की ब्रजभाखा मे अन्तर्भुक्त हो जाती है। पश्चिम मे, यह शनै शनै भारतीय मरुभूमि की मिश्रित बोलियो से गुजरती हुई पजाबी, लहँदा तथा सिन्धी मे परिणत हो जाती है और सीधे तौर पर पालनपुर स्टेट मे गुजराती का रूप धारण कर लेती है। दक्षिण मे यह मराठी से मिलती है किन्तु बाहरी उपशाखा की भाषा होने से उसमे इसका अन्तर्भाव नही होता।

विभाषाएँ

राजस्थान एक ऐसा प्रदेश है, जो बहुत मे राज्यो तथा बहुत सी जातियो मे विभक्त है। इसलिए इसकी बहुत-सी परस्पर सम्बन्धित बोलियाँ भी हैं। केवल जयपुर राज्य मे ही स्थानीय भाषा की कम से कम पन्द्रह बोलियो की गणना की जा चुकी है। साधारण स्थानीय विभेदो को छोडने पर भी, इस क्षेत्र मे, जहाँ राजस्थानी मातृभाषा

राजस्थानी	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
मारवाड़ी	६०,८८,३८९	..
मध्यपूर्वीय	२९,०७,२००	..
पूर्वोत्तरी	१५,७०,०९९	..
मालवी	४३,५०,५०७	..
निमाडी	४,७४,७७७	..
लभानी	१,५८,५००	..
गूजरी	२,९७,६७३	..
अनिर्दिष्ट	४,५१,११५	.
योग	१,६२,९८,२६०	१,२६,८०,५६२[१]

के रूप मे व्यवहृत होती है, प्राय बीस वास्तविक विभाषाएँ बोली जाती हैं। उनके परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मुख्यत: चार विभागो के अन्तर्गत आ जाती हैं।

१. यह संख्या कदाचित् बहुत कम है। यह स्पष्ट है कि जनगणना में कतिपय राजस्थानी भाषा-भाषियों को पश्चिमी हिन्दी में सम्मिलित कर लिया गया है।

इन्हे मारवाड़ी, मध्य-पूर्वीय समुदाय (जिसकी विशिष्ट बोली जयपुरी है), पश्चिमोत्तरी समुदाय (जिसकी विशिष्ट बोली मेवाती है) तथा मालवी के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन्ही चारो को राजस्थानी की चार मुख्य विभाषाओ के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ हम निमाडी, लभानी तथा गूजरी का भी उल्लेख कर सकते हैं।

मारवाड़ी

चाहे क्षेत्र के आकार की दृष्टि से, चाहे भारत मे प्रसार की दृष्टि से, अब तक राजस्थान की विभाषाओ मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान मारवाडी का ही है।

इसका क्षेत्र पश्चिमी राजपूताना है, जिसमे मारवाड़, मेवाड़, बीकानेर तथा जैसलमेर की बडी-बडी रियासतें आती हैं। इसके कई रूप हैं, जिनमे 'थाळी' अथवा रेगिस्तान की पश्चिमी मारवाड़ी, जो सिन्ध तक प्रसरित है, उदयपुर राज्य की मेवाड़ी बीकानेरी तथा उत्तरी-पूर्वी बीकानेर और पजाब के सीमावर्ती भागो की 'बागड़ी' विभाषाएँ उल्लेखनीय हैं। अन्तिम बोली (बागडी) को कभी-कभी एक पृथक् विभाषा भी माना जाता है। उत्तरी-पश्चिमी जयपुर की शेखावाटी की बोली तथा बीकानेर के पूर्वी एव मध्य भाग और निकटवर्ती राज्यो की मारवाड़ी मे विशेष अन्तर नही है।

मध्य पूर्वीय—जयपुरी

मध्यपूर्वीय विभाषाओ मे 'जयपुरी' तथा 'हाडौती' अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। जयपुरी, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, जयपुर राज्य की भाषा है। हम इसके सम्बन्ध मे राजस्थानी की अन्य बोलियो की अपेक्षा अधिक जानते हैं। श्रीमान् महाराज जयपुर के अनुरोध से राज्य के अन्तर्गत व्यवहृत होनेवाली विभिन्न स्थानीय बोलियो का एक विस्तृत सर्वेक्षण रेवरेंड जी० मकालिस्टर एम० ए० ने किया था। अपने निष्कर्षो को श्री मैकालिस्टर ने एक सुन्दर पुस्तिका मे प्रकाशित किया है।

हाड़ौती

हाड़ौती, बूंदी तथा कोटा के हाड़ा राजपूतो की बोली है। वहाँ से यह पूर्व दिशा मे ग्वालियर राज्य की सीमा तक जाती है जहाँ यह बुन्देली मे अन्तर्भुक्त हो जाती है।

पूर्वोत्तरी—मेवाती, अहीरवाटी

पूर्वोत्तरी की प्रमुख बोली, मेव लोगो की भाषा मेवाती अथवा विघोता है। इनके मुख्य केन्द्र अलवर राज्य मे है। दिल्ली के दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम मे बोली जानेवाली अहीरवाटी अथवा हीरवाटी इसी की एक बोली है। जैसी कि आशा की जा सकती है, इस समुदाय की बोलियाँ राजस्थानी के विभिन्न रूप मात्र है, जो पश्चिमी हिन्दी के बहुत निकट पहुँचती हैं। हम देखते हैं कि अहीरवाटी, पश्चिमी हिन्दी की विभाषा बांगरू मे अन्तर्भुक्त हो जाती है, जब अलवर की मेवाती व्रजभाषा मे तिरोभूत हो जाती है।

मालवी

मालवी के केन्द्र इन्दौर के चारो ओर मालवा देश मे है, किन्तु यह एक विस्तृत क्षेत्र मे फैली हुई है। पूर्व मे यह भूपाल तक चली जाती है, जहाँ इसका सम्मिलन बुदेली से होता है। पश्चिम मे यह उदयपुर के दक्षिण पहाडियो की भीली बोलियो मे अवरुद्ध हो जाती है। यह मध्यप्रान्त के पश्चिमोत्तर जिलो को भी अधिकृत कर लेती है। इसका एक विशिष्ट रूप, जिसमे मारवाडी का अत्यधिक मिश्रण है, 'रांगडी' अथवा 'राजवाडी' नाम से अभिहित किया जाता है तथा राजपूतो द्वारा व्यवहृत होता है।

निमाड़ी

उत्तरी निमाड तथा मध्यभारत की भोपवर एजेंसी के सीमावर्ती प्रदेशो मे मालवी का खानदेशी तथा भीली भाषाओ से इतना अधिक मिश्रण होता है कि वहाँ यह एक नवीन भाषा—निमाडी— का रूप धारण कर लेती है। इसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं। जो भी हो, जिस अर्थ मे हम मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी को राजस्थानी की विभाषाएँ मानते हैं, उस अर्थ मे निमाडी को हम वडी कठिनता से एक शुद्ध विभाषा की सज्ञा दे सकते हैं। निमाडी वस्तुत कई भाषाओ के ससर्ग से निर्मित ग्रामीण बोली है। इसकी आधारभूत भाषा मालवी है।

लभानी

'लभानी' या 'वजारी' वजारा लोगो की बोली है। बजारा भ्रमणशील जाति है और सम्पूर्ण पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत इनके भ्रमण का क्षेत्र है। इनका दूसरा

नाम लभान भी है। भारतवर्ष के अन्यान्य भागो मे ये उसी क्षेत्र की बोली का व्यवहार करते हैं, जहाँ इन्हे निवास करना पड़ता है। किन्तु बरार, बम्बई, मध्यप्रान्त, पजाब, उत्तरप्रदेश तथा मध्यभारत एजेसी मे इनकी अपनी भाषा है, जिसका नाम जातियो के स्थानीय नामो के अनुसार बदलता रहता है। सर्वत्र इनकी भाषा मिश्रित भाषा के रूप मे है, किन्तु आदि से अन्त तक इसका आधार राजस्थानी का कोई न कोई पश्चिमी रूप है, तथा इनके अन्य तत्वो मे उन स्थानो की बोलियो से गृहीत अग भी सन्निहित हैं, जहाँ इस जाति के लोग निवास करते हैं।

ककेरी

यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि दो अन्य जाति के लोगो की बोलियो के परीक्षण से यह सिद्ध हुआ है कि वे लभानी के समान ही हैं। ये बोलियाँ हैं 'ककेरी' तथा 'बहुरुपिया'। ककेरी, कघा बनानेवाली एक उपजाति—'ककेर' की बोली है जो प्राय दो सौ वर्ष पूर्व अजमेर से निकलकर उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले मे जा बसे थे।

बहुरुपिया

बहुरुपिया अथवा महतम जाति के लोग पजाब के गुजरात तथा स्यालकोट जिलो मे पाये जाते हैं। उनका कथन है कि वे वहाँ राजपूताना से राजा मार्नासह के साथ सन् १५८७ ई० मे काबुल-विजय के अवसर पर आये थे और बाद मे वे उन स्थानो मे बस गये जहाँ वे आज मिलते हैं। यह बहुत सभव है कि मूलत वे लभाना लोगो की उपजाति रहे हो।

गूजरी

गूजरी बोली का उल्लेख भारतीय इतिहास मे एक मनोरजक अध्याय खोलता है। हम यह पहले देख चुके हैं कि आधुनिक गूजरो के पूर्वज—गुर्जरो ने भारतवर्ष मे सम्भवत. पाँचवी या छठी शताब्दी मे प्रवेश किया था और उनकी युद्धप्रिय जाति के कतिपय लोगो को राजपूतो के रूप मे स्वीकार किया गया था। पहाडी भाषाओ का वर्णन करते समय हम आगे देखेंगे कि प्राचीन युग मे कुमाऊँ तथा गढवाल के सयुक्त जिले तथा इस देश से सम्बन्धित इसके पश्चिम की शिमला-पर्वतमालाओ का क्षेत्र 'सपाद-लक्ष' नाम से विख्यात था, और यह क्षेत्र आंशिक रूप से इन्ही गुर्जरो

द्वारा, इनके आगमन के युग मे ही अधिकृत किया गया था। यहाँ से कुछ गुर्जरो ने मैदानो मे उतरकर, गंगा के कॉठे को पार किया और मेवात मे प्रविष्ट हुए। यहाँ से वे पूर्वी राजपूताना मे प्रसरित हुए और वहाँ की भाषा को अपना लिया। कुछ वर्षों वाद राजपूताना मे आवाद होनेवालो मे से कुछ लोगो ने पुन उत्तर-पश्चिम के लिए प्रस्थान किया और दक्षिण-पूर्व की ओर से पजाव पर आक्रमण किया। इन्होने कुछ लोगो को, उपनिवेश के रूप मे मेवात से लेकर यमुना के कॉठे के दोनो छोरो पर छोड दिया, और यहाँ से वे हिमालय की तलहटी से होते हुए सिन्धु नदी तक वढते गये। मैदानो मे वसने वाले लोगो ने तो अपनी भाषा का परित्याग कर दिया, किन्तु जैसे ही हम निचली पर्वतमालाओ मे प्रवेश करते हैं, वैसे ही 'गूजरी' नाम की एक अपरिवर्तनशील स्थानीय विभाषा के सम्पर्क मे आते हैं। प्रत्येक दशा मे यह भाषा स्थानीय गूजरो की भाषा के अतिनिकट कही जा सकती है। हाँ, इसका उच्चारण इस प्रकार का अवश्य है मानो इसे विदेशी लोग वोल रहे हो। जैसे-जैसे हम इन कम आवादी-वाले पर्वत-क्षेत्रो मे प्रवेश करते है, वैसे वैसे इस गूजरी को हम अधिक स्वतन्त्र रूप मे तथा पड़ोसी भाषाओ से वहुत कम प्रभावित पाते हैं। अन्ततोगत्वा, जव हम स्वात तथा कश्मीर के भयानक पर्वतीय क्षेत्र मे पदार्पण करते है, तो हम यायावर गूजरो को पाते हैं, जिन्हे यहाँ 'गूजुर' (ग्वाला) अथवा 'अजिड' (गडेरिया) कहते हैं। यह अभी तक अपनी मूल पशुपालक-वृत्ति को अपनाये हुए हैं तथा आज भी मेवात से अपने पूर्वजो द्वारा ले आयी गयी भाषा के विकसित रूप का प्रयोग करते हैं। किन्तु यह भाषा अपनी लम्वी यात्रा के चिह्नो को भी प्रदर्शित करती है। इसने यमुना के कॉठे की हिन्दुस्तानी के विचित्र वाक्यो तथा मुहावरो को सुरक्षित रखा है। इन्हे इन लोगो ने मार्ग मे ग्रहण किया था तथा अपने साथ दूर-स्थित दर्दिस्तान प्रदेश मे भी लेते गये थे।

राजस्थानी साहित्य

एक मात्र मारवाडी ही राजस्थानी की ऐसी विभाषा है जिसमे प्रचुर मात्रा मे विशिष्ट साहित्य प्राप्त है। प्राचीन मारवाडी अथवा डिंगल मे आज भी अनेक काव्य-ग्रथ उपलव्ध हैं, किन्तु अभी तक उनका गभीरतापूर्वक अध्ययन नही किया जा सका है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी की अन्य विभाषाओ मे वहुत प्रचुर साहित्य है। प्रकारान्तर से मैं यहाँ टॉड के 'राजस्थान' मे वर्णित चारण-साहित्य का उल्लेख करना चाहता हूँ। सभवत कुछ दिनो पूर्व श्री टॉड ही ऐसे यूरोपियन थे जिन्होंने

इस साहित्य के अधिकतर अश का अध्ययन किया था। तब से इधर भारत सरकार के तत्त्वावधान मे बगाल की एशियाटिक सोसायटी ने इन ऐतिहासिक ग्रन्थो के सर्वेक्षण का कार्य अपने हाथ मे लिया है। इसके परिणामस्वरूप इन ग्रथो की सूची तैयार करने तथा उनके पाठ के प्रकाशन मे पर्याप्त प्रगति हुई है। इधर इस कार्य के करनेवाले इतालीय विद्वान डॉ० एल० पी० टेसीटरी की अकाल मृत्यु के कारण इस कार्य में बहुत बाधा पडी है और तब से यह कार्य रुक भी गया है इनमे सबसे अधिक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। इसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी के तत्त्वावधान मे हुआ है और इसी से कुछ अश लेकर एक छात्रोपयोगी सस्करण तैयार किया गया है। इसके कुछ अशो का अग्रेजी रूपान्तर बीम्स तथा हार्नली ने भी प्रस्तुत किया है। 'पृथ्वीराज रासो' की रचना पश्चिमी हिन्दी के प्राचीन रूप मे हुई है, राजस्थानी मे नही। पश्चिमी हिन्दी के इस प्राचीन रूप का प्रयोग राजपूत चारण काव्यरचना के लिए करते थे और यह पिंगल नाम से विख्यात थी। रासो को जिस रूप मे हम आज देखते हैं उसमे प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं; किन्तु इतने पर भी यह राज-पूताना के इतिहास तथा वीरगाथाओ का एक आश्चर्यजनक कोश है। सिरामपुर के मिशनरी लोगो ने, मध्य तथा पूर्वी भाग की बोली हाडौती, मालवे की बोली उज्जैनी तथा उदयपुरी (जो वस्तुत मारवाड़ी का मेवाडी रूप है) एवं मारवाड़ी, जयपुरी और मारवाडी की एक अन्य विभाषा बीकानेरी मे न्यू टेस्टामेंट का अनुवाद प्रस्तुत किया है।

भाषागत विशेषताएँ

महाभारत के महायुद्ध के समय पंचाल नाम से प्रसिद्ध देश चम्बल नदी से लेकर हिमालय की तलहटी मे हरद्वार तक प्रसरित था। इस भाँति इसका दक्षिणी भाग उत्तरी राजपूताना से मिला हुआ था। यह हम देख चुके हैं कि[1] पाचाल लोग उन जातियो मे से थे, जिन्होने भारतवर्ष पर सर्वप्रथम आक्रमण किया था। इस प्रकार यह बहुत संभव है, कि उनकी भाषा बाहरी उपशाखा की भारतीय आर्य-भाषा थी। यदि यह सत्य है तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शेष राजपूताना मे और विशेष प्रकार से उसके दक्षिण मे भी इसी उपशाखा की भाषा प्रचलित थी।

१. देखो अध्याय ११।

इस सिद्धान्त से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि भीतरी उपशाखा की भाषाओ के बोलनेवाले आर्य ज्यो-ज्यो प्रसरित तथा शक्तिशाली होते गये त्यो-त्यो उन्होंने क्रमश अपने दक्षिण मे स्थित बाहरी उपशाखा के आर्यों को उसी दिशा मे दूर तक खदेड़ दिया।

गुजरात मे, भीतरी उपशाखा के आर्य बाहरी उपशाखा के आर्यों की भित्ति को तोडकर समुद्रतट तक जा पहुँचे। मध्यदेश के लोगो के गुजरात मे बस जाने के परम्परागत कई उल्लेख मिलते है, इनमे से सबसे पहला उल्लेख महाभारत युद्ध के समय द्वारका मे बस जाने का है। मध्यदेश से गुजरात जाने का केवल एक ही मार्ग राजपूताना से होकर है। सबसे सीधा मार्ग भारतीय मरुस्थल के कारण अवरुद्ध है। स्वत राजपूताना भी मध्य हिंदुस्तान के आक्रमणकारियो द्वारा अपेक्षाकृत आधुनिक युग मे अधिकृत किया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राठौर मे यह परम्परा है कि बारहवी शताब्दी ईसवी मे उन्होने दोआब-स्थित कन्नौज को छोडकर मारवाड पर अधिकार कर लिया था। जयपुर के कछवाहे से अवध आने का दावा करते है और सोलकी राजपूत पूर्वी पजाब से। स्वय गुजरात पर यादवो ने अधिकार किया था, जिनकी जाति के लोग मथुरा के आसपास के मूल स्थान को आज भी अधिकृत किये हुए हैं। दूसरी ओर एक अन्य परम्परा के अनुसार, मेवाड के गहलोत गुजरात की एक प्रत्यावर्तित लहर के रूप मे है जो वल्लभी की प्रसिद्ध लूट के पश्चात् समीपस्थ चित्तौड की ओर भगा दिये गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि गगा के दोआब तथा गुजरात के समुद्रतट के मध्य सम्पूर्ण भूभाग को वर्तमान युग मे अधिकृत करनेवाले मनुष्यो की एक बहुत बडी सख्या उन जातियो मे से है जिन्होने मध्यदेश से निष्क्रमण किया था। उन्होने मूल पूर्वागत आर्य जातियो को निवास करते पाया था जिनका सम्बन्ध बाहरी शाखा से था। उन्होने इन आर्यो को या तो सूदूर दक्षिण की ओर भगा दिया था या उन्हे आत्मसात् कर लिया था, अथवा उनके साथ दोनो ही प्रकार का व्यवहार किया था। वास्तव मे, यह बात ठीक रूप से इस क्षेत्र की भाषा से ही सिद्ध हो जाती है। राजस्थानी तथा गुजराती दोनों ही पूर्णतया भीतरी शाखा की भाषाएँ हैं, किंतु उनके कई ऐसे रूप मिलते हैं जो वस्तुत बाहरी मडल की भाषाओ की विशेषताएँ है।[1]

१. सन् १९२१ की बड़ोदा-जनगणना की रिपोर्ट पृ० २८९ तथा उसके आगे

उनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। जहाँ तक उच्चारण का सबंध है, सिन्धी, मराठी और गुजराती मे भी, औ का उच्चारण ओ की तरह होता है। इस प्रकार हिन्दुस्तानी का 'चौथा' शब्द सिन्धी, राजस्थानी और गुजराती मे 'चोथो'—रूप मे उच्चरित होता है। पुनश्च, सिंधी की ही भाँति, राजस्थानी और गुजराती दोनो मे ही दन्त्य वर्णो की अपेक्षा मूर्धन्य वर्णो को अधिक प्रधानता दी जाती है। सिन्धी तथा अन्य पश्चिमोत्तरी भाषाओ की भाँति ही ग्रामीण गुजराती 'स'—का उच्चारण—'ह'—की भाँति करता है। राजपूताना के कुछ भागो मे भी इसी प्रकार का उच्चारण होता है। समस्त पूर्वीय भाषाओ तथा मराठी की भाँति,

के पृष्ठो मे श्री सत्यव्रत मुकर्जी ने ऊपर प्रतिपादित सिद्धान्तो का खण्डन किया है। उनके अनुसार गुजराती भाषा की आधुनिक अवस्था का कारण, मध्यदेश के प्रभाव से उतना नहीं है जितना इसके विपरीत कारणो से है। मैं उनके तर्कों से सहमत नहीं हूँ, किन्तु विशुद्ध भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह बात कोई महत्वपूर्ण नहीं है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि राजस्थानी एवं गुजराती मिश्रित भाषाएँ हैं, जिनमे कुछ तो बाहरी उपशाखा की भाषाओं और कुछ मध्यदेश की भाषाओ की विशेषताएँ मिलती है। किन्तु इस कारण जब वे गुजराती का सम्बन्ध बीच की उपशाखा पूर्वी-हिन्दी से जोडते हैं, तो मुझे असहमति प्रकट करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जब उन्हें भारतीय आर्य भाषाओ को किसी क्रम मे रखना पड़ेगा, तो सर्वप्रथम मध्यदेश की भाषा पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र मे रखना पड़ेगा। इसके चारो ओर कई मिश्रित भाषाओ का एक वृत्त है—इसके पूर्व मे पूर्वी हिन्दी, दक्षिण मे गुजरातीसहित राजस्थानी, पश्चिम मे पंजाबी तथा उत्तर मे हिमालय की पहाड़ी भाषाएँ हैं। ये सभी भाषाएँ पश्चिमी हिन्दी तथा बाहरी उपशाखा की भाषाओ के बीच की भाषाएँ हैं और एक प्रकार से दोनो के बीच मे कडी का काम करती हैं। इन मिश्रित भाषाओ के चारो ओर बाहर की तरफ हम बाहरी उपशाखा की भाषाओ का एक वृत्त पाते हैं, बिहारी, उड़िया, मराठी, सिन्धी, लहँदा। इस प्रकार बीच मे एक केन्द्र है जिसके चारो ओर मिश्रित भाषाएँ हैं और पुन. ये मिश्रित भाषाएँ बाहरी उपशाखा की भाषाओ मे आवृत हैं। यदि वे इन मिश्रित भाषाओ को मध्यवर्ती भाषाओं के अन्तर्गत रखें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। वास्तव में कई अवसरो पर जब मैं वैज्ञानिक लेख नहीं लिखता, तो मैं भी अपने लेखो मे यही क्रम रखता हूँ। इसमे लाभ यह है

और भीतरी भाषाओ के विपरीत, राजस्थानी तथा गुजराती दोनो ही मे, सज्ञा के तिर्यक् रूप–'आ'–प्रत्ययान्त होते है। सिन्धी[1] शीर्षक के अन्तर्गत हमने यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार भूतकालिक कृदन्त का–'ल्'– प्रत्यय, जो कि बाहरी उपशाखा की भाषाओ की एक प्रमुख विशेषता है, गुजराती मे भी उपलब्ध है। अन्तत लहँदा की भाँति, गुजराती तथा राजस्थानी दोनो मे, क्रिया के रूपो मे एक ऐसा भविष्यत् काल है, जिसकी मुख्य विशेषता–'स'– प्रत्यय है।

कि यह क्रमबद्ध है और सरलता से लोगो की समझ मे आ जाता है। किन्तु बीच की उपशाखा का एक विशेष अर्थ मे प्रयोग हुआ है और इसके अन्तर्गत केवल हम पूर्वी-हिन्दी को रखने के लिए बाध्य हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत राजस्थानी एवं गुजराती जैसी भाषाओ को सम्मिलित करना असभव है। यह ठीक है कि उन्हीं की तरह कुछ हद तक पूर्वी हिन्दी भी, पश्चिमी हिन्दी तथा बाहरी उपशाखा की भाषाओ के बीच की कडी हैं; किन्तु यह राजस्थानी एव गुजराती की भाँति मिश्रित भाषा नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से पूर्वी-हिन्दी स्वतत्र रूप मे विकसित हुई हैं और इसके व्याकरण का विकास भी पश्चिमी हिन्दी तथा किसी भी बाहरी उपशाखा की अपेक्षा स्वतत्र ढग से हुआ है। दूसरी ओर राजस्थानी और गुजराती का व्याकरण मूलतः वही है, जो पश्चिमी हिन्दी का है। यह ठीक है कि इसके अनुसर्गो एव प्रत्ययो मे विशेष स्थानो पर अन्तर है, किन्तु इसका आधार एक है। इसमे सन्देह नहीं कि गुजराती मे भी कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो बाहरी उपशाखा की भाषाओ मे नहीं हैं और इसी कारण हमे यह स्वीकार करना पडता है कि यह मिश्रित भाषा है, किन्तु गुजराती और राजस्थानी का विकास इस प्रकार स्वतत्र रूप से हुआ है जिसके कारण हम इन्हे बीच की उपशाखा की भाषाएँ कह सकते हैं। यहाँ पर तर्क के लिए विस्तृत विवरण देने का स्थान नहीं है अतएव जो लोग इसमे दिलचस्पी रखते हैं उन्हे मैं एक ओर पूर्वी हिन्दी के क्रिया रूपो तथा पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती के क्रिया रूपों के अध्ययन की सलाह दूंगा। इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि राजस्थानी अथवा गुजराती को पूर्वी हिन्दी के समूह मे रखना असम्भव है।

१. देखो अध्याय १३, कृदन्तीय 'ल' प्रत्यय।

लिपि

राजस्थानी साहित्य के लिए नागरी अक्षरो का प्रयोग करती है। साधारण कार्यों के लिए यहाँ पजाब की लडा लिपि से मिलती-जुलती एक भग्न लिपि का प्रयोग होता है। यह महाजनी, अथवा व्यापारी वर्ग की लिपि के नाम मे प्रचलित है और लेखक के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति के लिए अत्यधिक अस्पष्ट है। यह प्राय समस्त स्वरो का परित्याग कर देती है, और इसके अस्पष्ट तथा त्रुटिपूर्ण पठन की गाथाएँ भारतीय लोक-कथाओ मे बहुत प्रचलित है।

राजस्थानी, भारत के अन्य भागो मे

मारवाडी के रूप मे, राजस्थानी का व्यवहार समस्त भारतवर्ष मे पाया जाता है। शायद ही ऐसा कोई शहर हो, जहाँ "पश्चिमी तथा उत्तरी राजपूताना की मरुभूमि के मितव्ययी निवासियो ने डेकन के एक गाँव की नगण्य पसारी की दूकान से लेकर पूर्वी तथा पश्चिमी भारत की व्यावसायिक सम्पत्ति से सबधित विशाल साहूकारिता एव दलाली के रूप मे अपने लिए धन न अर्जित किया हो।"

गुजराती

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुजराती का राजस्थानी से बहुत निकट का सम्बन्ध है। यहाँ तक की पन्द्रहवी शताब्दी मे मारवाड तथा गुजरात की भाषा एक थी।[1] इसके बाद ही इसने इन दो भाषाओ का रूप धारण किया, किन्तु मूलत इन दोनो बोलियो मे अत्यल्प अतर था।

क्षेत्र

गुजराती, ब्रिटिश भारत के गुजरात और बडोदा तथा पडोसी भारतीय

---

१. सन् १४५५-५६ मे मारवाड़ राज्य के झालोर स्थान के एक कवि ने 'कान्हड़ देव' शीर्षक प्रबन्ध काव्य लिखा था। सन् १९१२ मे इसको लेकर गुजरात में एक वादविवाद चल पड़ा कि यह पुरानी गुजराती का प्रबन्ध है अथवा मारवाड़ी का। सच तो यह है कि यह दोनों में से किसी का नहीं है, अपितु कवि की उस मातृ-भाषा में है जो बाद में इन दो भाषाओ के रूप में प्रकट हुई।

रियासतो मे बोली जाती है। दक्षिण मे यह अरब सागर के किनारे-किनारे डामन तक चली जाती है। वहाँ एक मिश्रित आबादी है, जिसमे कुछ लोग तो मराठी और कुछ गुजराती बोलते है। इन दोनो भाषाओ की कोई मध्यस्थ बोली नही है। उत्तर मे यह सिन्धी की कच्छी विभाषा से होती हुई, उसमे अन्तर्भुक्त हो जाती है, यद्यपि कच्छ मे प्रशासकीय एव साहित्य भाषा के रूप मे इसकी परिनिष्ठित बोली का ही व्यवहार होता है। इसके और भी उत्तर, किन्तु सिन्धी के पूर्व मे, यह मारवाडी से मिलती है और रनकच्छ से थोडा और उत्तर चल कर यह उसी मे धीरे-धीरे अन्तर्हित हो जाती है। इसके पूर्व स्थित पर्वतीय प्रदेश मे भीली तथा खानदेशी बोली जाती हैं, और इसके दक्षिण मे मराठी भाषा का क्षेत्र है। गुजराती की ही भाँति मारवाडी तथा भीली भाषाएँ भी भीतरी उपशाखा की भाषाओ के अन्तर्गत आती है। इनमे गुजराती का अन्तर्भाव नैसर्गिक रूप मे विना किसी बाधा के हो जाता है। इस सम्वन्ध मे सिन्धी की स्थिति वहुत कुछ विचित्र है। सिंधी एक वाहरी उपशाखा की भाषा है। हम यह देख चुके है कि किसी समय गुजरात मे बोली जानेवाली प्राचीन भाषा, जो अव आधुनिक गुजराती द्वारा समाप्त की जा चुकी है, बाहरी उपशाखा से सम्वन्धित थी, और निश्चय ही, सिन्धी से उसका अतिनिकट का सबध था। मैं यह कह चुका हूँ कि गुजराती का अन्तर्भाव सिन्धी मे उसी की विभाषा कच्छी के द्वारा हो जाता है। यह केवल आशिक रूप मे ही सत्य है। कच्छी अपने विशुद्ध रूप मे, इन दोनो भाषाओ की मध्यवर्तिनी विभाषा नही है। यह गुजराती-भाषी पड़ोसियो से गृहीत कुछ गुजराती शब्दो से सयुक्त सिन्धी का एक मिश्रित भेद-मात्र है। मध्यस्थ की अपेक्षा इसे मिश्रित भाषा कहना अधिक उपयुक्त होगा। कच्छ प्रायद्वीप न केवल कच्छी लोगो से ही आबाद है, प्रत्युत राजपूताना तथा गुजरात से आये हुए लोगो की एक बडी सख्या वहाँ निवास करती है। बाद मे आनेवालो ने अपनी-अपनी भाषाओ को सुरक्षित रखा, किन्तु इनमे कच्छी भाषा का सम्मिश्रण भी हो गया है। इस प्रकार यह एक बहुभाषी प्रायद्वीप वन गया और वहाँ कुछ लोग मिश्रित सिन्धी बोलते है, जब कि दूसरे लोग मिश्रित राजस्थानी या मिश्रित गुजराती का व्यवहार करते है। प्रचलित भाषा मे ये समस्त मिश्रित भाषाएँ सयुक्त रूप से एक सामान्य शीर्षक 'कच्छी' के अन्तर्गत रखी जाती हैं। केवल इसी अववोध के कारण यह कहा जा सकता है कि सिन्धी मे गुजराती का अन्तर्भाव कच्छी के द्वारा हुआ है। जहाँ तक गुजराती के दक्षिण की मराठी की बात है, यह प्रश्न भिन्न

है। यहाँ किसी भी प्रकार का अन्तर्भाव नही होता, यहाँ तक कि जिस शब्दावली मे हमने कच्छी का सम्बन्ध व्यक्त किया है, उस रूप मे भी नही। यह जातिगत भिन्नता का प्रश्न है, और इन दोनो भाषाओ की सीमा का प्रदेश द्वि-भाषा-भाषी है। भौगोलिक रूप से ये दोनो जातियाँ मिश्रित है, किन्तु प्रत्येक की अपनी पृथक् बोलियाँ है—गुजराती बोलनेवाले भीतरी शाखा की भाषा गुजराती का, और मराठी भाषा-भाषी बाहरी शाखा की भाषा का व्यवहार करते हैं।

गुजराती का बोलीगत वास्तविक विभेद केवल-मात्र शिक्षितो तथा अशिक्षितो की बोलियो मे ही मिलता है। इनमे शिक्षितो की भाषा परिनिष्ठित गुजराती है और इनका स्वरूप स्कूलो मे पढाये जानेवाले गुजराती व्याकरण के अनुरूप होता है। अशिक्षितो की बोली परिनिष्ठित भाषा से प्रधानतया उच्चारण मे भिन्न, है, यद्यपि इसमे कुछ क्रिया के सक्षिप्त रूप भी मिलते है, जिनका साहित्यिक भाषा मे व्यवहार नही होता। उच्चारण का अतर प्राय सम्पूर्ण क्षेत्र की गुजराती मे सर्वत्र एक समान है। नियमत यद्यपि वे एक ही प्रकार के है, किन्तु दक्षिण गुजरात मे वे गौण रूप मे है, और जैसे-जैसे हम उत्तर की ओर चलते है वे अधिकाधिक प्रधान होते जाते है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय बात है कि अशिक्षित लोगो के ग्रामीण उच्चारण मे हम प्राचीन बाहरी उपशाखा की गुजराती के अवशिष्ट रूप पाते है और उनके द्वारा स्पष्ट रूप मे इस बात का भी सकेत मिलता है कि किस रूप मे उनके स्थान पर आधुनिक गुजराती के रूप आ गये है। ऐसे उदाहरणो मे यहाँ दो उल्लेखनीय है, जिनमे से एक—'स'—को—'ह'—रूप मे उच्चरित करने की प्रवृत्ति है और दूसरी दन्त्य तथा मूर्धन्य वर्णो मे भेद करने की अक्षमता है। ऐसे ही अन्य बहुत से उदाहरण है। साधारणतया पारसी तथा मुसलमान अपनी-अपनी विशेष बोलियाँ बोलते है, किन्तु उच्चारण तथा व्याकरणीय रूपो मे वे सामान्य रूप से अपने पडोसियो की बोलचाल की गुजराती का अनुसरण करते है। गुजरात के अधिकाश मुसलमान हिन्दुस्तानी बोलते है, किंतु जब वे गुजराती बोलते है तो उनकी भाषा मे मूर्धन्य तथा दन्त्य वर्णो के उच्चारण का भेद सर्वथा अस्पष्ट रहता है। यहाँ वे स्थानीय विभाषा की विशेषता अनिश्चित रूप मे प्रकट करते है, अन्य रूपो मे, एक ओर पारसी तथा मुसलमानो की गुजराती तथा दूसरी ओर अशिक्षित लोगो की साधारण बोलचाल की भाषा का मुख्य अतर उनके शब्द-समूह का है। मुसलमान तथा पारसी लोगो की गुजराती मे फारसी एव अरबी शब्दो का मुक्त रूप से व्यवहार होता है। इस देश के मूल निवासी यहाँ की विभा-

षाओ के नाम जातियो अथवा स्थानो के अनुसार रखते हैं, उदाहरणस्वरूप नागर ब्राह्मणो की भाषा का नाम 'नागरी' तथा मही नदी के तटवर्ती चरोतर क्षेत्र की भाषा का नाम 'चरोतरी' है। इन भाषाओ मे इतना अल्प अतर है कि यहाँ उसका उल्लेख विशेष रूप मे आवश्यक नही है। इनमे जो महत्वपूर्ण भाषाएँ है उनके सवध मे इस सर्वेक्षण मे विवरण दिया गया है। इनकी प्रकृति को देखते हुए इन वोलियो अथवा उपवोलियो मे किसी के भी वोलनेवालो की सख्या देना नितान्त असभव है। हम यह कह सकते हैं कि कितने व्यक्ति एक जाति से सवधित है, अथवा कितने लोग एक निश्चित क्षेत्र मे निवास करते है, किन्तु हम यह नही वता सकते कि उनमे से कितने लोग परिनिष्ठित भाषा का व्यवहार करते हैं और कितने मनुष्य अशिक्षितो की वोली का प्रयोग करते है। सन् १८९१ की जनगणना पर आधारित भाषा-सर्वेक्षण के अनुमान के अनुसार प्रत्येक प्रकार की गुजराती के समस्त वोलनेवालो की सख्या १,०६,४६,२२७ थी जो फारस की जनसख्या के वरावर है। सन् १९२१ की जनगणना के अनसार यह सख्या ९५,५१,९९२ है।

भाषा का इतिहास

यह एक सौभाग्य की वात है कि हमारे पास ऐसे अनेक प्राचीन कागज-पत्र तथा ग्रथ उपलब्ध है, जिनसे आधुनिक गुजराती का उस अपभ्रश से स्पष्टतया सवध दिखलाया जा सकता है, जिससे वह प्रादुर्भूत हुई है। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र (१२ वी शताब्दी) ने, जिनका व्याकरण विभिन्न प्राकृतो के सवध मे सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है, अपने ग्रथ के एक अध्याय मे साहित्यिक अपभ्रश से अनेक पदो को उद्धृत किया है। हेमचन्द्र स्वय गुजराती थे और यद्यपि उनके द्वारा प्रस्तुत किये हुए उदाहरण विभिन्न वोलियो के हैं तथापि इनमे से कुछ उस प्राचीन भाषा के ही उदाहरण है जिससे आधुनिक मारवाडी तथा गुजराती भाषाएँ प्रसूत हुई हैं। जहाँ तक प्राचीन काल मे, प्राचीन वाहरी उपशाखा की भाषा का आधुनिक गुजराती की पूर्वज भाषा के द्वारा समाप्त किये जाने का प्रश्न है, हमे इस विषय मे वहुत ही कम ज्ञान है। यह सभव है कि यह प्राचीन भाषा आधुनिक सिन्धी तथा आधुनिक मराठी की पूर्वज भाषाओ की मध्यवर्तिनी रही हो, क्योकि इसके अवशेष हमे न केवल आधुनिक गुजराती ही, वरन् मराठी की 'कोकणी' विभाषा मे भी मिलते हैं। किन्तु प्राचीन काल से ही ससार के विभिन्न भागो के लोगो द्वारा गुजरात इतना अधिक पदाक्रात होता रहा है कि निश्चयपूर्वक प्राचीन भाषा के किसी भी अग को

पुनरुज्जीवित करने मे हम समर्थ हो सकेंगे, इसकी बहुत ही कम आशा है। वर्तमान गुजरात, ग्रीक, बैक्टीरियन, हूण और सीदियन लोगो का एक विचित्र समन्वयात्मक रूप है। इनके अतिरिक्त गुर्जर, जादेज और काठी एव पारसी तथा अरब और पश्चिम से आगत अन्य सैनिको ने भारतीय आर्यो से मिलकर यहाँ की जनसख्या मे योगदान किया। ऐसे विचित्र मिश्रण मे यह बडे आश्चर्य की बात है कि प्राचीन उपशाखा के कतिपय लक्षण, जिन्हे इगित करने मे हम सफलीभूत हुए है, अभी तक अवशिष्ट है ।

साहित्य

गुजराती का साहित्य विशाल नही है, तो भी यह उससे तो विशाल ही है जितना लोग इसे समझते है। इसके सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि नरसिह मेहता थे। इनकी रचनाएँ क्रमबद्ध रूप मे आज भी उपलब्ध हैं। इनका समय पन्द्रहवी शताब्दी है। इनकी तथा इनके परवर्ती युग के अन्यान्य कवियो की रचनाएँ एक विशाल ग्रथ के रूप मे सकलित तथा प्रकाशित की गयी हैं, और इसका नाम रखा गया है "बृहत् काव्य-दोहन"। इसमे भी वीर-गाथाओ का अच्छा सग्रह हुआ है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसा कि राजस्थानी शीर्षक के अन्तर्गत पीछे लिखा जा चुका है। इसी के आधार पर फारबोस ने अपना 'रासमाला' नामक ग्रथ तैयार किया था। "बृहत् काव्य-दोहन" के कवियो तथा कवयित्रियो के अतिरिक्त गुजराती मे व्याकरण तथा अलकार शास्त्र पर ग्रथ लिखनेवाले भी कई लेखक हुए, विशेष कर भाषा के सबध मे दो ग्रथ उल्लेखनीय हैं, इनमे से एक है 'मुग्धावबोध-मौक्तिक' जिसकी रचना सन् १३९४ ई० मे हुई थी, इसके लेखक का नाम ज्ञात नही है। दूसरा ग्रथ गुणरत्न कृत 'क्रियारत्न-समुच्चय' है। इसका रचनाकाल सन् १४१० ई० है। ये दोनो सस्कृत व्याकरण के प्रारम्भिक ग्रथ हैं, अतएव इनका महत्व भी साधारण ही है, किन्तु इनकी रचना उस समय की गुजराती मे हुई है और सस्कृत के प्रत्येक व्याकरणीय रूप के साथ-साथ इनमे प्राचीन गुजराती के समानार्थी रूप भी दिये गये हैं। इस प्रकार इनमे पन्द्रहवी शताब्दी के प्रारम्भिक गुजराती व्याकरण के सुव्यवस्थित उपकरण उपलब्ध है। किसी भी अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा मे इस प्रकार के पुराने ग्रथ प्राप्त नहीं है। इनके द्वारा प्रारम्भिक वैदिक युग से लेकर, बिना किसी अवरोध के, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा राजस्थानी एव गुजराती की पूर्वज भाषाओ मे होते हुए वर्तमान समय के

पारसी समाचार-पत्रो के गुजराती भाषा तक के ऐतिहासिक विकास की खोज करने मे हम समर्थ हैं। इस लम्बे विकास के प्रत्येक युग की व्याकरण-सबधी सामग्री हमे गुजराती मे मिलती है।

लिपि

पहले गुजराती मे पुस्तको के लिखने मे नागरी लिपि का प्रयोग किया जाता था। पिछली शताब्दी के आरम्भ मे प्रकाशित, कैरी-कृत न्यू टेस्टामेट (बाइबिल) का अनुवाद नागरी लिपि मे ही छपा था किन्तु साधारण कार्यों के लिए यहाँ एक अन्य लिपि भी व्यवहृत होती थी। यह लिपि भी नागरी लिपि मे थोडा बहुत परिवर्तन करके बनायी गयी है तथा उत्तरी भारत मे यह कैथी के नाम से प्रख्यात है। बिहारी की ही भाँति अब यह गुजरात की प्रशासकीय लिपि बन गयी है और गुजराती की प्राय समस्त पुस्तकें तथा समाचार-पत्र आदि इसी लिपि मे मुद्रित होते है।

भीली तथा खान्देशी

गुजराती एव पश्चिमी राजस्थानी से अति निकट से सबधित दो और बोलियो के समुदाय बडे महत्व के है, जिन पर पृथक् भाषा के रूप मे विचार करना आवश्यक है। ये है भीली तथा खान्देशी, इनमे से खान्देशी को 'अहिराणी' अथवा 'ढेड गूजरी' के नाम से अभिहित किया जाता है। भीली अजमेर तथा आबू की पहाडियो के मध्य-भाग मे बोली जाती है, यहाँ से यह विभिन्न बोलियो के रूप मे गुजरात के उस पर्वतीय प्रदेश तक प्रसरित है जो गुजरात को राजस्थान तथा मध्य भारत से पृथक् करता है। दक्षिण मे यह सतपुडा पर्वतमाला तक फैली हुई है तथा मार्गस्थित नर्मदा नदी को पार कर यह ऊपर की ओर भी विस्तृत प्रदेश को अधिकृत किये हुए है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह इस क्षेत्र की वन्य जाति, भीलो की भाषा है। सतपुडा के दक्षिण मे खान्देश का जिला तथा निमाड की बुरहानपुर तहसील स्थित है। इनमे निमाड तो खान्देश के मैदानी भाग से सलग्न है। यहाँ खान्देशी बोली जाती है। इसके कुछ और दक्षिण मे सूरत से नासिक तक के पर्वतीय प्रदेश मे, बहुसख्यक वन्य जातियां जैसे, नैकी, ढोडिया, गामटी और चौधरी आदि पायी जाती हैं। ये सभी लोग खान्देशी से सबधित विभाषाओ का व्यवहार करते हैं। भीली तथा खान्देशी, दोनो मे ही आर्येतर भाषाओ के चिह्न मिलते हैं किंतु ये इतने अल्प हैं कि इनका निश्चित अभिज्ञान कठिन है। इनका आधार या तो मुण्डा

अथवा द्रविड़ भाषा रही होगी। इनमे भी मुण्डा की ही अधिक सभावना है। बाद मे ये आर्य भाषा के साँचे मे ढली होगी और आज तो ये पूर्ण रूप से आर्य-भाषाएँ हैं। भीली को गुजराती तथा राजस्थानी के बीच की कडी कहा जा सकता है, इतना ही नहीं, इसे गुजराती की पूर्वी विभाषा भी मानना उचित होगा। ये विभाषाएँ विभिन्न नामो से अभिहित की जाती हैं (कम मे कम इनके २८ विभिन्न रूपो का विवरण सर्वेक्षण मे दिया गया है) किंतु निश्चित रूप से ये सभी एक भाषा के रूप मे हैं। गुजराती के कतिपय अन्य स्थानीय एव ग्रामीण रूपो की भाँति इनमे उत्तर-पश्चिम की बाहरी भाषाओ और दर्दीय भाषाओ तक के भी कुछ लक्षण विद्यमान हैं।[1] जैसे-जैसे हम दक्षिण की ओर इन बोलियो का अनुसरण करते चलते है, इनमे पडोस की मराठी का कुछ न कुछ प्रभाव पाते हैं, किंतु यह प्रभाव केवल उधार लिये हुए शब्दो के रूप मे ही है। जिस प्रकार अरबी तथा फारसी

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
भीली	२६,९१,७०१	१८,५५,६१७
खान्देशी विभाषाएँ	१२,५३,०६६	२,१३,२७२[2]

शब्दो के ग्रहण से हिन्दुस्तानी पर कोई प्रभाव नहीं पडा, ठीक उसी भाँति इन उधार लिये शब्दो ने इनके रूप-गठन पर तनिक भी प्रभाव नही पड़ा। खान्देशी तथा उसकी अन्य विभाषाओ की भी ऐसी ही प्रवृत्ति है, किंतु इसमे मराठी का अधिक मिश्रण हुआ है—यहाँ तक कि कुछ-कुछ इसकी गठन तक पर मराठी व्याकरण का प्रभाव पडने लगा है। इस कारण और चूँकि यह प्रधानतया बम्बई प्रदेश मे बोली जाती है, यह एक स्वतत्र भाषा मानी जाती है, किंतु भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से इसे भीली से पृथक् नहीं किया जा सकता।

१. यह बहुत सम्भव है कि पैशाची प्राकृत का एक रूप भील प्रदेश के पड़ोस में प्रचलित हो, यद्यपि पैशाची का मुख्य स्थान उत्तर-पश्चिम पजाब मे था। इस सबध मे अध्याय १० देखो।

२ अनेक खान्देशी भाषा-भाषियो को भीली अथवा मराठी के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है।

सियाल गीरी, १२० (सर्वेक्षण)

अपने मुख्य क्षेत्र के अतिरिक्त हम भीली विभाषाओ को उन स्थानो मे भी पाते है जहाँ हमे उनके होने का रचमात्र भी सदेह नही होता। दूरस्थ उडीसा प्रदेश तथा वगाल के मिदनापुर जिले मे मूल स्थान से हजारो मील दूर सर्वेक्षण मे सियालगीर नाम की एक ऐसी यायावर जाति का पता लगा है जो भीली भाषा का व्यवहार करती है। सभवत इन्होने अपने देश के कल्याण के लिए ही अपने मूल स्थान का त्याग किया था, क्योकि इनका वर्णन चोर जाति के रूप मे ही किया गया है। वगाल मे ये लगभग छ-सात पीढी पूर्व, मराठा-आक्रमण के साथ आये थे।

वाओरी, ४३००० (सर्वेक्षण)

पजाव मे 'वावरिया' नाम की एक आखेटप्रिय जगली जाति पायी जाती है। वे लोग भी भीली वोली का ही व्यवहार करते है। यह 'वाओरी' नाम से प्रसिद्ध है।

पहाड़ी भाषाएँ

अव हमे पश्चिमी भारत को यही छोडकर तीन पहाडी भाषाओं पर विचार करना है। 'पहाडी' शब्द का अर्थ है 'पहाड की' अथवा 'पहाडी से सवधित'। सुविधा के लिए यह नाम पूर्व मे नेपाल से लेकर पश्चिम मे भद्रवाह तक, हिमालय की निचली पर्वतमालाओ मे वोली जानेवाली तीनो समुदाय की भारतीय आर्य-भाषाओ के लिए प्रयुक्त किया जाता है। विस्तार मे जाने के पूर्व यह अधिक उपयुक्त होगा कि इस क्षेत्र की भाषा के इतिहास के सम्वन्ध मे सक्षेप मे विचार कर लिया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के आदिम निवासी आधुनिक मुण्डा-भाषियो के पूर्वजो की भाषा के समान ही भाषा का व्यवहार करते थे। ये लोग या तो तिव्वती-वर्मी लोगो द्वारा स्थानान्तरित कर दिये गये या उनसे पराजित हो गये। तिव्वती-वर्मी लोगो ने वस्तुत- उत्तर की ओर से हिमालय पर्वत को पार किया और इसके दक्षिणी भाग मे वस गये। इस प्रकार यह क्षेत्र तिव्वती-वर्मी-भाषियो से आवाद हुआ और वर्तमान युग मे भी यह उसी रूप मे है। किंतु इससे मूल-मुण्डा लोगो का अस्तित्व पूर्णतया समाप्त नही हो सका और उनकी भाषाएँ यद्यपि तिव्वती-वर्मी उपकुल से सवधित हैं, तथापि अव भी इनमे मुण्डा भाषाओ के मुहावरे मिलते है[1], और इन्हे वडी सरलतापूर्वक पहचाना भी

१. देखो अध्याय २।

जा सकता है। परवर्ती युगो मे भी ये तिब्बती-वर्मी लोग अकेले तथा पृथक् न रह सके। इनमे सलग्न, ठीक दक्षिण मे स्थित, भारत के मैदानी भू-भाग मे आर्य लोग निवास करते थे। इन लोगो ने हिमालय की ओर प्रयाण किया और सहज-प्रवेश-योग्य घाटियो मे ये अपनी भाषा और सस्कृति सहित वस गये। इस प्रकार नेपाल मे, गोरखा आक्रमण के पूर्व, हम विहारी की मैथिली विभाषा के समान ही एक ऐसी भाषा पाते है, जो नेपाल के ठीक दक्षिण मे वोली जाती थी। यह भाषा नेपाल मे शासकीय भाषा के रूप मे व्यवहृत होती थी, और इसमे लिखित एक नाटक आज भी सुरक्षित है।[1] किंतु दूसरा और भाषाशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण आर्य-भाषा का प्रभाव पश्चिम से आया।

सपादलक्ष

वर्तमान नेपाल राज्य के पश्चिम मे, कुमायूँ, गढवाल तथा शिमला के आसपास का उप-हिमाचलीय क्षेत्र सस्कृत युग मे 'सपादलक्ष' अथवा 'सवा-लाख' (पर्वतो के प्रदेश) के नाम से विख्यात था। इसका आधुनिक समानार्थी शब्द 'सवा-लाख' गढवाल के दक्षिण तथा सहारनपुर जिले मे प्रसिद्ध 'सिवालिक' पर्वत के रूप मे आज भी सुरक्षित है।

कसिओइ

वर्तमान युग मे सपादलक्ष प्रदेश मे, पश्चिम मे 'कनेत' तथा पूर्व मे 'खस' जातियाँ निवास करती है, जिनका प्रधान व्यवसाय कृषि है। 'कनेत' लोग दो उपजातियो मे विभक्त हैं। इनमे से प्रथम उपजाति 'खसिया' नाम से प्रसिद्ध है, जो अपने शुद्ध होने का दावा करती है और अन्य लोग 'राव' (राजा अथवा राजपूत) कहे जाते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि वे सकर जाति के हैं। दूसरी ओर, इस क्षेत्र के समस्त मुखियागण अपने को राजपूत वश का वतलाते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण सपादलक्ष प्रदेश मे ऐसे वहुत से लोग है, जो अपने को 'खस' अथवा 'खसिया' नाम से सम्बोधित करते हैं। यह लोग सस्कृत-साहित्य के 'खश', 'खस' अथवा

१. देखो सन् १८९१ मे कोनार्डी (Conardy) द्वारा सम्पादित 'हरिश्चन्द्र-नृत्य'।

'खशीर' लोगो का प्रतिनिधित्व करते है, तथा ये लोग ग्रीक भूगोलवेत्ताओ द्वारा वर्णित कसिओई लोग ही है, इनमे किसी प्रकार की गुजायश नही है। पिशाच लोगो की ही भाँति, जिनकी भाषा से आधुनिक दर्दीय भाषाओ की उत्पत्ति हुई हे, इनके प्रति भी यह कहा जाता हे कि यह लोग कश्मीर के सस्थापक कश्यप के ही वशज है। कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रथ 'राजतरगिणी' मे उन्हे प्राय वहाँ के शासको के पार्श्व मे चुभनेवाले कटक की भाँति चित्रित किया गया है। महाभारत मे उन्हे बहुधा पश्चिमोत्तर देशवासी तथा पिचाश और कश्मीर निवासियो से विशेष सवधित वताया गया है। वे आर्य थे, किन्तु वे विशुद्ध आर्य-सम्यता की परिधि के बाहर ही रह गये थे। अन्य सस्कृत ग्रथो ने, जैसे कि हरिवश पुराण और विभिन्न स्मृति-ग्रथो न एक मत से उनका पश्चिमोत्तर प्रदेश मे होना स्वीकार किया है। परवर्ती युग मे, वे पूर्व की ओर सम्पूर्ण सपादलक्ष प्रदेश मे फैल गये, और जहाँ आज हम उन्हे पाते है, उस उर्वर भूमि को जीतकर अधिकृत कर लिया। इसके कुछ और वाद, प्राय सोलहवी शताब्दी मे वे नेपाल मे गोरखा-आक्रमण मे अग्रसर हुए। वहाँ तिब्बती-अथवा मुण्डा जातियो मे, जिन्हे उन्होंने वहाँ पाया था, वे मिल गये और खस जाति के रूप मे उसी देश के शासक वन बैठे। हम यह देख चुके है कि प्राचीन काल मे ये खस लोग पिशाचो से सम्बन्धित थे। मूलत वे निश्चित रूप से उन्ही की भाँति एक दर्दीय भाषा बोलते थे, क्योकि सम्पूर्ण 'सपादलक्ष' प्रदेश मे इस भाषा की विशेषताएँ उपलब्ध हुई हैं। हम ज्यो-ज्यो पूर्व की ओर बढते हैं, त्यो-त्यो भाषा की ये विशेषताएँ लुप्त होती जाती है।

गुर्जर

राजस्थानी का विवरण देते समय इस वात का उल्लेख किया जा चुका है कि गुर्जर अथवा आधुनिक गूजरो ने राजपूताना के इतिहास मे महत्वपूर्ण भाग लिया था।[1] ये लोग भारतवर्ष मे, सर्वप्रथम, लगभग पाँचवी या छठी शताब्दी मे आये थे। इनकी एक शाखा ने इस 'सपादलक्ष' प्रदेश को अधिकृत कर लिया था और ये यहाँ के 'खस' जाति के लोगो मे मिल गये। पश्चिमी सपादलक्ष मे ये 'कनेत' की एक उप-जाति 'राव' के रूप मे परिणत हो गये, किन्तु इन्हें प्राचीन खसिया तथा कनेत लोगो ने

१. देखो अध्याय १५, 'राजस्थानी तथा गुजराती'।

अपनी जाति मे अपने समान मर्यादा नही दी। ये गुर्जर कृषि-कर्म अथवा पशु-पालन के व्यवसाय मे प्रवृत्त हुए। इनके युद्ध-प्रिय लोगो को, जैसा कि हम देख चुके है, राजपूत जाति मे सम्मिलित कर लिया गया। गुर्जर लोग सपादलक्ष से निकलकर गंगा के कांठे से होते हुए मेवात और यहाँ से वे पूर्वी राजपुताना मे जा बसे। बाद मे, मुसलमान शासन के दबाव के कारण इन राजपूतो ने पुन सपादलक्ष की ओर प्रत्यावर्तन किया फिर वही बस गये। वास्तव मे, सपादलक्ष प्रदेश तथा राजपूताना मे निरतर यह पारस्परिक आवर्त्तन-विवर्त्तन चलता रहा। अन्ततोगत्वा, जैसा हम देख चुके हैं, नेपाल को खस जाति के लोगो ने अधिकृत कर लिया। इनके साथ अनेक गुर्जर राजपूत भी थे। लोग यह बात स्वीकार कर चुके थे कि आधुनिक काल की समस्त पहाडी भाषाएँ राजस्थानी से बहुत अधिक सम्बन्धित हैं और ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि वास्तव मे यह किस प्रकार से हुआ था।[1]

तीन पहाड़ी भाषाएँ

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
पूर्वी पहाडी	१,४३,७२१	२,७९,७१५
मध्य पहाड़ी	११,०७,६१२	३,८५३[2]
पश्चिमी पहाड़ी	८,५३,४६८	१६,३३,९१५
अनिर्णीत	.	५४
योग	२१,०४,८०१	१९,१७,५३७

भारतीय आर्य-भाषाओं की भीतरी उपशाखा के पहाडी समुदाय की भाषाएँ तीन वर्गो मे विभाजित की गयी हैं, जिन्हें क्रमश पूर्वी पहाडी, केन्द्रीय पहाडी तथा पश्चिमी पहाडी भाषाओ के नाम से अभिहित किया जाता है।

१. इस प्रश्न के सम्बन्ध मे सर्वेक्षण के खण्ड ९, भाग ४ मे विस्तृत रूप से विचार किया गया है। यहाँ सामान्य परिणामो के अतिरिक्त और कुछ देना सम्भव नहीं है।

२. जनगणना में मध्य पहाड़ी बोलने वालो को पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत दिखाया गया है। अतएव इनकी संख्या ठीक रूप मे देना असम्भव है।

पूर्वी पहाडी या नेपाली

साधारणत पूर्वी पहाडी को यूरोपीय विद्वान् 'नेपाली' अथवा 'नैपाली' नाम से सम्बोधित करते हैं। किन्तु यह नाम उपयुक्त नही है क्योकि यह मुख्य रूप से नेपाल की भाषा नही है। इस राज्य की मुख्य भाषा तिव्वती-बर्मी परिवार की है जिसमे 'नेवारी का प्रमुख स्थान है। 'नेवार' नाम भी नेपाल से ही निकला है। पूर्वी पहाडी के अन्य नाम है—'परबतिया' अथवा पर्वतो की भाषा, 'गोरखाली' या गोरखो की भाषा तथा 'खसकुश' अथवा खस जाति की भाषा। नेपाली ब्रिटिश भारत (अब भारतीय गणतन्त्र) की भाषा नही है। यह नेपाल राज्य मे बोली जाती है—इसी कारण इसकी जनगणना के अक उपलब्ध नहीं है। सर्वेक्षण मे नेपाली भाषा-भाषियो की सख्या १, ४३, ७२१ दी हुई है। यह सख्या वस्तुत उन लोगो की है जो अस्थायी अथवा स्थायी रूप से ब्रिटिश भारत मे निवास करते है। इनमे से अधिकाश तो गोरखा रेर्जा-मेट के सैनिक है।

नेपाल मे आर्य-भाषा का प्रवेश, वस्तुत, आधुनिक इतिहास का विषय है। सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे मुसलमानी आक्रमणो के दबाव के कारण मेवाड के कुछ राजपूतो ने उत्तर की ओर प्रयाण किया और गढवाल, कुमायूँ तथा पश्चिमी नेपाल के गुर्जरो तथा खस लोगो मे बस गये। सन् १५५९ ई० मे इनके एक दल ने गोरखा शहर को, जो काठमाडू से लगभग ७० मील उत्तर-पश्चिम मे है, जीत लिया। सन् १७६८ ई० मे गोरखो के पृथ्वीनारायण शाह ने अपने को सम्पूर्ण नेपाल का अधिपति घोषित किया और वर्तमान गोरखाली वश की स्थापना की। उन्होने गोरखा से लायी हुई राजस्थानी तथा खस के सम्मिश्रण से निर्मित भाषा को अपने दरबार की भाषा बनाया। तभी से यह आर्य-भाषा नेपाल की शासकीय भाषा के रूप मे चली आ रही है। इसने पुरानी मैथिली की निकटतम प्राचीन भाषा को समाप्त कर दिया, जो कि पूर्व समय मे वहाँ आर्य भाषा के रूप मे व्यवहृत होती थी। चूंकि नेपाल की अधिकाश जनता तिव्वती-बर्मी है—खस विजेताओ की सख्या अपेक्षाकृत कम है—इसलिए यहाँ पर केवल जातियो का ही सम्मिश्रण नही हुआ है, अपितु भाषाओ का भी सम्मिश्रण हुआ है। पूर्वी पहाडी ने अपने शब्द-समूह तथा कतिपय व्याकरणीय रूपो को भी तिव्वती-बर्मी भाषाओ से ग्रहण किया है। यद्यपि स्पष्ट रूप से इसका राजस्थानी से सबध है, तथापि इसका अब मिश्रित रूप ही दृष्टिगोचर होता है। न केवल बहुत से शब्द ही, प्रत्युत इसके व्याकरण के मुख्य रूप भी लिये गये हैं—उदाहरणस्वरूप इसमे सकर्मक क्रिया के सभी कालो

के साथ कर्तृकारक का प्रयोग हुआ है तथा क्रिया के आदरसूचक रूप भी इसमे पडोस की तिब्वती-वर्मी भाषा से ग्रहण किये गये है। भाषा के रूप मे यह परिवर्तन प्रत्येक दशक के साथ बढ रहा है और तिब्वती-वर्मी भाषा की कुछ विशेषताएँ जो इस भाषा मे प्रविष्ट हुई हैं, आज भी कुछ लोगो की स्मृति मे वर्तमान है।

विभाषाएँ

इसमे सदेह नही कि पर्वतीय प्रदेश मे बोली जाने के कारण पूर्वी पहाडी की अनेक विभाषाएँ हैं। इनमे से 'पाल्पा' नाम की विभाषा पश्चिमी नेपाल मे बोली जाती है। सिरामपुर के मिशनरी लोगो ने, इसमे, विगत शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे, न्यू टेस्टामेन्ट (बाइबिल) का अनुवाद किया था। चूंकि नेपाल एक स्वतत्र राज्य है तथा वहाँ यूरोपीय लोगो का बहुत कम प्रवेश है, अतएव इसकी भाषा की रूपरेखा जानने के लिए केवल-मात्र यही सामग्री है। काठमाडू की बोली परिनिष्ठित है। इसका मुद्रित साहित्य अत्यल्प तथा नितान्त आधुनिक है।

लिपि

अभी कुछ ही वर्ष पहले पूर्वी नेपाल की भाषा को दार्जिलिंग के मिशनरियो ने व्याकरण तथा बाइबिल के अनुवाद के लिए परिनिष्ठित भाषा के रूप मे ग्रहण किया है। पूर्वी पहाडी-भाषा नागरी लिपि मे लिखी तथा छापी जाती है।

मध्यवर्ती पहाड़ी

मध्य की पहाड़ी, पूर्वी सपादलक्ष मे बोली जानेवाली विभाषाओ को अपने मे सम्मिलित कर लेती है; जैसे—ब्रिटिश राज्य के कुमायूँ तथा गढ़वाल के जिलो तथा गढ़वाल राज्य की भाषाएँ। इसकी दो विख्यात विभाषाएँ हैं। इनमे से 'कुमायुनी' कुमायूँ (नैनीताल के पहाडी प्रदेशो) मे बोली जाती है, तथा 'गढ़वाली'—ब्रिटिश एव स्वतत्र गढवाल और मसूरी के पहाड़ी प्रदेश के निकटवर्ती क्षेत्रो मे बोली जाती है। ये विभाषाएँ स्थान-स्थान पर बदलती गयी है, यहाँ तक कि प्रत्येक परगने की बोली का अपना भिन्न रूप है तथा प्रत्येक का अपना स्थानीय नाम भी है। इन दोनो प्रमुख विभाषाओं मे से किसी का भी साहित्यिक इतिहास नही है। सिरामपुर के मिशनरियो ने इन दोनो मे ही न्यू टेस्टामेंट (बाइबिल) का अनुवाद प्रस्तुत किया है, तथा अभी हाल ही मे बाइबिल का अन्य अश भी गढवाली मे रूपान्तरित किया गया है। पिछले

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
कुमायुनी	४,३६,७८८	
गढवाली	६,७०,८२४	
योग	११,०७,६१२	३,८५३[1]

कुछ वर्षों मे कुमायुनी मे कतिपय पुस्तको की रचना हुई है तथा गढवाली मे भी एक दो पुस्तकें लिखी गयी हैं। जहाँ तक मैंने देखा है, दोनो ही विभाषाएँ लिखने तथा छापने मे नागरी लिपि का व्यवहार करती है।

पश्चिमी पहाडी

पश्चिमी पहाडी उन अनेक सम्वन्धित विभाषाओ का सामूहिक नाम है जो सपाद-लक्ष मे बोली जाती हैं। इनका राजनीतिक केन्द्र शिमला है जो भारत सरकार का

पश्चिमी पहाडी

	सर्वेक्षण	१९२१ की जनगणना
जौनसारी	४७,४३७	४,२७,७०२ (जौनसारी, सिरमौरी, बघाटी, क्योठाली)
सिरमौरी	१,२४,५६२	
बघाटी	२२,१९५	
क्योठाली	१,८८,७६३	
सतलज वर्ग	३८,८९३	१,२६,७९३ (सतलज वर्ग, कुलू वर्ग)
कुलू वर्ग	८४,६३१	
मडी वर्ग	२,१२,१८४	२,३७,९३४
चम्वा वर्ग	१,०९,२८६ (चम्वा वर्ग, भद्रवाह वर्ग)	१,३९,२६२
भद्रवाह वर्ग	२५,५१७	७,०२,२२४
अनिर्णीत	.	
योग	८,५३,४६८	१६,३३,९१५

१. देखो पृष्ठ ३५४ की पाद टिप्पणी

ग्रीष्मकालीन हेडक्वार्टर है। इन विभाषाओ का कोई परिनिष्ठित रूप नही है, तथा कुछ लोक-महाकाव्यो के अतिरिक्त इनमे कोई साहित्य भी नही है। जिस क्षेत्र मे ये बोली जाती हैं वह उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर प्रदेश से लेकर पजाब की सिरमौर रियासत, शिमला की पहाडियो, कुलू तथा मडी एव चम्बा की रियासतो और कश्मीर की भद्रवाह जागीर तक मे प्रसरित है। इस भाषा की बहुसख्यक बोलियाँ हैं। ये सब एक-दूसरी से काफी भिन्न हैं, किन्तु इतने पर भी इनमे अनेक समानताएँ है। सुविधा-नुसार इन्हें हम सूची मे दिये गये नौ शीर्षको के अन्तर्गत विभाजित कर सकते है।

जौनसारी, सिरमौरी, बघाटी

इनमे से जौनसारी भाषा उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले के जौनसार-बावर क्षेत्र मे, जो पजाब की सिरमौर रियासत तथा गढवाल की सीमारेखा पर स्थित है, बोली जाती है। यह सिरमौरी तथा गढवाली के बीच की मध्यस्थ भाषा है, किन्तु इसके दक्षिण मे बोली जानेवाली, शेष देहरादून की भाषा, पश्चिमी हिन्दी का इसमे अत्यधिक मिश्रण हुआ है। सिरमौरी, जिसके अन्तर्गत तीन विशिष्ट बोलियाँ आती है, सिरमौर राज्य मे तथा जुब्बल रियासत के दक्षिणी भाग मे बोली जाती है। जौनसारी से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु गिरि नदी के उत्तर तथा जुब्बल रियासत मे यह क्योठाली मे मिलने लगती है। सिरमौरी, जौनसारी के पश्चिम मे स्थित है। इसके और भी दक्षिण मे हम बघाटी विभाषा को पाते हैं। यह तीनो सम्मिलित रूप से पश्चिमी पहाडी विभाषाओ की दक्षिणी सीमा निर्धारित करती हैं। बघाटी, बघाट राज्य तथा निकटवर्ती प्रदेश की भाषा है। इसके क्षेत्र के अन्त-र्गत कसौली तथा डगशाई की सैनिक चौकियाँ आती है। यह सिरमौरी तथा क्यो-ठाली के बीच की विभाजक भाषा है।

क्योंठाली

क्योठाली शिमला की पर्वतीय रियासतो के मध्यभाग की भाषा है। यह स्वत शिमला के चारो ओर तथा क्योठाल रियासत मे बोली जाती है। क्योठाल रियासत के नाम के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। यह एक राज्य से दूसरे राज्य मे अत्यधिक भिन्नता प्रदर्शित करती है। यहाँ तक कि एक परगने से दूसरे परगने मे भी यह बदल जाती है। यही कारण है कि इसके कम से कम सात रूपो का आकलन सर्वेक्षण मे किया गया है।

सतलज की विभाषाएँ कुलुई

शिमला के उत्तर मे कुलू प्रदेश स्थित है। इन दोनो को सतजल नदी पृथक् करती है जिसके दोनो तटो पर दो बोलियाँ बोली जाती है। ये वस्तुत शिमला तथा कुलुई के बीच एक सेतु का निर्माण करती हैं। ऊपर की तालिका मे दिये गये सतलज वर्ग मे ये विभाषाएँ ही शामिल हैं। कुलू की तीन विभाषाएँ हैं, इनमे से कुलुई तो मुख्य है, इनके अतिरिक्त दो और विभाषाएँ है। कुलू के पश्चिम तथा शिमला की पहाडी रियासतो के उत्तर मे मुकेत की रियासत है और इसके भी उत्तर मे मडी है। यहाँ हमे मडी वर्ग की विभाषाएँ मिलती है। इनकी चार उप-भाषाएँ है, जिनमे मडियाली तथा सुकेती सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

मडियाली के पश्चिम मे पजाब का काँगडा जिला अवस्थित है। यहाँ की भाषा पजाबी का ही एक रूप हैं। हमे इस बात पर आश्चर्य नही करना चाहिए कि मडी वर्ग की विभाषाएँ पजाबी मे अन्तर्लीन होनेवाली दक्षिणी कुलुई का प्रतिनिधित्व करती है।

चमेयाली, गादी

कुलू के उत्तर-पश्चिम तथा काँगडा के उत्तर मे चम्बा रियासत है। यहाँ चार बोलियाँ है, जिनमे सबसे महत्वपूर्ण रियासत की प्रमुख भाषा चमेयाली है। अन्य विभाषा गादी है, जो गद्दी लोगो द्वारा बोली जाती हे। यह एक पशुपालक जाति है, जो कुलू की सीमा पर, रियासत की भरमौर विजारत मे निवास करती है। इनके बोलनेवाले पजाब के मैदानो से निष्क्रमण करनेवालो के वशज है, जिन्होने मुसलमानो के अत्याचार से बचने के लिए यहाँ शरण ली थी। अब वे चमेयाली के एक रूप का व्यवहार करते हैं। इनके उच्चारण की विशेषता यह है कि ये स्काटलैण्ड की भाषा के लॉच (loch) शब्द की भाँति प्रत्येक –श्–ध्वनि का उच्चारण –'च्'–की तरह करते है।

पगवाळी

चम्बा रियासत के धुर उत्तर मे पगी का अत्यन्त मनोरम किन्तु निर्जन पर्वतीय क्षेत्र अवस्थित है। यहाँ की भाषा 'पगवाळी' कही जाती है। यह भी चमेयाली का ही एक रूप है, किन्तु इसमे कश्मीरी के सम्मिश्रण के लक्षण प्रकट होने लगे है। अन्तत चम्बा खास तथा पगी से उत्तर पश्चिम मे भद्रवाह जागीर तथा पाडर

जिला स्थित है। ये दोनो ही कश्मीर मे हैं। इनके आगे कश्मीर खास है। यहाँ की भाषा कश्मीरी है। इस प्रकार यहाँ इस बात की अपेक्षा की जा सकती है कि भद्रवाह तथा पाडर की भाषाएँ, चमेयाली तथा कश्मीरी के बीच की कड़ियाँ हो और वास्तव मे ऐसा ही है भी।

भद्रवाही, भळेसी, पाडरी

इस क्षेत्र की विभाषाएँ भद्रवाह वर्ग का निर्माण करती हैं। इनकी सख्या तीन है; भद्रवाही तथा उसकी उपविभाषाएँ भळेसी एव पाडरी।

इस प्रकार पश्चिमी पहाड़ी की बहुसख्यक विभाषाओ का यह सर्वेक्षण मोटे तौर पर समाप्त हुआ, तथा हम केन्द्रीय पहाड़ी की खास विभाषाओ का, शिमला की पर्वतमालाओ से होते हुए भद्रवाह तथा पाडर की अर्द्ध कश्मीरी बोलियो मे क्रमिक परिवर्तन खोजने मे समर्थ हो सके।

लिपि

पश्चिमी पहाड़ी टक्करी लिपि मे लिखी जाती है। जैसा कि पहले ही सकेत किया जा चुका है यह वही लिपि है जिसमे पजाबी[1] की विभाषा डोगरी लिखी जाती है। प्राय स्वर-ध्वनियो के अपूर्ण चिह्नो की उपस्थिति के कारण इसमें लडा लिपि की बहुत सी असुविधाएं भी हैं। साधारणतया इसमे मध्यवर्ती ह्रस्व स्वरो को विलकुल ही छोड़ दिया जाता है, और मध्य दीर्घ स्वरो को प्रारम्भिक स्वरो के चिन्हो द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, चाहे वे दीर्घ हो या ह्रस्व। चमेयाली मे इस लिपि को उसके छूटे हुए चिह्नो के सहित पूर्णरूप मे व्यवहृत किया गया है, इसी लिए इसमे मुद्रित ग्रन्थ उतने ही स्पष्ट तथा ठीक हैं, जितनी कि नागरी लिपि मे मुद्रित पुस्तकें।

हिमालय की भाषाएँ तथा राजस्थानी

यदि थोड़ी देर के लिए पूर्वी पहाडी को विचार-कोटि से पृथक् कर दिया जाय तो हम यह कह सकते हैं कि हिमालय के निचले भाग मे, पूर्व मे कुमायूँ से लेकर

१. देखो, अध्याय १५, डोगरी बोली।

पश्चिम मे अफगान सीमा तक, चार भाषाओ का क्षेत्र है। इनमे से पूर्व मे केन्द्रीय पहाड़ी, पश्चिम मे पश्चिमी पहाडी और अन्तत. सुदूर पश्चिम मे कश्मीरी तथा उत्तर मे लहँदा की विभाषाएँ हमे मिलेंगी। हम यह देख चुके है कि इन सभी



मध्य पहाड़ी और पूर्वी राजस्थानी
पश्चिमी पहाड़ी और पश्चिमी राजस्थानी
उत्तरी लहँदा तथा कश्मीरी और गुजराती

चित्र १७

भाषाओं का दर्दीय भाषाओ से प्राचीन सम्बन्ध है। और यह भी दिलचस्प वात है कि राजपूताना तथा गुजरात की भाषाओ से भी इन सवका, अपेक्षाकृत, अति निकट का सम्बन्ध है। गगा के काँठे के उस पार, तथा कुछ और पश्चिम मे, पजाब के आगे हिमालय की पर्वतीय भाषाओ के साथ-साथ हम स्पष्ट रूप से भाषाओ का एक त्रिगुट समुदाय भी पाते हैं। केन्द्रीय पहाडी के समक्ष और पश्चिमी हिन्दी के पार पूर्वी राजस्थानी स्थित है, पश्चिमी पहाड़ी के सामने और पजाबी के उस ओर मारवाडी तथा पश्चिमी राजस्थानी की सम्वन्धित विभाषाएँ हैं; तथा कश्मीरी एव पश्चिमी लहँदा के सम्मुख, एव दक्षिणी लहँदा और सिंधी के उस ओर, तथा

पश्चिमी राजस्थानी के दक्षिण-पश्चिम मे गुजराती का क्षेत्र है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध ऊपर के मानचित्र मे स्पष्ट किया गया है। किन्तु यह समानान्तरता केवल भौगोलिक ही नही, है अपितु यह इन भाषाओ की विशिष्टताओं मे भी परिलक्षित होती है।

इनमे से प्रत्येक भाषा अपनी प्रतिमुख भाषा से समानता प्रकट करती है और अपनी पडोसी भाषाओ से विलक्षण रूप से पृथक्ता रखती है। इस प्रकार मध्य-पहाड़ी अपने सम्मुख की पूर्वी राजस्थानी भाषा से उसके सम्बन्वकारक के अनुसर्ग –'को'– तथा सहायक क्रिया की धातु–'अछ्'– को ग्रहण करते हुए उससे समानता रखती है, जब कि शिमला-पर्वतमालाओ की पश्चिमी पहाड़ी के सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग–'रो'–पश्चिमी राजस्थानी की विभाषाओ की भाँति है, तथा इसकी एक सहायक क्रिया (आ=है) सभवत उसी मूल की है, जिस मूल से पश्चिमी राजस्थानी की सहायक क्रिया–'है'–की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् हम दक्षिणी त्रिगुट की गुजराती पर आते हैं। यहाँ सम्बन्ध-कारक का अनुसर्ग–'नो'– है, और सहायक क्रिया-'अछ्'–समुदाय की है। उत्तर की तत्सम्बवित भाषाएँ कश्मीरी तथा उत्तरी लहँदा हैं। इनमे लहँदा भाषा का सम्बन्व-कारक का अनुसर्ग–'नो'–है, किन्तु इसकी सहायक क्रिया गुजराती से भिन्न है, यद्यपि निकटतम सम्वन्धित कश्मीरी इसी धातु –'अछ्'–से अपनी सहायक क्रिया के रूप का निर्माण करती है। इतना ही नही, गुजराती प्राय. लहँदा की सभी विभाषाओ से एक विशेष महत्वपूर्ण बात मे समानता प्रकट करती है। यह है ऊष्म वर्णों[1] के सयोग से भविष्यत् काल की रचना। यह ऐसी विशेषता है जो किसी भी भारतीय आर्य भाषा मे नही मिलती। इस प्रकार हम देखते हैं कि ठीक हिमालय की तराई के साथ-साथ सिन्धु नदी से लेकर नेपाल तक तीन समुदाय की विभाषाएँ मिलती हैं। इनमे से प्रत्येक भाषा-समुदाय, क्रमानुसार, विशेष बातो मे, एक-दूसरे के समान हैं और ठीक इसी क्रम मे इनका सम्बन्ध गुजराती, पश्चिमी-राजस्थानी तथा पूर्वी-राजस्थानी से है।

१. 'वह मारेगा' के लिए लहँदा मे "कुट्टसी" तथा गुजराती मे "कुट्शे" होगा।

सोलहवाँ अध्याय

अवर्गीकृत भाषाएँ

अब भी कुछ भारतीय भाषाएँ शेष रह गयी हैं, जो पीछे वर्णित शीर्षको के अन्तर्गत नही आती। ये हैं—जिप्सी बोलियाँ, बुरुशास्की तथा अदमानी।

जिप्सी शब्द यहाँ अपने विशुद्ध परम्परागत अर्थ 'यायावर' के रूप मे व्यवहृत किया गया है। यहाँ इसको किसी भी रूप मे यूरोप तथा पश्चिमी एशिया के 'रोमानी चाल' से सम्बन्धित अर्थ मे नही लेना चाहिए। यायावर जातियो के द्वारा व्यवहृत होनेवाली विभिन्न बोलियो के रूपो का विवरण, जिनका अभिज्ञान ज्ञात भाषाओ की निश्चित विभाषाओ के रूप मे सम्भव हो सका था, सर्वेक्षण के पिछले पृष्ठो मे दिया जा चुका है। इन भाषाओ मे तमिल की 'कोरव' तथा 'कैकाडी' विभाषाएँ, कन्नड की 'कुरुम्वा' विभाषा तथा तेलुगु की 'वडरी' विभाषाएँ हैं। ये सब की सब आदि से अन्त तक द्रविड भाषाएँ हैं। दूसरी ओर हम इसी प्रकार, पूर्णतया भारतीय आर्य-भाषा के रूप मे राजस्थानी की लभानी, ककेरी तथा बहुरुपिया विभाषाओ को, गुजराती की तारीमूकी अथवा घिसाडी रूप को तथा बहुत सी भीली बोलियो, जैसे बाओरी, चारणी, हबूडा, पारधी और सियालगिरी को पाते हैं। जहाँ तक इनके वर्गीकरण का सम्बन्ध है, इनके प्रति किसी भी प्रकार की कठिनाई नही हुई। यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि ये विभाषाएँ या तो द्रविड कुल की हैं, अथवा इनका पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध भारतीय आर्य-भाषाओ की राजस्थानी, गुजराती अथवा भीली भाषाओ से है।

शेष भाषाएँ दो समूहो—मुख्य तथा चौर बोलियो के अन्तर्गत आती हैं। नीचे दी गयी सख्याओ को विशिष्ट प्रतिबन्ध के साथ ही ग्रहण करना उचित होगा, क्योंकि हम जानते हैं कि बहुत सी ऐसी जिप्सी जातियाँ है[1] जो सर्वेक्षण तथा जनगणना दोनो

१. इनमे सबसे महत्वपूर्ण है 'चुहड़ा' जाति। इसकी भ्रमणशीलता का संक्षि-

की सीमाओं के अन्तर्गत नहीं आ सकी। जहाँ कहीं जनगणना की भी गयी है, वहाँ एक बड़ी संख्या के लोगों ने इसका बहिष्कार ही किया है। इनमें से बहुत सी जातियाँ तो न्यूनाधिक रूप में बदनाम भी हैं, और इस कारण इनके बोलनेवाले प्रकाशन में आने को उत्सुक नहीं हैं।

जिप्सी बोलियाँ	सर्वेक्षण
गुप्त बोलियाँ	९,७४८
चोर बोलियाँ	९१,९२३
योग	१,०१,६७१

शुद्ध जिप्सी बोलियाँ

ऊपर की चर्चा को ध्यान में रखते हुए हम शुद्ध जिप्सी भाषाओं की गणना आगे दी गयी सारणी के रूप में कर सकते हैं। ऊपर इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि जिन जिप्सी भाषाओं का वर्गीकरण करने में हम समर्थ हो सके हैं, या तो वे निश्चित द्रविड़ कुल की विभाषाएँ हैं, अथवा वे राजस्थानी या उसकी निकटतम सम्बन्धिनी गुजराती तथा भीली भाषाओं के रूप हैं। दूसरी ओर, समस्त अवर्गीकृत जिप्सी भाषाएँ विभिन्न भाषाओं के मिश्रित रूप हैं। किन्तु उनकी एक सामान्य विशेषता यह है कि प्रायः उन सभी का आधार द्रविड़ भाषा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके बोलनेवाले, राजपूताना तथा भील प्रदेश के निकट, सर्वप्रथम भारतीय आर्य-भाषाओं के प्रभाव में आये। वहाँ से प्रत्येक मिश्रित भाषा ने अपने मूल रूप अथवा रूपों को ग्रहण किया, तथा जैसे-जैसे ये जातियाँ भारतवर्ष में प्रसरित हुईं, उनकी भाषा भी उस स्थान की भाषा से अत्यधिक मिश्रित होती गयी, जहाँ कि वे निवास करने लगी थीं।[1] यदि यह विवरण स्वीकृत हो जाता है, तो हम पुनः उसी

का विवरण डॉ० ग्राहम बेली (Dr. Grahame Bailey) ने अपने ग्रन्थ—“[illegible] पंजाबी डायलेक्ट्स” में दिया है।

१. इसका एक महत्त्वपूर्ण अपवाद बेलदारी है, विशेषतः जैसा कि हम देखेंगे, [illegible] है।

दृष्टिकोण से वर्गीकृत जिप्सी भाषाओ पर ध्यान केन्द्रित कर सकेंगे। उन विभाषाओ ने, जो अब द्रविड़ हैं, वस्तुतः अपने मूल रूप को सुरक्षित रखा है और उनमे अत्यल्प सम्मिश्रण हुआ है या कभी-कभी बिलकुल नही हुआ है, किन्तु वे बोलियाँ जो अब भारतीय आर्य भाषाएँ हैं, वास्तव मे उन जातियों की बोलियाँ हैं जिनका मुख्य निवास-केन्द्र बहुत दिनो तक राजपूताना मे रहा। इन्होंने अपने मूल निवास स्थान की द्रविड़ भाषा का अब पूर्णतया परित्याग कर दिया है, और समस्त रूपो मे राजस्थान की भाषा को ही अपना लिया है।

शुद्ध जिप्सी बोलियाँ	सर्वेक्षण
पेंढारी	१,२५०
भाम्टी	१४
वेलदारी	५,१४०
ओडकी	२,८१४
लाडी	५००
मछरिया	३०
योग	९,७४८

पेण्डारी

जिप्सी विभाषाओ के संभावित मूलस्रोत के सम्बन्ध मे ऊपर जो व्यापक वक्तव्य दिया गया है उसका एक महत्वपूर्ण अपवाद पेण्ढारी बोली उपस्थित करती है। भारतीय इतिहास के पिंडारियो की यह भाषा न तो किसी जाति-विशेष की बोली है और न किसी प्रचलित धर्म की ही। पिंडारी आततायी डाकुओ के गिरोह थे, जिनमे भारत के सभी भागो के गुंडे, खूनी तथा बदमाश सम्मिलित थे। इनमे अफगान, मराठा, जाट इत्यादि सभी थे। सन् १८१७ ई० मे वे अंतिम रूप से लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा समाप्त कर दिये गये।

वर्तमान युग मे पिंडारियो का प्रतिनिधित्व करनेवालो के समुदाय मध्य भारत, बम्बई तथा अन्य स्थानो मे बिखरे हुए हैं। साधारणतया इन लोगो ने अब अपने आसपास की बोलियो को अपना लिया है, किन्तु बम्बई के कुछ भागो मे अब भी उनकी अपनी भाषा है जो उनकी जाति के नाम पर पिण्डारी कहलाती है। जैसी कि

आशा की जाती है, यह एक ऐसी भद्दी बोली है जिसमे दक्खिनी हिन्दुस्तानी, मराठी तथा राजस्थानी का सम्मिश्रण है। इसका और अधिक विवरण अनावश्यक है।

भाम्टी

भाम्टा एक अपराधी जाति है। यह मध्यप्रान्त तथा भारत मे पायी जाती है। इस वर्ग के लोग पूर्णतया यायावर नही हैं, वरन् ये गाँवो मे रहते है, तथा वही से पास पड़ोस मे चोरी करते हैं। इनमे से अधिकाश व्यक्ति तेलुगु की वडरी[1] विभाषा का व्यवहार करते है। किन्तु बीजापुर वाले कन्नड का प्रयोग करते है। इनमे से कुछ लोगो के सबध मे यह तथ्य भी प्राप्त हुआ है कि ये मध्य प्रान्त मे अपनी मातृभाषा भाम्टी बोलते हैं। यह एक विकीर्ण मिश्रित बोली है तथा इसमे दक्खिनी, हिन्दुस्तानी एव राजस्थानी के जयपुरी रूपो का मिश्रण हुआ है।

बेलदारी

बेलदार भूमि खोदनेवाली एक श्रमिक जाति है, जो भारतवर्ष के एक बहुत बड़े भाग मे फैली हुई है। उनमे से अधिकाश लोगो ने अपने पास-पडोस की बोलियो को ग्रहण कर लिया है, किन्तु प्राप्त तथ्यो के अनुसार, राजपूताने के जैसलमेर, मध्य प्रान्त तथा बम्बई प्रान्त मे बेलदारी नाम की एक भाषा भी मिली है। इसमे अनेक भाषाओ का मिश्रण हुआ है, जिनमे मुख्य हैं पूर्वी राजस्थानी तथा मराठी। किन्तु इन दोनो भाषाओ का पारस्परिक अनुपात, स्वाभाविक रूप से, स्थान के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

ओड्की

ओड्की का बेलदारी से निकटतम सम्बन्ध है। यह भ्रमणशील भूमि खोदने-वाली श्रमिक जाति ओड अथवा वड्डर लोगो की भाषा है। ये प्रायः सम्पूर्ण भारत मे पाये जाते हैं; किन्तु प्रधान रूप से पंजाब तथा मद्रास इनका क्षेत्र है। मद्रास के ओड लोग तेलुगु बोलते हैं। यही इनकी मूलभाषा प्रतीत होती है। पंजाब-सिन्ध तथा गुजरात मे इनकी अपनी घरेलू भाषा है। यह मराठी तथा गुजराती-राजस्थानी

१. देखो अध्याय ७, गोलरी, वडरी।

का मिश्रण है और स्थान के अनुसार इसमे इन भाषाओ का अनुपात बदलता रहता है। भाम्टी के प्रसग मे ऊपर वर्णित वडरी के साथ इसकी तुलना की जा सकती है।

लाडी

'लाड' जिप्सियो की एक जाति है, जो पान, सुपाडी, तम्बाकू, भॉग इत्यादि बेचती है। वे समस्त पश्चिमी भारत, मुख्यतया बम्बई प्रदेश मे पाये जाते हैं। उनमें से अधिकाश लोगो की अपनी कोई बोली नही है। किन्तु उनमे से कुछ लोग, जो बरार प्रदेश मे रहते हैं, एक भाषा बोलते हैं, जिसका स्थानीय नाम लाडी है। यह प्रधान रूप मे पूर्वी राजस्थानी का भ्रष्ट रूप है।

मछरिया

मछरिया सिन्ध से निष्क्रमण करनेवाली चिड़ीमार जाति की भाषा है, जो पजाब की कपूरथला रियासत मे बस गयी है। वास्तव मे यह जिप्सी भाषा नही है, यद्यपि साधारणतया इसका वर्णन इसी रूप मे किया गया है। यह सिन्धी और पजाबी का मिश्रण मात्र है।

गुप्त जिप्सी बोलियाँ

मछरिया के साथ-साथ हम उन सभी जिप्सी भाषाओ पर विचार करना समाप्त कर रहे हैं, जिन्हे बोलियाँ कहा जा सकता है। अब हम चोर बोलियो पर विचार करेंगे। इस प्रकार की जो बोलियाँ सर्वेक्षण के अन्तर्गत आ चुकी हैं, वे नीचे की सूची मे उल्लिखित हैं। इनका प्रयोग अपराधियो तथा अन्य कुख्यात लोगो द्वारा गुप्त कार्यों के लिए किया जाता है। इनके समानान्तर, यूरोप मे, "थीव्ज लैटिन" (Thieves Latin) (चोरो की लैटिन') तथा अन्य गुप्त भाषाएँ पायी जाती है। यह दिलचस्प बात है कि इन भाषाओ के बोलनेवालो ने अपनी भाषा को गोपनीय रखने के लिए प्राय: उन्ही साधनो को अपनाया है, जो प्राय: पश्चिमी देशो मे अपनाये गये हैं। इनमे से एक विशिष्ट शब्दो का भी प्रयोग है, जिन्हे वे विदेशी भाषाओ से ग्रहण कर लेते हैं। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे लन्दन के चोर वहाँ की स्त्री को 'दोवाह' (Dowah) कहते हैं जो वस्तुतः एक विदेशी शब्द दोन्ना (Donna) से ग्रहण किया गया है। वे कभी-कभी वर्णों का स्थान परिवर्तन भी कर देते हैं। लन्दन का चोर

वहाँ की पुलिस (Police) को स्लोप (slop) कहता है जो वस्तुत 'पोलिस' का वर्ण-विपर्यय है। इसी भाँति एक भारतीय चोर अपने शत्रु—'पुलिस-जमादार' को वर्ण परिवर्तन करके 'मजादार' (मजा, आनन्द देनेवाला) कहकर पुकारता है। कभी-कभी तो शब्द के एक ही वर्ण के स्थान-परिवर्तन से भी यह कार्य सम्पन्न किया जाता है। गुप्त जर्मन-भाषा मे 'हित्ज' (गर्मी) 'वित्ज़' मे परिणत हो जाता है। इसी प्रकार जब साँसी-भाषी यह कहना चाहता है कि 'भूखा हूँ' तो वह 'भूखा' के स्थान पर 'झूखा' शब्द का प्रयोग करता है। निश्चय ही इन गुप्त भाषाओ के बोलने वाले द्विभाषी होते हैं। वे सामान्यत अपने पास-पडोस की भाषा का व्यवहार करते हैं

गुप्त जिप्सी बोलियाँ	सर्वेक्षण
साँसी	५१,५५०
कोल्हाटी	२,३६७
गारोडी	?
मियाँवाले	?
कजरी	७,०८५
नटी	११,५३४
डोम	१३,५००
मलार	२,३०९
कसाई	२,७००
सिकलगरी	२५
गुलगुलिया	८५३
योग	९१,९२३

और गुप्त भाषा को अवसर-विशेष के लिए सुरक्षित रख छोडते हैं। उनमे से कुछ लोग, जैसे साँसी-भाषा तो त्रिभाषिए होते हैं। अपने पडोसियों से तो वे नित्य व्यवहार मे देश की प्रचलित भाषा का प्रयोग करते हैं। अपनी दस्यु-वृत्ति के लिए वे गुप्त भाषा का सहारा लेते हैं, और सामान्य कार्यों के लिए वे एक अर्द्धगुप्त भाषा बोलते है। इसमे विशुद्ध गुप्त भाषा की कुछ विशेषताएँ रहती हैं, किन्तु इसकी शब्दावली सरल होती है और इसका प्रयोग वे साधारणत आपस मे ही करते हैं। बहुधा विशुद्ध गुप्त भाषा का ज्ञान उस जाति के समस्त सदस्यो को नही होता, उसे तो केवल वयस्क और विशेषज्ञ ही जानते हैं। जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, इन

गुप्त भाषाओ के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान निश्चित रूप से अपूर्ण है। यह तो आशा ही की जा सकती है कि चाहे सर्वेक्षण ही के लिए क्यो न हो, जो लोग इस भाषा का व्यवहार करते हैं, वे किसी भी राजकीय कर्मचारी के समक्ष इसके अस्तित्व तक को स्वीकार करने मे भी सहमत नही होगे। जब भी उनसे इसके विषय मे प्रश्न किया गया, उन्होने इसके अस्तित्व को एकदम अस्वीकार कर दिया। अतएव, हमारे पास इस सम्बन्ध के जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, वे बहुत ही कठिनाई से प्राप्त हो सके है। इसका एक उल्लेखयोग्य उदाहरण है 'चुहडा' बोली का, जिसकी विशेषताओ का प्रकाशन सर्वेक्षण के पृष्ठो मे नही हो सका। इसलिए मैं डाक्टर ग्राहम वेली द्वारा प्रदत्त तथ्यो के आधार पर ही इस जाति के सम्बन्ध मे सक्षिप्त विवरण देते हुए इस विषय पर विचार करना प्रारम्भ करता हूँ।[1]

चुहडों की बोली

चुहडा जाति के लोग पजाब मे पाये जाते हैं। सन् १९२१ ई० मे, इसके बोलने वालो की सख्या की गणना नही हुई थी। इनका पेशा सडक बुहारने का है, जो उनके सेंध लगाने, पशुओ को विष खिला देने तथा अन्य कुकृत्यो से भिन्न है। वे मुर्दा पशुओ का मास खाते हैं। उनकी गुप्त भाषा पजाबी है, किन्तु इसके साथ वे ऐसी कृत्रिम एव गोपनीय शब्दावली का प्रयोग करते हैं कि सामान्य श्रोता के लिए उसका भाव सर्वथा बोधगम्य नही रह जाता। इनके बहुत से शब्द, अन्य गुप्त भाषाओ, जैसे, साँसी या कसाई, मे भी पाये जाते है। इस प्रकार की भाषा की रूपरेखा के ज्ञान के लिए मैं यहाँ डाक्टर ग्राहम वेली के विवरणो से निम्नलिखित अश उद्धृत कर रहा हूँ—

"विषय-वस्तु के अन्तरतम तक ठीक-ठीक पहुँचने के लिए हमे एक साहसिक अभियान के साथ चलना अच्छा होगा, जिसका लक्ष्य एक धनाढ्य व्यक्ति का घर लूटना है। एक छुडम (चोर) जो सदैव अपनी आँखें खुली रखता है, किसी 'राडकी' (हिन्दू) अथवा 'घिरबला' (मुसलमान) के 'कुढ्ढ' (घर) का पता लगाता है। वह अपने ही लोगो मे से एक अन्य 'काळा' (चोर) खोजता है, अथवा किसी 'रुगे' (चुहडा) या विश्वासपात्र 'भाटू' (साँसी) को ढूँढता है, जो उसकी सहायता को

१. देखो "नोट्स ऑन पंजाबी डायलेक्ट्स", पृ० १३ तथा उसके आगे।

प्रस्तुत हो। 'मीसटे' (रुपए) और 'वगेले' (वही) तथा 'हरचीये' (पैसे) एव 'ठेले' (एक प्रकार के आभूषण) मे घर की सम्पन्नता का चित्रमय एव उल्लासपूर्ण वर्णन करते हुए वह कहता है, "चलो गुल लाईए" (चलो हम घर मे सेंध लगाये)। जैसे ही वे लोग विना चन्द्रमा की, अंधेरी रात मे वाहर निकलेंगे, हम इन लोगो का अनुसरण करेंगे। उस मकान मे पहुँच जाने पर वे अपना 'टोम्वू' (घर मे सेंध लगाने का लोहे का औजार, पूरव देशो की शवरी) निकालकर काम शुरू कर देते हैं। वे अपने पार्श्व मे वहुत से 'छिकारे' या मिट्टी के डेले सुरक्षा के लिए रख लेते है, जिनसे वे किसी भी अनाधिकारी प्रवेशक पर आक्रमण कर सकें। जव सेंध पूर्णतया वन जाती है, तव चोर, अपनी 'काड्की' (लाठी) तथा 'पैन्तडी' अथवा 'चाखल' (जूता) वाहर छोडकर तथा अपने 'लिताडा' (विश्वासपात्र) 'को सतर्क रहने का आदेश देकर मकान के भीतर प्रवेश करता है। यदि वह भीतर किसी को भी नही पाता तो 'घसाई' (दियासलाई) जलाने का सकट मोल लेता है। तत्क्षण ही सेंध लगाने वाले के पास मिट्टी का एक ढेला आकर गिरता है, इसे 'नेवला' (मिट्टी का ढेला जो आसन्न विपत्ति की सूचना के लिए फेंका गया हो) कहते हैं। वह चेतावनी के लिए चारो ओर देखता है और फुसफुसाहट के शब्द, "कज्जा चामृदा ई" (एक जाट देख रहा है) को सुनता है। अपनी 'गैमी' (चोरी) में इस प्रकार की अन्तर्वाधा को वह अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण समझता है। उस समय अपने को वह और भी अधिक परेशान पाता है, जव वह एक अन्य फुसफुसाहट की ध्वनि "ठिप्जा (छिप जा), पल्वे होजा" (एक वगल होजा) सुनता है। वह वापस वुलाता है, "कैंकर कर" (एक ढेला फेंको), "लोथ् लै सू" (उसे पीटो या मार डालो), और मकान से वाहर चला आता है। उनकी 'नेमोडी' (चोरी) फलीभूत नही हुई। दोनो ही चोर भिन्न मार्गों से अपने घरो को भाग जाते हैं। दूसरे दिन वे वड़े आश्चर्य से, इस अविश्वसनीय रिपोर्ट पर, जो वहुत दूर तक फैल चुकी होती है, विचार करते हैं कि एक 'कज्जा' पर दो चुहडा 'छुडम' (चोरो) ने आक्रमण किया, जो कि एक 'लाल्ली' (डकैती) मे प्रवृत्त थे, और वह 'लुग गया' (मर गया)।"

सांसी

सांसी एक कुख्यात चोर जाति है, जो चुहडा की ही भाँति अधिकतर पजाव मे पायी जाती है। इसके विषय मे सर्वेक्षण वहुत सफल रहा है, क्योकि इसके स्वय के प्राप्त तथ्यों के साथ-साथ इस जाति के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन करनेवाले डॉ०

ग्राहम बेली ने कई निबन्ध लिखे हैं। साँसी लोग त्रिभाषिए होते हैं। वे अपने पास-पड़ोस की प्रचलित भाषा बोलते हैं, तथा दो अन्य विभाषाओ का भी प्रयोग करते हैं। इनमें से एक तो साधारण साँसी है, जिसका व्यवहार वे आपस मे करते हैं, तथा दूसरी उनकी चौर-भाषा है। पजाब मे इनकी प्रचलित बोली हिन्दुस्तानी तथा पजाबी का भ्रष्ट मिश्रण है, जिसमे पश्चिमी पहाडी तथा राजस्थानी के कुछ रूपो को भी ग्रहण किया गया है। अन्य स्थानो मे यह हिन्दुस्तानी के विकृत रूपो से बहुत अधिक मिलती जुलती है। इनकी गुप्त भाषा प्रचलित भाषा से केवल गुप्त शब्दो के प्रयोगो मे ही भिन्न है। यह सख्या मे अधिक हैं, और किसी भी बाहरी व्यक्ति के लिए भाषा को पूर्णतया दुर्बोध्य बना देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके कुछ शब्द अन्य भाषाओ, जैसे द्रविड़ तथा भारतीय आर्य-भाषा से ग्रहण किये गये हैं। इनमे से बहुत से शब्द अन्य गुप्त भाषाओ मे भी मिलते हैं। अन्यत्र अक्षरो को उपसर्ग अथवा परसर्ग की भाँति शब्दो से जोडकर उनका वास्तविक अर्थ लुप्त कर देत हैं। उदाहरणार्थ, वे आँख के पजाबी शब्द 'अक्खी' के लिए 'कुक्खी' तथा दो' के लिए 'बोर' का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी वे प्रारम्भिक अक्षर को ही बदल देते हैं, जैसे 'लोकना' या 'देखना' के लिए 'नौखणा'। इस प्रकार के परिवर्तनो से अंग्रेजी पाठक परिचित है, क्योकि ये उनकी बाल्यावस्था के खेलो का स्मरण दिलाते हैं, और वे सहज ही मे इस बात को समझ सकते हैं कि थोड़ा परिवर्तन भी, जैसा कि साँसी मे देखा जा सकता है, भाषा तथा व्याकरण मे कितनी गड़बडी उत्पन्न कर देता है।

कोल्हाटी

कोल्हाटी, बम्बई प्रान्त, बरार तथा हैदराबाद राज्य मे रस्सो पर नाचने तथा कलाबाजी दिखाने वाली एक जाति है। इसकी अधिकाश स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करती हैं। इस जाति का दावा है कि वे साँसी लोगो से सम्बन्धित हैं, और यह उनकी गुप्त भाषा से ही सिद्ध हो जाता है, क्योकि यह साँसी जाति की भाषा से बहुत मिलती जुलती है।

गारोडी

गारोडी, बम्बई प्रान्त के बेलगाँव जिले की एक भ्रमणशील मदारी जाति है। वे मुसलमान कहे जाते हैं, किन्तु उनका धर्म उन पर बहुत ही कम घटित होता है। उनकी गुप्त भाषा द्रविड तथा भारतीय आर्य-भाषा का मिश्रण है, जिसमे पश्चाद्वर्ती

भाषा का प्रतिनिधित्व कभी हिन्दुस्तानी, कभी राजस्थानी तथा कभी कभी मराठी के रूपो द्वारा किया जाता है। साथ ही, साँसी की ही भाँति, इसमे बहुत से ऐसे छद्म-वेशी शब्द है, जिनका अर्थ एक विदेशी के लिए दुर्बोध्य हो जाता है। इस गुप्त भाषा के बोलनेवालो की सख्या अज्ञात है।

म्यानवाले

म्यानवाले जाति के लोग भी बेलगांव मे ही पाये जाते हैं। इनके विषय मे बहुत कम जानकारी प्राप्त है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक यायावर लुहार जाति के हैं। उनकी गुप्त भाषा, हिन्दुस्तानी तथा राजस्थानी-गुजराती पर आधारित, बहुत से गुप्त एव छद्मवेशी शब्दो से निर्मित है। कभी-कभी इसमे द्रविड़ शब्दो के भी दर्शन हो जाते है। इसके बोलनेवालो की सख्या अज्ञात है।

कंजरी

कंजर एक यायावर जाति है। उनमे से कुछ लोग स्थायी स्थान बनाकर रहने लगे हैं, किन्तु इनमे से अधिकाश लोग जगलो मे निवास करते हैं और वहाँ प्राप्त वस्तुओ पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वे वन्य वस्तुओ के हस्तनिर्मित उत्पादनो को अपने पडोस के सभ्य लोगो के हाथ बेच देते हैं। उनके जीवन-यापन के अनेक साधन है। अन्य वस्तुओ मे वे चटाइयाँ, टोकरियाँ, पखे, पत्तो की टोकरियाँ तथा इसी प्रकार की अन्य दस्तकारी की चीजें तैयार करते है। खस (जिससे गर्मी के दिनो की टट्टियाँ बनती है) एकत्र करना इनका मुख्य पेशा है। पत्थर काटने वालो के रूप मे, ये भारत के प्रत्येक घर मे पायी जानेवाली आटा पीसने की चक्की के पत्थर गढ़ते हैं। इनका मुख्य स्थान उत्तर प्रदेश है। ये अपनी पडोसी भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु इनकी भी कजरी नाम की अपनी निजी गुप्त भाषा है। यह एक मिश्रित भाषा का रूप है, जो प्रधान रूप से पूर्वी राजस्थानी तथा आंशिक रूप से द्रविड़ भाषा पर आधारित है। अन्य स्थानो की भाषाओ की भाँति इसमे भी गुप्त तथा छद्मवेशी शब्दो की सख्या बहुत है।

नटी

नट एक ऐसी जाति है, जो बाजीगरी, नृत्य, वेश्यावृत्ति तथा चोरी करके अपना जीवन-यापन करती है। नट लोग बहुत बडी संख्या मे सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा

डेकन के उत्तर मे मिलते हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश मे अन्य यायावर जातियो की भाँति इनकी भी अपनी एक गुप्त भाषा है, और सम्भवत अन्यत्र भी यही बात है। यह हिन्दुस्तानी तथा राजस्थानी का मिश्रित रूप है और साधारण तौर पर इसमे भी गुप्त एव छद्मवेशी शब्द पर्याप्त सख्या मे मिलते हैं। सभवत इसका आधार राजस्थानी है और इसके विचित्र रूप भारतवर्ष के उन भागो मे सुनाई पडते हैं जहाँ इसे कोई नही समझता।

डोम

डोम आदिम युग की जाति है, जिसका मूल सम्भवत विड है। ये डेकन के उत्तर मे प्राय सम्पूर्ण भारतवर्ष मे बहुत बडी सख्या मे पाये जाते है, तथा इनके अधिकाश लोग बगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश मे मिलते हैं। अध्ययन की दृष्टि से, इन पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योकि 'रोम' शब्द, जिसे यूरोपीय जिप्सी के लिये प्रयुक्त किया जाता है, प्राय निश्चित रूप से यही (डोम) शब्द है जो पश्चिमी देशो मे जा पहुँचा है। इनके विभिन्न पेशे हैं। मृतक के जलाने के लिए ये श्मशान घाट पर आग देते हैं और जलाने के काम मे सहायक होते हैं। इनमे से कुछ लोग सडक बुहारने तथा पाखाना साफ करने का काम करते है तथा अन्य लोग टोकरी बनाने एव बेत का काम करते है। हिमालय के पर्वतीय जिलो मे इन्होने कृषको तथा शिल्पियो का सम्मानपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है, जब कि बिहार के घुमन्तू मगहिया डोम पेशेवर चोर हैं। दूसरी ओर, पश्चिमोत्तर भारत मे डोमो ने पेशेवर चारणो का सम्मानित स्थान प्राप्त कर लिया है। भारतवर्ष के इस भाग के यही पेशेवर चारण है, जिनके लिए फारसी इतिहासकारो ने लिखा है कि वे यहाँ से ईरान गये थे, और फिर वहाँ से वे जिप्सियो के रूप मे सीरिया तथा यूरोप मे प्रविष्ट हुए। वस्तुत बिहार के कुख्यात मगहिया डोम ही गुप्त भाषा का प्रयोग करते हुए पाये गये हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वे कुख्यात चोर तथा दुश्चरित्र होते है, जो न तो खेती करते है और न परिश्रम करके ही रोटी कमाते है। स्त्रियो की स्थिति पुरुषो से तनिक भी अच्छी नही है। ऊपर-ऊपर से दिखावे के लिए तो वे कभी-कभी टोकरियाँ आदि बनाती है, किन्तु उनका वास्तविक कार्य है गुप्तचर का तथा चोरी किये गये सामान को ठिकाने लगाने का। चोरी के सामान को छिपाने के उनके कुछ तरीके सचमुच ही विशेष चतुराई के हैं, किन्तु उन्हे उचित नही कहा जा सकता। इन लोगो की गुप्त भाषा बिहारी की स्थानीय विभाषा (साधारणत भोजपुरी), राजस्थानी तथा

हिन्दुस्तानी के मिश्रण पर आधारित है। हिन्दुस्तानी की उपस्थिति की तो व्याख्या करना सरल है किन्तु जब तक यह जाति किसी समय राजपूताना मे न रही हो तब तक राजस्थानी की उपस्थिति को स्पष्ट करना आसान नही है। फिर, इनकी भाषा मे अनेक गुप्त एव छद्मवेशी शब्द हैं। इन छद्मवेशी शब्दो के निर्माण का भी ढग वही है जो अन्य गुप्त भाषाओ का है। इनके अनेक गोपनीय शब्द वही हैं जो अन्य घुमन्तू जातियो मे प्रचलित हैं।

मलार

मलार, पीतल के साँचे बनाने वाली एक यायावर जाति है। यह छोटा नागपुर मे पायी जाती है। डोमो की भाँति यह जाति पेशेवर चोर नही होती। इस क्षेत्र की सामान्य भाषा बिहारी की विभाषा नागपुरिया है, और मलारो की गुप्त भाषा इसी पर आधारित एक साधारण ग्रामीण बोली है। ये लोग किसी प्रकार के विचित्र अथवा छद्म शब्द का प्रयोग नही करते, किन्तु वे नागपुरिया के शब्दों में, सामान्य तरीको से, उपसर्ग तथा परसर्ग सयुक्त करके उन्हे गुप्त बना लेते हैं। यह प्रक्रिया हम अन्यत्र भी देख चुके हैं।

कसाई

कसाई लोग पेशेवर बधिक होते हैं। मद्रास प्रान्त तथा सुदूर दक्षिण देश को छोडकर ये सम्पूर्ण भारतवर्ष मे पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश तथा पजाब मे इनकी संख्या बहुत अधिक है। उनकी अपनी एक व्यापारिक भाषा है, जो एक साधारण ढग की गुप्त भाषा है। यह स्थानीय शब्दो के मिश्रण से बनी हिन्दुस्तानी पर आधारित भाषा है। इसकी गोपनीयता प्रधानतया विचित्र तथा छद्म-शब्दो के प्रयोगो मे निहित है। अब तक जिन गुप्त भाषाओं के सम्बन्ध मे विचार किया गया हैं उनकी अपेक्षा इस भाषा मे, सामान्य शब्दो के आदि अथवा अन्त मे कुछ जोडकर छद्म-शब्द निर्माण करने की विधि का प्राय: अभाव हैं। यह उल्लेखनीय बात है कि जिन विचित्र शब्दों तथा वाक्यो का ये व्यवहार करते हैं उनमे अकवाची शब्द अरबी के होते हैं।

सिकलगारी

सिकलगारी एक गुप्त भाषा है, जिसका प्रयोग सिकलगार अथवा शस्त्रास्त्र

वनानेवाले करते है। उनका यह पेशा है और वे अधिकाशत राजपूताना मे पाये जाते है, किन्तु सिकलगारी भाषा के बोलनेवालो का एकमात्र स्थान, जिसकी सूचना अभी तक प्राप्त हो सकी है, वम्बई प्रान्त का वेलगाँव जिला है। वहाँ की गुप्त भाषा गुजराती या भीली पर आधारित है। इसमे सामान्य साधनो का व्यवहार किया जाता है। इसमे कुछ तो छद्म-शब्द हैं, किन्तु अनेक सामान्य शव्दो मे भी उपसर्ग अथवा परसर्ग जोडकर या अन्य उपायो से उनके रूप विकृत करके उन्हे गुह्य बना दिया जाता है।

गुलगुलिया

गुलगुलिया एक आनार्य यायावर जाति है, जो छोटानागपुर के हजारीवाग जिले मे पायी जाती है। इनकी सख्या अत्यल्प है। ये अपनी रोटी आखेट द्वारा, वन्दरो को नचाकर, मादक-वस्तुएँ वेचकर, भीख माँगकर तथा कभी-कभी चोरी करके कमाते हैं। उनकी गुप्त भाषा सामान्यतया उपर्युक्त भाषाओ की भाँति ही है, जिसमे गुह्य एव छद्मवेशी शव्द निहित हैं। इतर भाषियो से पारस्परिक व्यवहार मे वे साधारण स्थानीय विभाषा का प्रयोग करते हैं।

वुरुशास्की

जिप्सी भाषाओ को यही छोडते हुए हम अव वुरुशास्की अथवा खजुना भाषा पर आते है। यह सुदूर पश्चिमोत्तर प्रान्त (अव पाकिस्तान) के समीपवर्ती प्रदेश तथा हुजानगर के निवासी युद्धप्रिय लोगो की भाषा है। इसके बोलनेवालो की सख्या अज्ञात है। आज तक यह विभिन्न भाषाओ के बीच एक पहेली बनी हुई है। अभी तक कोई भी भाषाविद् इसे किसी भी ज्ञात भाषा-परिवार के अन्तर्गत रखने मे सफल नही हुआ है। यह सत्य है कि एक महाशय ने इसे 'साइवेरियो-न्यूवियन' भाषा के अन्तर्गत वर्गीकृत करने का योग्यतापूर्ण दावा किया है[1] किन्तु उन्होंने अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण उपस्थित नही किया, और इसके अनुसन्धानकर्त्ता के अतिरिक्त इसका नाम प्रत्येक व्यक्ति के लिए दुर्वोध होने के कारण सन्देहास्पद ही वना रहा। स्वय मैंने भी प्राय सभी ज्ञात एशियाई भाषाओ से इसकी तुलना की है,

१. इंडियन एण्टीक्वेरी, I, २५८ (१८७२) मे हाइड क्लर्क का लेख।

किन्तु किसी भी निश्चित सजातीय भाषा को पाने मे मैं सफल नही हो सका, यद्यपि यत्र-तत्र शब्दसमूहो की समानता ने एकाधिक बार मुझे इस व्यर्थ प्रयत्न में भी आश्चर्यान्वित कर दिया। निश्चितता की निकटतम स्थिति, जो मैंने प्राप्त की है, यह धारणा है कि हो न हो इसके तथा मुडा भाषाओ के बीच कोई दूर का सम्बन्ध हो किन्तु मैं स्वय इस निश्चय पर कभी नही पहुँचा कि यही वास्तविक स्थिति है। 'साइवेरियो-न्यूबियन' सिद्धान्त के प्रकाशन के अर्द्ध-शताब्दी के पश्चात् एक अमेरिकन विद्वान श्री पी० एल० बारबॅर ने एक अन्य सिद्धान्त उपस्थित किया।[१] यह भी उसी मार्ग का अनुगामी है। वे स्वय भी इसे प्रामाणिकता की ओर अग्रसर नही करते, वरन् इसके प्रति भावी अनुसन्धानो को प्रेरित करते हैं। यह बहुत संभव है कि इस दिशा मे चलकर भावी अनुसन्धानकर्त्ता अन्ततः इस समस्या का समाधान उपस्थित कर सकें। वे बुरुशास्की को, आर्यों के आक्रमण के पूर्व, उत्तरी-भारत मे बोली जाने वाली भाषा का अवशेष मानते है। हम यह देख चुके हैं कि मुडा भाषाएँ अब गंगा के मैदान के दक्षिण स्थित पहाडियो तक ही सीमित रह गयी है, किन्तु इन भाषाओ के लक्षण पश्चिम मे पजाब के कनावर स्थान तक के हिमालय के निचले भाग मे पाये जाते हैं। बारबॅर महाशय का यह अनुमान है कि प्राचीन मुडा भाषा का रूप (जो सभवत द्रविड भाषा से मिश्रित था) उत्तरी भारत मे विशेष रूप मे प्रसरित था, और उसका अस्तित्व आर्यों के आक्रमण के समय तक वर्तमान था। कोई तीन हजार वर्ष पूर्व इसके बोलनेवालो का एक वर्ग, आर्यों के द्वारा, उत्तर मे, हिन्दुकुश की सुदृढ पर्वतमालाओ की ओर भगा दिया गया। तभी से वह अपना पृथक अस्तित्व बनाए हुए है। तब से उनकी भाषा अपने ढंग से विकसित हुई है।[२] अन्य लोगो ने आर्य-

१. जर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी ((Journal of the American Oriental Society Vol XLI 1921 पृ० ६० तथा उसके आगे।

२. बुरुशास्की के शब्द दर्दीय भाषाओ मे भी मिलते हैं। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज की अपेक्षा किसी समय बुरुशास्की विस्तृत क्षेत्र मे प्रचलित थी। जैसा कि मेरा विश्वास है, यदि दर्दीय भाषाएँ, उत्तर से हिन्दूकुश पर एक स्वतंत्र आर्य आक्रमण का प्रतिनिधित्व करती हैं तो हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन प्राग्-मुण्डा-भाषा-भाषी पश्चिम से आने वाले आर्यों के द्वारा सर्वप्रथम दर्द प्रदेश में उत्तर की ओर जाने के लिए बाध्य किये गये और तदुपरान्त उत्तर के

प्रवेश के बढते हुए ज्वार के पूर्व ही गगा के मैदान के उत्तर तथा दक्षिण स्थित पर्वत-मालाओ मे जाकर शरण ली और वे लोग निचले हिमालय मे निवास करनेवाले अपने मगोत्रीय भाइयो के सहित मुडा नाम से अभिहित किये गये। मैंने यहाँ वारवॅर महोदय के सिद्धान्त को उनके शब्दो मे न देकर, जैसा स्वय ममझ सका हूँ उस रूप मे दिया है, वहुत सम्भव है कि इसे मैने अशुद्ध रूप मे दिया हो अथवा उन वातो पर अधिक जोर दिया हो जो वारवॅर के अनुमार नगण्य हो। इसके अतिरिक्त जिन वातो को वारवॅर महोदय ने विस्तार के साथ दिया है उनका मैने केवल सक्षिप्त रूप ही यहाँ उपस्थित किया है। जनसख्या मे द्रविड-तत्वो के सम्वन्ध मे उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसे तो मैंने इस प्रसग को सरल वनाने के लिए प्राय छोड ही दिया है।

वुरुशास्की के कई नाम है। निकटवर्ती जातियाँ इसे 'खजुना' नाम से सम्वोधित करती है, नगर के लोग इसे 'यश्कुन' कह कर पुकारते है, और यारकन्दी इसे 'कुन्जूती' नाम से अभिहित करते हैं। यसीन तथा समीपवर्ती प्रदेशो की वोली 'वर्शिकवार' नाम से प्रसिद्ध है। इस भाषा की क्रिया के रूप पूर्णतया सुगठित है। इसमे दो वचन तथा तीन पुरुष होते है। इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता इसके सर्वनामीय उपसर्गो का अत्यधिक प्रयोग है, जिससे कभी-कभी इसके शब्दो का रूप ही वदल जाता है। इस प्रकार 'मेरी पत्नी' के लिए इसमे 'औस' किन्तु 'तुम्हारी पत्नी' के लिए 'गुस' शब्द का प्रयोग होता है, 'उसे वनाने' के लिए 'एतस्', किन्तु पुल्लिग 'तुम्हे वनाने' के लिए 'ममरितस्' तथा स्त्रीलिग के लिए 'मतस्' शब्द का व्यवहार होता है।

अन्दमानीय

अन्त मे अन्दमान द्वीपसमूह की भाषाओ पर विचार करना है। ये न तो सर्वेक्षण की विस्तार-परिधि के अन्तर्गत ही आती है और न इनके सम्वन्ध मे मुझे कोई नवीन वात ही कहनी है। अभी तक भाषाविद् इसे किसी भी ज्ञात

ओर से आर्य आक्रमणकारी उस प्रदेश मे प्रविष्ट हुए और या तो उन्हीं के बीच बस गये अथवा उन्हे उस अगम्य स्थान की ओर ढकेल दिया जहाँ वे आज पाये जाते हैं।

भाषा-परिवार से सम्बद्ध करने मे सफल नही हो सके हैं। ये सभी सयोगात्मक भाषाएँ है जिनमे उपसर्गों, मध्यसर्गों तथा अनुसर्गों का स्वतत्रतापूर्वक प्रयोग होता है, और केवल साधारण विचारो को प्रकट करने के लिए ही इनका व्यवहार किया जाता है। भावात्मक विचारो का प्रकाशन इन भाषाओ की शक्ति से परे है और इनमे अर्थ को प्रकट करने के लिए स्वतत्रतापूर्वक सकेतो का उपयोग किया जाता है।

सत्रहवाँ अध्याय

उपसंहार

आधुनिक भारतीय भाषाएँ

अन्दमान की इन भाषाओ के साथ-साथ भारत की भाषाओ का सर्वेक्षण पूरा हो जाता है। भारत वस्तुत विरोधी तत्वो की भूमि है और भाषाओ के सम्बन्ध मे विचार करते समय तो ये तत्व और भी दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ अनेक ऐसी भाषाएँ हैं जिनके ध्वनि-सम्बन्धी नियमो के कारण इनके शब्दो की सख्या कुछ सौ से अधिक नही है और ये शब्द भी ऐसे ही है जिनके द्वारा केवल गौण एव साधारण विचारो को ही प्रकट किया जा सकता है। दूसरी ओर यहाँ भाषाएँ भी है जिनका शब्द-समूह समृद्ध है तथा जो व्यापकता एव पूर्णरूप से विचारो को प्रकट करने मे अग्रेजी से होड लेती है। यहाँ ऐसी भाषाएँ भी है जिनका प्रत्येक शब्द एकाक्षर होता है किन्तु इनके विपरीत ऐसी भाषाएँ भी है जिनके एक शब्द मे अनेक अक्षर होते हैं और ये सब मिलकर एक पूरे वाक्य की सृष्टि करते हैं। कुछ भाषाएँ यहाँ ऐसी हैं जिनमे से न तो सज्ञा है और न क्रिया और इनका एकमात्र व्याकरणीय रूप पद-विन्यास है, किन्तु कतिपय अन्य भाषाओ मे व्याकरणीय तत्व उतने ही पूर्ण है जितने लैटिन तथा ग्रीक मे। यहाँ कुछ भाषाएँ ऐसी है जिनका इतिहास तीन सहस्र वर्ष पुराना है किन्तु कुछ ऐसी भी है जिनमे ऐतिहासिक परम्परा का सर्वथा अभाव है। यहाँ पूर्वी असम प्रदेश की नागा जातियो की वन्य भाषाएँ है जो कभी लिपिबद्ध नही की गयी, किन्तु यहाँ कतिपय ऐसी भाषाएँ भी हैं जिनमे उच्च साहित्य एव महान् कवि है तथा जिनके काव्य मे ईश्वर-सम्बन्धी भावनाओ को सर्वोत्कृष्ट स्थान मिला है। यहाँ कुछ ऐसी भाषाएँ भी हैं जो यद्यपि दो हजार वर्ष पूर्व की मृत-भाषा के कृत्रिम शब्द-समूहो से बोझिल है तथापि वे प्रत्येक विचार को अभिव्यक्ति करने मे स्वय भी समर्थ हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य ऐसी भी भाषाएँ हैं जो इस प्रकार अन्य भाषाओ से शब्द उधार लेने मे सकोच करती हैं और इनका एक-एक वाक्य परिश्रमी कृषको के घरेलू शब्दो से ओतप्रोत है। भारत मे ऐसे भी

स्थान हैं जहाँ छोटे-छोटे गाँवो मे रहनेवाली जातियो एव विभिन्न वर्ग के लोगो की पृथक्-पृथक् भाषाएँ और बोलियाँ है किन्तु यहाँ ऐसे हजारो मीलो के मैदान भी है जिनके एक छोर से दूसरे छोर तक केवल एक भाषा बोली जाती है।

और इन सब के ऊपर, भारत मे पूर्व का एक रहस्यात्मक इन्द्रजाल दृष्टिगोचर होता है। इसके भीतर हम उस अतीत काल की मर्मर-ध्वनि सुनते है जब आर्यो ने अपने दलो के साथ मेसोपोटामियाँ की नदियो को पार किया था, जब हिन्द-चीनियो ने अपने देश को छोड कर याग-टी-सी-क्याग के लिए प्रस्थान नहीं किया था, जब किसी प्रागैतिहासिक भारतीय वीर ने अपने साथियो के सहित बगाल की खाडी मे होते हुए हिन्देशिया के लिए प्रस्थान किया था और जब, जहाँ हिन्द महासागर की लहरे उमग मे झूम रही है, वहा एक महाद्वीप था।

प्रकाश पूर्व से आता है, किंतु इसमे तथा उस काल्पनिक प्रभात मे जो अभी आनेवाला है पर आया नही है, अन्तर स्पष्ट करने के लिए हमे ज्ञान की निरतर खोज मे अनेक वर्षो तक प्रवृत्त होना पडेगा। अबतक विद्वानो ने भारत की प्राचीन भाषाओ तथा विचारधाराओ का ही अध्ययन किया है और उसी मे आधुनिक भारत का भी रूप देखा है। किन्तु आधुनिक भारत का वास्तविक ज्ञान हमे तब तक नही हो सकता जब तक हम पश्चिमी ज्ञान के प्रकाश मे यहाँ की बत्तीस करोड जनता की आशा, भय तथा विश्वास का अध्ययन न करे। इसके लिए आधुनिक भाषाओ और बोलियो का सूक्ष्म-ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान केवल बोलचाल की भाषाओ का नही होना चाहिए प्रत्युत उन भाषाओ का भी होना चाहिए जिनका केवल अस्तित्व मात्र है अथवा जिनका साहित्य व्यर्थ समझा जाता है। इन सभी भाषाओ एव बोलियो के अध्येता को इनके प्रति अनुराग तथा यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि उसने उनके सम्बन्ध मे जो ज्ञान प्राप्त किया है वह साधारण नही है।

सर्वेक्षण की त्रुटियाँ, अपूर्णता

सर्वेक्षण की न्यूनताओ के प्रति कोई भी व्यक्ति उतना अधिक सचेत नही है जितना कि वह व्यक्ति, जो इस कार्य के प्रति उत्तरदायी है। इसकी प्रथम त्रुटि यह है कि यद्यपि इसे 'भारत का भाषा-सर्वेक्षण' नाम से अभिहित किया गया है, किंतु भारतवर्ष के विस्तीर्ण भूखण्डो की भाषाओ को इसके पृष्ठो मे स्थान नही मिल सका है, तथा हैदराबाद एव मैसूर रियासतो और मद्रास प्रान्त एव बरमा की भाषाओ का वर्णन इसमे बहुत ही सरसरी तौर पर किया गया है। यह सब परिस्थितियो

का परिणाम था, जिसके प्रति मैं उत्तरदायी नही हूँ। इस सम्वन्ध मे खेद प्रकट करने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूँ? जहाँ तक वरमा का सम्बन्ध है, मुझे वडा हर्ष है कि अव इस प्रदेश की भाषाओ का सर्वेक्षण स्वतन्त्र रूप से भारतीय शिक्षाविभाग के मान्य विद्वान् श्री एल० एफ० टेलर के तत्त्ववधान मे होने जा रहा है।

प्रस्तुत सर्वेक्षण मे असम प्रदेश मे वोली जानेवाली वहुत-सी हिंद-चीनी भाषाओ पर पूर्ण ध्यान दिया गया है, किंतु उनके विषय का किसी भी प्रकार का विवरण तव तक पूर्ण नही हो सकता जब तक समीपवर्ती क्षेत्र मे प्रयुक्त इनकी सगोत्रीय भाषाओ का परीक्षण नही हो जाता। 'वरमा के भाषा-सर्वेक्षण' से उस प्रदेश को जो व्यावहारिक लाभ होगा उसके अतिरिक्त एक वात यह भी होगी कि भाषाओ मे दिलचस्पी रखनेवाले वहाँ के लोग भारत की हिंद-चीनी भाषाओ का समग्र रूप से अध्ययन कर सकेंगे। उसका सर्वेक्षण समाप्त हो जाने पर पश्चिमी असम की 'वॉडो' भाषा की तुलना पूर्वी वरमा की 'लोलो' से और शिलाग की 'खासी' की तुलना मर्तवान की खाडी के उस पार ऐमहर्स्ट की 'तलैंग' भाषा से करना सभव हो सकेगा। मुझे इस वात की आशा है कि भविष्य मे किसी समय मद्रास तथा दक्षिण की रियासतो की भाषाओ का भी समान रूप से सर्वेक्षण होगा क्योकि इनका विवरण सर्वेक्षण के इन पृष्ठो में नही आ सका है।

ध्वनिसम्बन्धी अभाव

जिन पाठको को इस सर्वेक्षण के विभिन्न खडो को देखने का अवसर प्राप्त होगा, निस्सदेह उन्हे भी, मेरी ही तरह, यह वात खटकेगी कि इसमे ध्वनिशास्त्र जैसे महत्वपूर्ण विषय की अवहेलना की गयी है। जव सर्वेक्षण का आरम्भ हुआ था तव यह विज्ञान अपनी शैशवावस्था मे था। भारत मे तो इसे लोग जानते ही न थे, और यूरोप मे भी किसी ऐसी सार्वभौम वर्णात्मक प्रणाली का आविष्कार नही हो पाया था, जिसके द्वारा सभी प्रकार की सम्भव ध्वनियाँ लिखी जा सके। आज की परिस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है और अब तो गम्भीरता से भाषा का अध्ययन करनेवाला प्रत्येक छात्र प्राय अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिपरिषद् (इटरनेशनल फोनेटिक एसोसियेशन), द्वारा निर्मित वर्णों से परिचित है। भारतवर्ष मे वोली जानेवाली विभिन्न आधुनिक भाषाओ की आदर्श गवेषणा के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक भाषा के उद्धृत शब्द को इसी अन्तर्राष्ट्रीय लिपि मे लिखा जाय। इसकी सहायता से तब हम यह

ठीक बताने मे समर्थ हो सकेंगे कि प्रत्येक बोली का प्रत्येक शब्द किस प्रकार उच्चरित होता है। किंतु इनका शुद्ध रूप मे प्रयोग केवल प्रशिक्षित ध्वनिशास्त्रियो के ही वश की बात है। जिस समय इस सर्वेक्षण के लिए विभिन्न बोलियो के नमूने तैयार किये जा रहे थे यदि उस समय यह (अन्तर्राष्ट्रीय) लिपि व्यवहार मे भी होती, तो भी इनका प्रयोग खतरनाक था। केवल एक या दो भाषाओ —जैसे बँगला—को छोड़कर किसी भी भारतीय भाषा का आज व्यापक एव सूक्ष्म अध्ययन नही हो सका है, और इसीलिए यह कहना कठिन है कि इन भाषाओ मे वास्तविक ध्वनि का स्वरूप क्या है तथा उसे किस रूप मे लिखना चाहिए। इस सर्वेक्षण की अधिकाश सामग्री या तो उन राजकीय पदाधिकारियो द्वारा प्राप्त की गयी है, जो बोलियो के वास्तविक प्रयोग मे चाहे कितने ही परिचित क्यो न हों, कुशल ध्वनिशास्त्री होने का दावा नही कर सकते, अथवा इसकी सामग्री उन लेखको की कृतियो से सकलित की गयी हैं, जिन्होंने सगृहीत उदाहरणो की ध्वनियो के सम्बन्ध मे कुछ भी नही लिखा है। इन परिस्थितियों मे जहाँ तक विभिन्न ध्वनियो का सबध है उनके लगभग ही शुद्ध होने की आशा करनी चाहिए क्योकि वे शुद्ध भी हो सकती हैं और अशुद्ध भी, और इस दशा मे यहाँ ध्वन्यात्मक लिपि का प्रयोग पाठक के मन मे शुद्धि के सबन्ध मे मिथ्या धारणा उत्पन्न करके उसे सरलतापूर्वक पथभ्रष्ट भी बना सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, सर्वेक्षण मे आदि से अत तक एक ही पद्धति का प्रयोग आवश्यक रूप से करना चाहिए। इस सर्वेक्षण मे सगृहीत सभी नमूने ऐसी लिपि मे लिये गये हैं, जो उस प्रसिद्ध राजकीय पद्धति पर आधारित है जिसका भारतीय शब्दो के लिप्यन्तर के लिए प्रयोग किया जाता है। यह वह पद्धति है जिससे सभी राजकीय पदाधिकारी परिचित हैं, और जिसका ठीक-ठीक प्रयोग करने के लिए उनका विश्वास किया जा सकता है। ध्वनियो को इस रूप मे लिखना, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लगभग शुद्ध है किंतु चूँकि सर्वत्र एक ही पद्धति का अनुसरण किया गया है अतएव यह भविष्य के ध्वनिसंबन्धी सूक्ष्म अध्ययन का आधार हो सकता है।

१. देखो बुलेटिन ऑफ दि स्कूल आफ ओरियण्टल स्टडीज Bulletin of the School of Oriental Studies Vol. II. pp. 1 तथा उसके आगे, प्रो० एस० के० चटर्जी का बेंगाली फोनेटिक्स Bengali Phonetics सम्बन्धी लेख।

ग्रामोफोन रिकार्ड

अत मे इस सर्वेक्षण के पक्ष मे जो कहा जा सकता है, यह है कि यह लिखित शब्दों का प्रतिनिधि है और अत्यधिक शुद्ध एव उत्कृष्ट वैज्ञानिक लेखन-पद्धति के द्वारा सर्वसाधारण पाठक के लिए इसे और उत्तम नही बनाया जा सकता। जव तक इस विषय को छदो मे न बाँधा जाय, अक्षर-विन्यास की कोई भी ऐसी पद्धति नही प्रस्तुत की जा सकती जो पाठको के प्रति उच्चारण के उन सूक्ष्म भावो को व्यक्त कर सके जो प्रत्येक शब्द को जीवन प्रदान करते हैं तथा वाक्य मे अन्य शब्दो के साथ इनका सबध स्थापित करते है। एक ही व्यक्ति पाँच मिनट मे एक शब्द का उच्चारण तनिक विभिन्न ढग से दस वार कर सकता है और प्रत्येक वार उच्चारण की भिन्नता के कारण अर्थ मे परिवर्तन आ सकता है, किंतु जहाँ तक अक्षर-विन्यास के द्वारा इन भावो को व्यक्त करने का प्रश्न है, ये समान वर्णों के द्वारा ही व्यक्त हो जायँगे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वाक्य का लिखित शब्द किसी अक्षर-विशेष पर, या साधारण आरोह-अवरोह, पर, या गति पर किसी प्रकार के वल देने के भाव को व्यक्त नही करता, यद्यपि इसकी शैली प्रत्येक भाषा मे भिन्न होती है। मैं ऊपर इस वात का सकेत कर चुका हूँ कि किस प्रकार वक्ता के विचारो का क्रम एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र मे भिन्न होता जाता है, और किस प्रकार उसके द्वारा किसी वाक्य मे प्रयुक्त शब्द उस भाषा को प्रभावित करता है। किंतु वक्ता के विचारक्रम का प्रभाव केवल इतना ही नही है। प्रत्येक वाक्य के आरोह-अवरोह अथवा गति पर भी इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसे स्पष्ट करने के लिए अग्रेजी का उदाहरण लिया जा सकता है। इसके वाक्य का नैसर्गिक आरोह-अवरोह किसी भी भारतीय भाषा से व्यापक रूप मे भिन्न है। पारस्परिक अवबोध के लिए किसी भी वाक्य का उपयुक्त आरोह-अवरोह के साथ उच्चारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका एक अच्छा उदाहरण किसी अग्रेज द्वारा बँगला बोलने का है। यह बहुत सम्भव है कि भारत मे आकर वह शुद्ध तथा ठीक उच्चारण के साथ बँगला बोलने लगे, इतने पर भी जब वह किसी ग्रामीण से सरलतम वाक्य भी बोलेगा तो उसे यही उत्तर मिलेगा; 'साहब, मैं अग्रेजी नही समझता'। वह व्यक्ति इस प्रकार का भाव औद्धत्य अथवा बुद्धिहीनता के कारण प्रकट नही करता। यदि वह यह समझता कि उससे बँगला मे कुछ कहा गया है तो वह प्रत्येक उच्चरित शब्द का भाव समझ जाता। किंतु न्यूनाधिक रूप मे वह एक विदेशी के गौर मुखमडल को देखकर ही घबरा जाता है और उसकी मन्दबुद्धि जो कुछ भी सोच पाती है यही है कि उसे

एक अपरिचित भाषा मे सम्बोधित किया जा रहा है, न कि उसी की अपनी भाषा मे। अपने प्रश्नकर्ता के शब्दो को पृथक् रूप से पहचानने का प्रयत्न किये विना वह उस गौर मुखमडल के साथ उसकी विचित्र वाक्य-ध्वनि को सयुक्त करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसे अग्रेजी मे सबोधित किया जा रहा है।

भाषा के प्रतिनिधि के रूप मे लिखित-शब्द की इस विशिष्ट त्रुटि को ग्रामोफोन अथवा फोनोग्राफ के द्वारा दूर किया जाता है। इनमे से किसी भी एक के द्वारा यदि किसी शब्द अथवा वर्ग-विशेष का उच्चारण स्पष्ट नही है, तो भी उसके प्रत्येक वाक्य के आघात तथा लय को सदैव पूर्ण कौशल के साथ व्यक्त किया जाता है। इसके लिए—सर्वेक्षण के पूरक के रूप मे—बहुत सी प्रान्तीय सरकारो तथा कुछ भारतीय रियासतो से उनके अधिकार मे बोली जानेवाली प्रमुख भाषाओ के उद्धरणो के ग्रामोफोन रिकार्ड तैयार कराने का प्रबन्ध किया गया है। इस ग्रथ के लिखने के समय (अप्रैल १९२४) तक ये रिकार्ड निम्नलिखित सरकारो से प्राप्त हुए है—बिहार तथा उडीसा, बरमा, मध्य-प्रान्त, (अब मध्यप्रदेश) दिल्ली, मद्रास और सयुक्तप्रान्त आगरा व अवध (अब उत्तर प्रदेश)। अन्य स्थानो की भाषाओ के या तो इस प्रकार के रिकार्ड तैयार कराये जा रहे है अथवा वहाँ के अधिकारियो ने ऐसा कराने का वादा किया है। अब तक ९७ भाषाओ तथा बोलियो का प्रतिनिधित्व करनेवाले कुल २१८ रिकार्ड तैयार किये जा चुके है[1], तथा इन्हे विद्यार्थियो के अध्ययन के लिए निम्नलिखित स्थानो मे रख दिया गया है—इडिया आफिस का पुस्तकालय, ब्रिटिश म्यूजियम, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, स्कूल ऑव ओरिएण्टल स्टडीज, आक्सफोर्ड का बोडल्यिन पुस्तकालय, कैम्ब्रिज, डबलिन तथा एडिनबर्ग के विश्व-विद्यालयो के पुस्तकालय तथा पेरिस (फ्रास) के इस्टिट्यूट मे।

लन्दन मे इन रिकार्डो का एकाधिक बार सार्वजनिक प्रदर्शन भी किया जा चुका है, और इन्होने भारतीय भाषाओ के गभीर अध्ययन मे प्रवृत्त लोगो का ध्यान भी बहुत अधिक आकर्षित किया है। किन्तु इनकी उपयोगिता यही तक सीमित नही है। सुचारु रूप से तैयार किये हुए ग्रामोफोन रिकार्ड किसी भी भाषा के अध्यापन मे अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं। कोई भी ग्रामोफोन किसी छोटे या बडे उद्धरण को, बिना किसी कठिनाई के, पूर्णतया शुद्ध रूप मे अनेक बार दुहरा सकता है,

१. इन रेकार्डों की पूरी सूची परिशिष्ट २ में मिलेगी।

किन्तु एक मानव अध्यापक तो अन्तत सजीव प्राणी है, और उसके धैर्य की ही भाँति उसका गला भी शीघ्र ही शिथिलता का अनुभव करने लगता है। भाषा-सर्वेक्षण द्वारा तैयार कराये गये ये रिकार्ड इतने उपयोगी सिद्ध हुए हैं कि इनमे से कुछ तो भारतीय सिविल सर्विस के चुने हुए परीक्षार्थियो के भाषा-सम्बन्धी पाठ्यक्रम मे निर्धारित किये गये है ।

व्यक्तिवाचक नामो का अक्षरविन्यास

इस सर्वेक्षण मे आदि से लेकर अत तक, एक समुदाय के अपवाद के अतिरिक्त, सभी भारतीय शब्दो का अक्षर-विन्यास उपर्युक्त पद्धति के अनुसार किया गया है। इन अपवादो का सम्बन्ध भी केवल व्यक्तिवाचक नामो से है। जहाँ किसी व्यक्ति का नाम मुझे उल्लेख करना पडा है, और वह लिखित रूप मे केवल मात्र किसी भारतीय लिपि मे मिला है, वहाँ मैंने किसी भी अन्य भाषा के शब्द की भाँति उसका भी रोमन मे लिप्यन्तर किया है। किन्तु यदि वह व्यक्ति आज भी जीवित है और स्वय अपने नाम को अग्रेजी शैली मे लिखता है, तो मैने भी उसके द्वारा प्रयुक्त अक्षर-विन्यास को ही इस सिद्धान्त के आधार पर ग्रहण किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने नाम के अक्षर-विन्यास को निश्चित करने का स्वय अधिकार है। इस प्रकार यदि कोई महाशय अग्रेजी शैली मे, रोमन मे, अपना नाम बोन्नर्जी (Bonnerjee) लिखते हैं तो मैंने भी उनका नाम इसी रूप मे लिखा है चाहे भारतीय लिपि मे वे 'वन्द्योपाध्याय' ही क्यो न लिखते हो। इसी प्रकार यदि कोई सज्जन अपना हस्ताक्षर 'जीजी भॉय' (Geejee bhoy) रूप मे करते है, तो मैंने उन्हे 'जीजीभाई' रूप मे लिखना उचित नही समझा।

स्थानवाचक नाम

स्थानवाची नामो के लिखने का प्रश्न और भी जटिल है। भाषा-सर्वेक्षण मे सैकडो नगरो तथा ग्रामो के नाम आये हैं। उनका ठीक-ठीक अक्षर-विन्यास या तो अनिश्चित है, अथवा उन्हे परम्परा से एक रूप मे लिखा जा रहा है। मैं समझता हूँ कि जहाँ तक परम्परा से सम्बन्ध है, इसका किसी प्रकार प्रतिवाद नही होना चाहिए। यहाँ तक कि नितान्त वैज्ञानिक ग्रन्थो मे भी कोई भी व्यक्ति 'कलकत्ता' (Calcutta) को 'कलिकाता' (Kalı-kata) तथा 'कानपुर' (Cawnpur) को 'कान्हपुर' (Kanhpur) लिखने की स्वप्न मे भी कल्पना नही करेगा।

किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नही है कि उन अप्रसिद्ध स्थानो के नामो को किस रूप मे लिखा जाय जिनका अक्षर-विन्यास अनिश्चित है। इस सम्बन्ध मे सवसे वडी कठिनाई ध्वनि-चिह्नो के विषय मे है। भारत के अधिकांश भागो मे प्रयोग के अनुसार ही शुद्धरूप मे नामो के लिखने की परम्परा नही है। उदाहरणार्थ, लोग रोमन मे [Garhwál] 'गढवाल' न लिखकर 'गर्हवाल' [Garhwal] तथा 'शाहावाद' [Shãhâbâb] के स्थान पर 'शहबद' (Shahabad) लिखा करते हैं। अन्य भागो, जैसे बम्बई मे, राजकीय प्रकाशनो मे ध्वनि-सम्बन्धी चिह्नो का अधिक प्रयोग होता है। अन्यत्र जैसे मद्रास प्रान्त मे, इस सम्बन्ध मे, दूसरे तथा स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रचलित हैं। यह सत्य है कि इम्पीरियल गजेटियर मे भारतीय स्थानो के नामो के अक्षर-विन्यास अधिक शुद्धता से दिये गये हैं, किन्तु १९०८ ई० तक, जब कि भाषा-सर्वेक्षण का अधिकाश भाग पूर्णतया छप चुका था, उक्त गजेटियर प्रकाशित नही हुआ था। इस प्रकार कुछ स्थानो के नामो को ध्वनि चिह्नो के सहित तथा दूसरो को उनसे रहित रूप मे देना उचित नही था। अतएव कतिपय अपवादो के अतिरिक्त स्थानवाचक नामो के सम्बन्ध मे मैंने उत्तर भारत के अधिकाश भागो मे प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया है तथा ध्वनि-चिह्नो का प्रयोग पूर्णतया छोड दिया है।

निष्कर्षो की यथार्थता

यह कहना आवश्यक नही है कि भाषा-सर्वेक्षण का समस्त मूल्य इसकी शुद्धता पर निर्भर है। यहाँ यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या रिकार्ड किये गये नमूने वास्तव मे उन भाषाओ के रूपो का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके वे उदाहरण हैं। इसके प्रत्युतर मे मैं यही कहूँगा कि मेरा विश्वास है कि वे सम्पूर्ण रूप से ऐसा अवश्य करते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए असाधारण उपायो का आलम्बन किया गया है तथा सदेहप्रद स्थलो की स्पष्टता के लिए पूर्ण प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध मे मुझे अत्यधिक पत्र-व्यवहार करना पडा है और कभी-कभी आशा से अधिक सफलता भी मिली है। यह वात मैं स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ कि यत्रतत्र कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं तथा भाषासम्बन्धी कुछ नमूने अन्यो की अपेक्षा कम महत्व के हैं। समान रूप से सभी नमूने श्रेष्ठ हो, यह आदर्श की वात अवश्य हो सकती है किन्तु इसकी प्राप्ति कठिन है, फिर भी यदि हम उन स्रोतो पर विचार करें जहाँसे ये अनुवाद प्राप्त हुए हैं, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक दशा मे इनके शुद्ध होने की ही अधिक सम्भा-

वना है। इस सर्वेक्षण के वहुसख्यक भाषा-सम्वन्धी नमूने या तो उन भारतीयो द्वारा तैयार किये गये हैं जो स्वय उन भाषाओ के बोलनेवाले हैं अथवा ये उन मिशनरियों द्वारा तैयार किये गये हैं जो प्रत्येक क्षण इनके वोलनेवाले अशिक्षित लोगो के निकट सम्पर्क मे रहते हैं। पुनश्च अन्य नमूने मेरे ही पद के कर्मचारियो द्वारा तैयार किये गये हैं। इनमे मेरे वे खास मित्र भी शामिल हैं जिनकी वौद्धिक श्रेष्ठता के सम्वन्ध मे मुझे पूर्ण विश्वास है, तथा जिन्होने वन्य-जातियो की ऐसी भाषाओ मे भी विशेषज्ञता प्राप्त की है जो बिलकुल ही लिखी पढी नही जाती। निश्चय ही इसके अपवाद भी थे। विशेष रूप से नमूने भेजनेवालो मे कतिपय ऐसे भी भारतीय थे जो भाषा की एकरूपता एव शुद्धि के पक्षपाती थे। कुछ लेखक ऐसे भी थे जिन्हे निरक्षर तथा गँवार किसानो की भाषा को लिपिबद्ध करने मे भी कष्ट का अनुभव हुआ था। उन्होने इन नमूनो मे काफी काँट-छाँट की, इनसे गँवारूपन को वहिष्कृत किया तथा इन्हे सुन्दर रूप प्रदान करने का प्रयास किया। कतिपय लोगो ने तो सुने हुए सभी ग्रामीण वर्वर शव्दो को लिखना भी अस्वीकार कर दिया और वाइबिल की "उड़ाऊ-पूत" की कथा को या तो विशुद्ध फारसी-गर्भित उर्दू अथवा सस्कृत-गर्भित वँगला मे लिख भेजा। कुछ लोगो ने नमूनो की तो मेरे पास भेजने के पूर्व, नियमानुसार काफी जाँच पडताल की गयी। उनकी भूलें पकडी गयी और उन्हे ठीक कर लिया गया। मेरे लिए त्रुटियो से वचने की सवसे वडी वात यह थी कि भाषा-सम्वन्धी इन नमूनो की सख्या वहुत अधिक थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन नमूनो की सख्या कई हजार थी; तथा अधिकांश भाषाओ मे चुनाव के लिए काफी गुजायश थी। कोई भी व्यक्ति इन सवको न तो पढ ही सकता था और न अध्ययन ही कर सकता था। इनमे से प्रत्येक की मैंने सावधानी से जाँच पडताल की। मैं इनके मूल्याकन का पूरा अनुभव न प्राप्त कर सका और न यही जान पाया कि इनमे से कौन वास्तविक था और कौन नही। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरा यह परीक्षण सर्वथा आत्मिक था किन्तु मुझे विश्वास है कि इनमे से किसे प्रकाशित करना है किसे नही, इस सम्वन्व मे, मैंने विवेक से काम लिया। सबसे वडी बात यह थी कि मेरे सूचको (Informants) ने जो सामग्री भेजी थी उसे विना जाँच किये हुए लेने के लिए मुझे वाध्य नही होना पडा और अधिकाशत उसमे से मैंने चुनकर ही सामग्री ली। जिन भाषाओ से मैं स्वय परिचित था तथा जिन वोलियो को मैंने शीतकाल की रात्रि मे अलाव के पास बैठकर वृद्धो तथा ग्रामीण चारणो से सुनकर ग्रहण किया था, उनके सम्वन्ध मे स्वाभाविक रूप से, मैं विशिष्ट तथा अनुकूल परिस्थिति मे था। इस प्रकार से प्राप्त

अनुभव भाषा सम्बन्धी उस सामग्री के मूल्याकन मे अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ जिसे मैंने या तो पुस्तको से प्राप्त किया था अथवा जिसका मुझे बिलकुल ज्ञान न था। अतएव इस सर्वेक्षण के पृष्ठो मे, भारत के अधिकाश भागो की भाषाओ का सम्पूर्ण रूप से वास्तविक चित्र उपस्थित करने मे, मैं आत्मविश्वास का अनुभव करता हूँ। यहाँ यह निवेदन करना ही अनावश्यक है कि इसके सम्बन्ध मे मैं आलोचना एवं सशोधनो का स्वागत करूँगा। इस सम्बन्ध मे सर टामस ब्राउन के निम्नलिखित शब्द द्रष्टव्य हैं[1]—

"केवल अपने विचारो के तराजू पर ही अपने को न तौलो अपितु अपने सम्बन्ध मे विचारवान् व्यक्तियो के विचार को ही अपनी योग्यता का मानदण्ड मानो। जो लोग सो रहे हो उन्हे न जगाना, उन्हे आनन्द से सोने देना तथा उनके सतोष को धक्का देते हुए उनके प्रति विरोध न प्रकट करना केवल शिष्टाचारमात्र है।"

उपसंहार

जो भी हो, मैं सर्वेक्षण के इन खण्डो को भारत को समर्पित करता हूँ। भारत अनेक वर्षो तक मेरा वासस्थान रहा है और इसने स्वय मेरे हृदय मे गत आधी शताब्दी से अपना घर बना लिया है। मेरे लिए वह दिन चिरस्मरणीय रहेगा, जब सन् १८६८ मे मेरे आदरणीय गुरु प्रोफेसर राबर्ट एट्किन्सन ने सस्कृत वर्णमाला से मुझे परिचित कराया, और इस कारण शीघ्र ही डबलिन-स्थित ट्रिनिटी कालेज का उनका कमरा मेरे लिए अति परिचित हो गया। पाँच वर्ष बाद, भारत के लिए रवाना होने के पूर्व जब उत्साह से पूर्ण मैं उनसे विदा लेने गया तो उन्होंने इस कार्य का भार मुझे सौंपा और यौवन के उमग मे मैंने इसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार भी कर लिया। अपने सक्रिय जीवन मे जिन व्यक्तियो के साथ मुझे कार्य करने का अवसर मिला, मैंने प्रेमपूर्वक किया, किन्तु गुरु का आदेश सदैव मेरे मस्तिष्क मे वर्तमान रहा और प्रशासकीय कार्यों से बचा हुआ समय यह कार्य सम्पन्न करने मे लगाने के लिए प्रेरणा देता रहा। बीस वर्ष के बाद यह अवसर आया और इस सर्वेक्षण का गौरव मुझे प्राप्त हुआ। व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए इन ग्रथो की तैयारी के दिन अलाभकर न थे। इस बीच मुझे तीन सहस्र वर्षो के पीढी-दर-पीढी के महान् विचारको के विचारो से गुम्फित

१. क्रिश्चियन मारल (Christian morals,) II, 8।

भव्य साहित्य के दर्शन का सुअवसर मिला। मैं काव्य की उस मनोहर वाटिका मे विहार करने मे समर्थ हो सका जिसका आरम्भ वेद की प्रसन्नमना चिन्तामुक्त ऋचाओ से होता है तथा जिसकी धारा महाकाव्यो, कालिदास के शीर्षस्थानीय मोहक नाटको, सुधारकाल के सतो की वाणियो, तुलसी के आत्मनिवेदक पदो एव बिहारीलाल की अलकृत रचना से प्रवाहित होती हैं। सत्यरूपी फल को मैंने अनेक ज्ञान-वृक्षो से प्राप्त किया है। इसके दाताओ मे यदि एक ओर वे ज्ञानी, अद्वैतवादी एव सूक्ष्म-दर्शी पडित थे जो अपने विचारो को स्फटिक की भाँति स्वच्छ रूप मे स्पष्ट करने वाले थे, तो दूसरी ओर वे भोले किन्तु रूढिग्रस्त कृषक थे जो अपनी ग्रामीण भाषा मे किसी वृक्ष के नीचे गुनगुनाने मे व्यस्त थे। किन्तु उनका सृष्टिकर्त्ता भगवान् के प्रति इतना दृढ विश्वास था कि उनके समक्ष एक धार्मिक ईसाई को भी लज्जित होना पड़ेगा। धार्मिक भावनाओ मे मैंने छिपे हुए धर्म को देखा है। पौराणिक गाथाओ मे मैंने इतिहास का दर्शन किया है और निरक्षर ग्रामीणो की कहावतो मे मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है। यही, और यही भारत ने मेरी सहायता की है। लेकिन मैं भारतवर्ष की सहायता कैसे करूँ ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर, भारत मे सम्राट् की नौकरी मे आनेवाले हममे से प्रत्येक पश्चिमीय व्यक्ति ने अपने अनुसार भरसक देने का प्रयत्न किया है। हममे से अनेक व्यक्ति अच्छे शासक, अच्छे योद्धा, महान् विद्वान्, अच्छे अध्यापक तथा चिकित्सा के निपुण आचार्य रहे है। हमने भारत को जो प्रतिदान दिया वे विभिन्न प्रकार के रहे हैं किन्तु उनमे कर्तव्य निष्ठा एव उन लक्ष-लक्ष व्यक्तियो के प्रति प्रेम एव सहानुभूति की भावना रही है जिनके साथ भाग्यवश हमे कार्य करने का अवसर मिला है। इस प्रश्न का उत्तर देने मे मेरा भाग बहुत ही थोडा रहा है, किन्तु यदि इस सर्वेक्षण ने भारत को पश्चिम के निकट लाने मे कुछ भी सहायता की तो मैं यह समझूँगा कि मेरा प्रयत्न सर्वथा व्यर्थ नही गया।

कृतज्ञता-प्रकाश

जिन व्यक्तियो ने इस कार्य मे मुझे सहायता प्रदान की है, यदि मैं उनमे से प्रत्येक को धन्यवाद देने लगूँ तो इसके लिए सर्वेक्षण का एक और खण्ड बनाना पड़ेगा। सरकारी सेवा के अनेक कर्मचारियो, उदार मिशनरियो तथा उन अन्य लोगो का मैं अत्यधिक ऋणी हूँ जिन्होने विविध भाषाओ के नमूने प्राप्त करने तथा मेरी कठिनाइयो को हल करने मे कोई प्रयत्न नही उठा रखा है। प्रत्येक दशा मे उनके नामो को उनके द्वारा प्रदत्त नमूने के ऊपर अंकित कर दिया गया है। यदि मैं यहाँ इन सब

का एक साथ ही उल्लेख कर रहा हूँ और प्रत्येक का अलग-अलग नाम नही दे रहा हूँ तो वे यह न समझें कि इनके ऋण के भार को हलका करने के लिए मैं ऐसा कर रहा हूँ। फिर भी अपवादस्वरूप एक व्यक्ति का नाम मुझे यहाँ देना है और वह व्यक्ति रेवरेण्ड मैकलिस्टर हैं। महाराजाधिराज जयपुर नरेश की प्रेरणा से उन्होंने इस राज्य मे बोली जानेवाली बोलियो का सर्वेक्षण किया था। जिस पुस्तक में उनकी खोजो के निष्कर्षो को स्थान मिला है वह वास्तव मे लोक साहित्य का भंडार है[1] तथा जो लोग राजपूताने की भाषाओ तथा बोलियो से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए इस पुस्तक का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। अपने निकट सम्पर्क के व्यक्तियो मे सर्वप्रथम मैं रायबहादुर श्री गौरीकान्त के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जब तक मैं भारत मे रहा तब तक और वहाँ से यहाँ चले आने के कुछ वर्षों बाद तक वे मेरे मुख्य सहायक के रूप मे कार्य करते रहे। इस सर्वेक्षण के आरम्भिक दिनो मे भाषा-सम्बन्धी जो हजारों नमूने प्राप्त हुए थे उनके सकलन, वर्गीकरण तथा प्रतिलिपि आदि का समस्त भार उन्ही के ऊपर था। कार्यालय मे विभिन्न जातियो एव योग्यता के लेखक थे किन्तु वास्तव मे कुशलता के साथ उनका निरीक्षण श्री राय ही करते थे और उसी का यह परिणाम था कि इस सर्वेक्षण का प्रारम्भिक कार्य निरन्तर एक रूप से अग्रसर होता हुआ सम्पन्न हो सका। श्री राय ने भारत सरकार के तत्त्वावधान मे बहुत दिनो तक महत्वपूर्ण सेवाकार्य किया और अत मे सन् १९२१ मे ये इससे मुक्त हुए। इस समय पजाब के दगे की जाँच के सम्बन्ध मे जो सरकारी कमेटी बनी थी उसके वे मुख्य निरीक्षक थे। अपने मित्र तथा सहयोगी प्रो० स्टेनकोनो[2] के प्रति पर्याप्त रूप से कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरे लिए बहुत ही कठिन है। प्राय तीन वर्षों (१९०० से १९०२) तक उन्होंने मेरे साथ, मेरी बगल मे बैठकर, एक ही कमरे मे काम किया है। इस सर्वेक्षण के कई खण्डो के अनेक पृष्ठो पर जो उस समय लिखे गये थे, उनकी मौन किन्तु प्रेरणात्मक सहायता की पूरी छाप

१. रेवरेन्ड जी० मेकलिस्टर एम० ए० (Rev. G. Maclister, M A. Allahabad Mission Press) सन् १८९८ कृत "जैपुर राज्य में बोली जाने वाली बोलियो का नमूना" Specimens of the dialects spoken in the State of Jeypore लेख देखें।

२. अब ओसलो (Kristiana) यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं।

है। अपनी जन्मभूमि क्रिश्चियाना मे लौट जाने के पश्चात् भी वे अपने स्पष्ट ज्ञान तथा गभीर पाडित्य से निरन्तर मेरी सहायता करते रहे है, जैसा कि विभिन्न भूमिकाओ मे स्पष्ट किया जा चुका है। सर्वेक्षण का अधिकाश भाग उन्ही की लेखनी द्वारा लिखा गया है और इन अशो का सम्पूर्ण श्रेय उनको नही दिया गया तो मुझे दुख होगा।[1]

१९०३ मे, जब प्रो० कोनो नार्वे लौट गये तब ई० एच० हॉल मेरे सहायक हुए। उनकी निरन्तर सावधानी के प्रति मैं धन्यवाद के दो शब्द लिखने के लोभ का सवरण नही कर सकता। ईरान तथा श्याम के बीच व्यवहृत होनेवाली प्रत्येक प्राच्य लिपि से परिचित होने के कारण वह एक अत्यधिक कुशल प्रूफरीडर हैं और उनकी दृष्टि से मुद्रण की शायद ही कोई अशुद्धि छूट पायी हो। सर्वेक्षण के विभिन्न खण्डो के प्राय सभी मूल मानचित्र उन्ही की लेखनी से अकित हुए है। उनके तथा भारत-सरकार के प्रेस की सतर्कता से मुद्रण के कारण ही यह सर्वेक्षण अनेक अशुद्धियो से मुक्त रह सका है। अत मे मैं ब्रिटिश तथा विदेशी (फॉरेन) बाइबिल सोसायटी के मित्रो एव सहयोगियो के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। इनमे भी इसके सपादक मत्री डा० किलोर (Kilgour) तथा इसके साहित्यिक निरीक्षक श्री डारलो (Darlow) का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। भारतीय भाषाओ के इतिहास के अनुसन्धान-सम्बन्धी मेरे प्रश्नो के उत्तर मे उन्होंने निरन्तर जो सहानुभूति एव व्यावहारिक सहायता प्रदान की है वह सचमुच बेजोड है। इस साहित्य का एक महत्वपूर्ण अश तो बाइबिल का अनुवाद ही है और अनेक अपरिचित एव अज्ञात भाषाओ की प्रकाशित साहित्यिक सामग्री के रूप मे तो केवल यही उपलब्ध भी है। यह सभी सामग्री नितान्त उदारतापूर्वक मुझे प्राप्त हुई है और जो यूरोप मे उपलब्ध न थी, उसे मेरे लिए भारत से मँगाया गया। सोसायटी के पुस्तकालय मे सुरक्षित तथा श्री डारलो एव श्रीमुले (Moule) द्वारा निर्मित, विद्वत्ता एव पूर्णता के स्मारकस्वरूप बाइबिल के प्रकाशित सस्करणो की ऐतिहासिक अनक्रमणिका

१. उनके द्वारा प्रदत्त सामग्री इस प्रकार है—खण्ड ३, भाग १, २ (कुछ भाग) और ३ (तिब्बती-बर्मी भाषाएँ) खण्ड ४ (द्रविड़ एवं मुण्डा भाषाएँ) खण्ड ७ (मराठी) खण्ड ७ के भाग ३ का अधिकांश भाग भील भाषाएँ तथा खण्ड जिप्सी भाषाएँ।

वस्तुत सूक्ष्म सूचनाओं का अक्षय स्रोत थी। इसका अधिकांश सर्वेक्षण के परिशिष्टांक मे समाविष्ट कर दिया गया है। इस सम्बन्ध मे कृतज्ञता प्रकाशन के रूप मे, इस ग्रन्थ के अन्त मे, निम्नलिखित प्रार्थना के शब्दों को उद्धृत करना ही श्रेयस्कर होगा।[1]

मेरे कृपालु पाठक, यदि आप को मेरी इस कृति से कुछ भी लाभ हुआ हो तो इसे, आप भगवान् को ही समर्पित करें, क्योंकि वास्तव मे, शाश्वततया वे वही यश का भागी है।

१. लइडेन Leyden १६२७।